दशलक्षण धर्म
एक
अनुचिन्तन

लेखक

पं. रमेशचन्द्र बाँझल

शास्त्री, धर्मालङ्कार, साहित्यरत्न

पूर्व प्राचार्य, सर हुकमचन्द संस्कृत महाविद्यालय

जँवरीबाग, नसिया, इन्दौर

कृति	:	**दशलक्षण धर्म : एक अनुचिन्तन**
आशीर्वाद	:	**श्री १०८ श्रमणाचार्य विशुद्धसागर मुनिराज**
लेखक	:	**पं. रमेशचन्द्र बाँझल** छत्रपति नगर, इंदौर, चलभाष : ९०९८५८०९२९
सम्पादन	:	**प्रो. शान्तिलाल बड़जात्या** इंदौर, चलभाष : ९४०७००६६१६
प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थल	:	**स्वाध्याय मण्डल, रामाशाह मन्दिर** नेमिनाथ चौक, मल्हारगंज, इन्दौर
प्रथम संस्करण	:	**भाद्रपद शुक्ल पंचमी, संवत् २०८०, सन् २०२३**
प्रसार संख्या	:	**११००**
मूल्य	:	**स्वाध्याय**
प्राप्ति स्थान	:	**(१) योगेन्द्र काला, इंदौर** (चलभाष : ९८९३०४१००४) **(२) कमल पाटोदी, इंदौर** (चलभाष : ९४०७०२९७९०)
मुद्रक	:	**जैन राजेश कानूगो** डिसेन्ट ग्राफिक्स, सुभाष चौक कार पार्किंग, इन्दौर (चलभाष : ९८२६०१४०४७)

शुभाशीष

सम्पूर्ण लोक में तत्त्वज्ञान का सागर श्री जिनधर्म है। इस महार्णव में वस्तु के वस्तुत्व का सत्यार्थ–बोध कराने वाले अनन्त प्रमेय हैं, जो कि सकल–विकल प्रत्यक्ष–परोक्ष प्रमाण के विषय हैं।

भगवान् श्री जिन तीर्थंकर परमात्मा ने सर्व द्रव्य–गुण–पर्यायात्मक वस्तु के वस्तुत्व को जाना है व्यवहार से, प्रभु के ज्ञान में झलका है सहज–स्वच्छत्व गुण के नियोग से, ईहाशून्य परम–विद्या चार अनुयोगमयी वर्णित की गणधर परमेष्ठी तथा आचार्यों ने। ऐसी पावन श्रुत–सरिता प्रवाहमान होते हुए सम्प्रति आचार्य, मुनिगणों एवं विद्वानों की प्रज्ञा का आभूषण बनी है।

इसी पवित्र दीर्घा में मनीषी तत्त्वज्ञानगुण युक्त, सरल, सहज स्वभावी, विद्वत्–वरेण्य पंडित श्री रमेशचन्द्रजी बाँझलजी ने अपनी निर्मल तत्त्वज्ञान लब्धि से अनेक महान् कृतियों का सृजन किया है। इसी परम्परा में आत्मधर्म–प्ररूपक **'दस लक्षण धर्म एक अनुचिन्तन'** नामक कृति का सृजन कर, श्रीजिन वागीश्वरी के कोष को वर्धमान किया है, जो कि व्यवहार एवं परमार्थ नय मिश्रित दुग्ध–मिश्री के सम्मेलन का मधुर स्वाद प्रदान करने वाली भव्यों के लिए देशना लब्धि का कार्य करेगी।

पंडित श्री रमेशचन्द्रजी इसी प्रकार श्रुतामृत का पान करते हुए ''श्री जिनशासन नमोऽस्तु शासन'' का उद्योतन, पर्याय के अन्तिम निषेकों तक करते रहें, यही शुभाशीष...।

इति शुभम् भूयात् ॐ नमः सिद्धेभ्यः

पावन वर्षायोग
सन्मतिनगर (फाफाडीह) रायपुर (छ.ग.)
भारत
२२.१०.२०२२

● श्री १०८ आचार्य विशुद्धसागर मुनि

शुभाशीष

उत्तम छिमा मार्दव आर्जव भाव हैं,
सत्य शौच संयम तप त्याग उपाव हैं।
आकिंचन ब्रह्मचर्य धरम दश सार हैं,
चहुँगति–दुखते काढ़ि मुक्ति करतार हैं।।

जैन धर्म में पर्युषण पर्व का बहुत महत्त्व है। सम्पूर्ण समाज बड़े उत्साह, पूजा, भक्ति के साथ मनाती है; साधु–संत, विद्वान अलग–अलग धर्मों पर व्याख्यान करते हैं। दशलक्षण पर्व अपनी आत्मा को शिखर पर, जहाँ सिद्ध परमेष्ठी विद्यमान हैं, वहीं की यात्रा कराने वाले सूत्र हैं, नादान को भगवान् बनाने के लिए अचूक बाण हैं।

इन्दौर शहर के तत्त्व मनीषी, सहज स्वभावी व्यक्तित्व के धनी जिन्होंने कई महान् कृतियों का सृजन करके समाज का उपकार किया है, ऐसे उच्च श्रेणी के विद्वान् श्री रमेशचन्द्र बाँझल ने धर्म की परिभाषाएँ, दशधर्मों को आगम, अध्यात्म से सजाकर आत्मधर्म देशना (दशलक्षण धर्म : एक अनुचिन्तन) नामक कृति का सृजन कर एवं कषाय क्यों आती है, इसके निरसन के उपाय पर प्रकाश डाला है। अत: सभी के लिए यह कृति उपयोगी बन जाएगी। यह कृति सभी की अज्ञानता को हरकर दश धर्म को नए रूप में पढ़ने, समझने का अवसर प्रदान करेगी।

पंडितजी! आपके द्वारा समाज को इसी तरह ज्ञानामृत मिलता रहे। आपकी कृति के लिए मंगल आशीर्वाद। आप चिरायु रहें। आपको शुभाशीष।

ज्ञानंमृतं भोजनम्।

● श्रमणाचार्य विहर्षसागर
(श्री १०८ आचार्य विहर्षसागर मुनि)

५ अगस्त, २०२३
चातुर्मास स्थल : मोदीजी की नसिया
मल्हारगंज, इन्दौर

।। श्री वीतरागाय नमो नमः ।।

श्री दशलक्षण धर्म : एक अनुचिन्तन

१. दशधर्म चारित्र गुण की निर्मल पर्याय है।

२. क्रोधादि विकारों के अभाव से प्रकट होते हैं।

३. आ. पण्डितजी सा. ने अपने विशेष क्षायोपशमिक ज्ञान के द्वारा सुन्दर, सरस, उत्तम वर्णन किया है।

४. हर एक धर्म का १५ व बीस प्रकार से वर्णन किया है तथाधर्म की महिमा व फल का भी उत्तम वर्णन है।

५. क्षमादि धर्म के बाधक क्रोधादिक विकारों की उत्पत्ति का दिग्दर्शन अच्छा किया है।

६. नय विवक्षा का ध्यान रखना भी परमावश्यक है।

७. यद्यपि धर्मों का वर्णन अनेकानेक भव्यात्माओं ने भी किया है, परन्तु भावनाओं में अन्तर दिखाई देता है।

८. उत्तम क्षमादि धर्मों का क्रम मुझे खेती के दृष्टान्त से सरल लगता है।
जैसे क्षमा नाम पृथ्वी का भी है। अत: सर्वप्रथम क्षमाधर्म का वर्णन किया। तदनन्तर कोमल भूमि का होना मार्दव, सरल भूमि का होना आर्जव का, सत्य का बीज, शौच का जल, संयम की बाड़, तप की उष्णता, अनुपयोगी घास का त्याग (अलग करना) सिर्फ आकिञ्चन अकेले पौधे का रहना तथा अन्त में अपने में परिपक्व होना (स्वरूप में रमणता होना) ब्रह्मचर्य धर्म का वर्णन होना यह क्रम सम्यक् लगता है।

९. आ. पण्डितजी सा. की लेखनी सतत चलती रहे ताकि स्वयं के लाभ के साथ–ही–साथ अनेक भव्यों का कल्याण होना भी उत्तम है।

१०. वस्तु के स्वभाव को धर्म (आत्मा की निर्विकार चेतना परिणति), उत्तम क्षमादि दश धर्म, रत्नत्रय धर्म, जीवों की रक्षण रूप धर्म, वीतराग धर्म, चारित्र धर्म, समभाव धर्म, मोह क्षोभ से रहित परिणाम धर्म है। अहिंसा धर्म, श्रावक व मुनिधर्म, व्यवहार व निश्चय धर्म आदि–आदि अनेक प्रकार से वर्णन जिनागम में पाया जाता है।

११. स्याद्वाद के द्वारा सम्यक निर्णय कर अपना कल्याण अवश्य करें।

अन्त में आ. पण्डितजी सा. शीघ्रातिशीघ्र सिद्ध पद को प्राप्त करें। यही मंगल भावना भाता हूँ।

● **रतनलाल जैन**
(पं. रतनलाल जैन, शास्त्री)
इन्द्रभवन, इन्दौर

अनुपम कृति

'दशलक्षण धर्म : एक अनुचिन्तन' पण्डित रमेशचन्द्र जी बाँझल द्वारा रचित अनुपम कृति है। शुभकामना सन्देश के निमित्त से इस कृति का पाण्डुलिपि के स्वाध्याय और अनुशीलन का परम सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ।

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य रूप आत्मा के १० धर्मों के स्वरूप का व्यापक दिग्दर्शन इसमें है। यह धर्म आत्मा के विकास की १० अवस्थाएँ हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के विकास के ये क्रमशः सोपान हैं।

क्षमा से लेकर ब्रह्मचर्य तक प्रत्येक धर्म की आद्योपान्त व्याख्या अत्यन्त सरल और बोधगम्य शैली में की है। धर्म के वास्तविक अभिप्राय को समझकर चारित्रिक गुणों का विकास इस कृति का उद्देश्य है। उत्तम क्षमाभाव धारण करने पर अन्य धर्म भी धीरे-धीरे प्रकट होने लगते हैं। इसमें निश्चय और व्यवहार का समन्वय करते हुए १० धर्मों का अनुचिन्तन है। भाव, भाषा और शैली आदि सभी दृष्टि से यह अनुपम कृति है।

प्रत्येक श्रावक इसका अध्ययन, मनन, चिन्तन और अनुपालन कर मुक्ति का पथ प्रशस्त कर सकता है।

जिनवाणी के सच्चे साधक परम आदरणीय पं. रमेशचन्द्र जी बाँझल की विद्वत्ता और ज्ञान को प्रतिबिम्बित करती हुई इस कृति को नमन करते हुए यह शुभकामना करती हूँ कि यह अधिक से अधिक जनमानस को लाभान्वित कर सके।

ससम्मान सादर नमन।

● **डॉ. रेणु जैन**
कुलपति, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय
इन्दौर

सबसे अलग है यह कृति

बहुमुखी प्रतिभा के धनी आदरणीय पण्डित रमेशचन्द्रजी बाँझल इन्दौर द्वारा लिखित नवीनतम कृति 'दशलक्षण धर्म : एक अनुचिन्तन' पूर्व लेखकों द्वारा लिखित सभी कृतियों से अलग है। इस कृति का मैंने आद्योपान्त अध्ययन किया। इसमें धर्म के सभी लक्षणों विस्तार से वर्णन तो किया ही गया है, साथ ही उन सभी लक्षणों को प्रायोगिक जीवन में उतारने की प्रक्रिया भी बताई गई है।

इस कृति में लेखक का मौलिक चिन्तन तो पग-पग पर दृष्टिगोचर होता ही है, साथ ही अपने चिन्तन की पुष्टि के लिए आगम के प्रमाणों की भरमार भी दिखाई देती है।

जो भी पाठक इसका गहराई से अध्ययन करेगा, उसे इस कृति की विषयवस्तु से बहुत कुछ सीखने को मिलेगा और जीवन में आनन्द आए बिना न रहेगा।

● **डॉ. प्रवीणकुमार जैन शास्त्री**
प्राचार्य : ढाईद्वीप शिक्षण संस्थान
इन्दौर

प्राक्कथन

जगत् के सभी जीव दुःखों से मुक्त हो सुखी रहना चाहते हैं। सुखी होने का उपाय निज शुद्ध आत्मधर्म स्वरूप का श्रद्धान–ज्ञान–चारित्र (आचरण) का होना अत्यावश्यक है। शुद्धात्मधर्म का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए १०८ समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखते हैं–

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतःसत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।।२।।

अर्थ– समीचीन धर्म कर्म–संहारक है जो जीवों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख अर्थात् मोक्ष में धरता है स्थापित करता है, वह धर्म है।

१०८ कार्तिकेय स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखते हैं–

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो।।४७६।।

अर्थ– जिस वस्तु का जो स्वभाव है, वह उस वस्तु का धर्म है।

उत्तम क्षमा आदि भावरूप धर्म (जीव का) दश प्रकार का है। प्रथम, निश्चयरूप रत्नत्रय धर्म है। द्वितीय, व्यवहाररूप स्व–पर जीवों की रक्षा करना भी धर्म है।

मैंने दशलक्षण धर्म का एक अनुचिन्तन; श्रुताभ्यास के बल से चिकित्सा पद्धति के अनुसार किया है। जिस प्रकार चिकित्सा शास्त्रों में स्वस्थ शरीर, स्वास्थ्य के लक्षणों का तथा स्वास्थ्य के विकृत करने वाले कारणों का, रूग्ण शरीर के लक्षणों का, रोग से होने वाली स्वास्थ्य की क्षति का, तथा रोग–निवारक आरोग्य–वर्धक औषध का और हित–मित आहार–विहार का प्रतिपादन होता है,

उसी प्रकार प्रस्तुत कृति में उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्मों का स्वरूप, धर्मों के लक्षणों का, धर्म को विकृत करने वाले कारणों का, विकृत आत्मधर्म के लक्षणों का, विकृति से होने वाली आत्मधर्म की क्षति का तथा विकृति–निवारक, आत्मधर्म–वर्धक चिन्तन का एवं आत्मधर्म–स्वरूप में स्थिरता का प्रतिपादन करने हेतु एक लघु प्रयास किया है।

प्रस्तुत कृति के प्रारम्भ में अनादिनिधन उत्तम क्षमा आदि दशलक्षण धर्म का, वर्तमान कालापेक्षा आराधन करने का प्रारम्भ और प्रत्येक धर्म का पृथक्–पृथक् स्वरूप–लक्षण, तथा धर्म–घातक लक्षणों एवं उनसे निवृत्ति के उपायों का प्रतिपादन किया है।

प्रस्तुत कृति में निर्ग्रन्थाचार्यों के प्रमाण भी समाहित किये गये हैं। मैं उन सभी आचार्यों एवं मुनि भगवन्तों को त्रियोग से सभक्ति कोटिशः नमोऽस्तु करता हूँ और विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। आशीर्वाद प्रदाता १०८ आचार्य श्री विशुद्धसागरजी, १०८ आचार्यश्री विहर्षसागरजी और समस्त उपाध्याय, मुनिराजों को नमन करता हूँ।

प्रस्तुति कृति के पुरोवाक, भूमिका, प्रस्तावना लेखकों का, शुद्धयार्थ पठन हेतु प्रो. शान्तिलालजी बड़जात्या, डॉ. प्रवीणजी शास्त्री, ढाईद्वीप जिनालय, इन्दौर, श्रीमती डॉ. रेणु जी जैन, कुलपति, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर का और श्री राकेशजी जैन तथा ग्रन्थ प्रकाशन हेतु स्वाध्याय मण्डल रामाशाह मन्दिर एवं अर्थ सहयोगियों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

● **पण्डित रमेशचन्द्र बाँझल**
३४–बी, छत्रपति नगर, एयरपोर्ट रोड,
इन्दौर (म.प्र.) ४५२००५

चलभाष : ९०९८५८०९२९

सम्पादकीय

क्षमा मुदृवृजुते शौचं ससव्यं संयमस्तपः।
त्यागोऽकिञ्चन ब्रह्म धर्मो दशविध स्मृतः।।

अत्यन्त हर्ष का अवसर है कि पण्डित प्रवर श्री रमेशचन्द्र जी बांझल ने ग्रन्थ रचना की शृंखला का नवीन ग्रन्थ ''दशलक्षण धर्म : एक अनुचिन्तन'' ग्रन्थ की रचना कर धर्म के दश लक्षणों का अनुपम, अद्वितीय विश्लेषण, चिन्तन, पूर्वाचार्यों के कथनों के आधार पर प्रस्तुत किया है। आदरणीय पण्डितजी ने सर्वप्रथम धर्म का स्वरूप 'उत्तम' शब्द को सम्यग्दर्शन सहित वीतरागता की संसिद्धि का सूचक और प्रशंसा–वाचक विशेषण बताते हुए उसका महत्त्व प्रतिपादित किया है। दशलक्षण पर्व मनाने का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए वस्तु–स्वातंत्र्य और निज आत्मा की संसिद्धि करना बताया है अर्थात् स्वावलम्बन और अपने आत्मस्वरूप की प्राप्ति का उपाय दर्शाया है। इसको प्राप्त करने के लिए दस सोपान– उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य का आलम्बन अनिवार्य है।

क्षमा का अभाव ही क्रोध है, अर्थात् अनिष्टकारक, कष्टदायी निमित्तों की उपस्थिति होने पर भी परिणामों में विकृति, क्षुब्धता का अभाव व साम्यभाव की प्रकटता; उत्तम क्षमा है। विशेष यह है कि पण्डितजी ने स्पष्ट किया है कि उत्तम क्षमा कारण है और उत्तम क्षमाधर्म कार्य है। कारण में कार्य का उपचार कर व्यवहार नय की विवक्षावश उत्तम क्षमा को ही उत्तम क्षमा धर्मरूप कथन कर दिया जाता है।

इसी प्रकार शेष मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य के प्रकरण में यही सुसंगत पद्धति अपनायी गई है।

उत्तम क्षमा के विस्तृत निरूपण के साथ उसके विरोधी क्रोध की परिभाषा और क्षमा और क्रोध में अन्तर बताकर क्रोध के विभिन्न प्रकारों का चिन्तन/प्रकटन अद्भुत है।

मान का अभाव मार्दव है। उत्तम मार्दव धर्म के स्वरूप का विविध विवक्षाओं से प्रतिपादन किया गया है। साथ ही मान कषाय की उत्पत्ति के कारण, भेद और मार्दवधर्म–घातक पर्यायवाची शब्दों के विश्लेषण से मनुष्यों द्वारा अपनायी गई मान कषाय के दुष्परिणामों से अवगत कराकर मार्दवधर्म अपनाने की प्रेरणा की विधि बतायी है। इस प्रकार मान कषाय के अभावपूर्वक मनुष्यों को नरक गति, तिर्यंच गति (विभिन्न प्रकार के मान और मदों की विवेचना करके) के दुःखों से

बचाने का मार्ग अवगत कराया है।

उत्तम आर्जवधर्म के विश्लेषण में १९ प्रकार से विवेचना की गई है। आर्जवधर्म की विरोधी मायाकषाय किस प्रकार आत्म-विशुद्धि नष्ट करती है, उसके १९ प्रकार बताकर उनसे बचने के लिए उत्प्रेरित किया है।

'ऋजुभाव' का नाम आर्जव है। यानी सरलता, खरापन, ईमानदारी, स्पष्टवादिता, निष्कपटता, विनम्रता, उदारता का होना आर्जव भाव है और इनके विपरीत कुटिलता, वक्रता, आदि भाव का होना मायाचारी है। मायाचारी के विभिन्न आयामों को स्पष्ट करते हुए उनके अभाव के लिए प्रेरित किया गया है जिसके फलस्वरूप मनुष्य भव की सार्थकता, व्रत-शील-संयम का पालन, लोक-पूज्यता के साथ-साथ परमात्म-स्वरूप की अनुभूति और मोक्षसिद्धि होती है।

उत्तम शौच यानी शुद्धि, संस्कार, पवित्रता, मलत्याग, भोगोपभोग की सामग्रियों तथा उनके प्रति मलिन परिणामों का त्याग तथा निज शुद्धात्म-स्वभाव की प्राप्ति। इसको ३१ बिंदुओं द्वारा उत्कृष्टरूप से स्पष्ट किया गया है। शौच का अभाव लोभ है। कैसे-कैसे लोभ के परिणाम और कार्य होते हैं और उनका फल क्या है, यह २८ बिंदुओं द्वारा समझाया गया है जो कि सामान्य जन के परिचय में नहीं है। चिन्तन मौलिक व संकलन अद्वितीय है।

उत्तम सत्यधर्म के अन्तर्गत सत्यवचन और सत्यधर्म को परिभाषित करते हुए दोनों में अन्तर को स्पष्ट किया गया है। सामान्यत: सत्यवचन और सत्यधर्म एकस्वरूप ही समझे जाते हैं, इसको विभिन्न प्रकार से स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि सत्यवचन कारण है और सत्यधर्म कार्य है। इस भेद को २१ बिन्दुओं द्वारा विवेचित किया गया है और सत्यधर्म धारक का अन्तरंग व बाह्य प्रवर्तन अवगत कराया गया है। सत्य के अभावरूप असत्य को व उसके भेदों को १५ प्रकार से समझाया गया है। सत्यधर्म की महिमा का सोदाहरण वर्णन कर उसके पालन के फल में सत्यधर्म-स्वभावी निज आत्मा की प्राप्ति की भावना की गई है।

संयम यानी नियन्त्रण, निग्रह, तपोनिष्ठ, एकाग्रता। यानी जीव की स्वशुद्धात्मा में एकाग्रता रूप आत्म-नियन्त्रण। उत्तम संयम के भी कार्य-कारण का निरूपण ३१ बिन्दुओं द्वारा कर जीवन में संयम की उत्कृष्टता को स्थापित किया गया है। संयम का घातक असंयम किस तरह हो सकता है इसे ११ बिन्दुओं में स्पष्ट किया गया है। संयमधर्म-स्वभावी निजात्मा में निमग्न रहने की प्रेरणा दी गई है।

उत्तम तप और तपधर्म में भेद बताकर तपधर्म की २३ प्रकार से विवेचना करके उनकी घातक वृत्ति-प्रवृत्ति भी प्ररूपण विशेषरूप से किया गया है।

उत्तम त्यागधर्म के प्रकरण में त्याग व दान में भेद बताते हुए बाह्य और अंतरंग त्याग का स्पष्टीकरण, अनिवार्यता तथा उत्तम त्याग और त्यागधर्म की विवेचना २१ बिन्दुओं में की गई है

जो कि अति विशिष्ट है। दान के प्रकरण में चारों प्रकार के दान और उसके घातक परिणामों, सप्त भयों और कार्यों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

उत्तम आकिंचन अर्थात् कुछ भी मेरा नहीं। परमाणुमात्र भी मेरा नहीं, केवल स्वशुद्धात्मा ही मैं हूँ, ऐसा निरूपण उत्तम आकिंचन्य और इस भाव से सम्पन्न अनन्त गुणों से युक्त निजात्मा में निमग्न उत्तम आकिंचन्यधर्म है। उत्तम आकिंचन और आकिंचन्य धर्म में कारण-कार्य का सम्बन्ध स्थापित कर बाह्य और अंतरंग परिग्रह के त्याग का स्वरूप २६ बिन्दुओं में और उसका फल रागादि से भिन्न वीतराग-विज्ञानमयी निजात्मानुभूति कराना दर्शाया गया है।

उत्तम ब्रह्मचर्य के प्रकरण में ब्रह्मचर्य कारण है, ब्रह्मचर्यधर्म कार्य है- इसको ३५ बिन्दुओं से स्पष्ट किया गया है।

अब्रह्म होने के कारणों को ११ बिन्दुओं में समेटकर उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म का स्वरूप समझकर उसमें निमग्न होकर सहज स्वभावी भगवान् आत्मा की प्राप्ति की प्रेरणा दी गई है।

अन्त में, दशलक्षण धर्म पर्व का प्रारम्भ प्रथम दिन से प्रारम्भ होकर अन्त में मनाए जाने वाले 'क्षमावाणी पर्व' पर लेख चिन्तनीय व अवधारणीय और अनुकरणीय है। उत्तम क्षमा भाव में पूर्व के सभी नौ भावों (धर्मों) का समावेश बताकर क्षमावाणी पर्व को वृत्तिरूप से तथा प्रवृत्तिरूप से अर्थात् भावरूप से तथा क्रियारूप से, दोनों प्रकार से अपनाने की प्रेरणा देकर क्षमावाणी पर्व का सम्यक् स्वरूप समझकर सभी जीवों की विकारी विकल्पों से निवृत्त होकर साम्य भावों की प्राप्ति की प्रेरणा दी गई है।

मेरा उत्कृष्ट पुण्योदय है कि आदरणीय पण्डितजी ने मुझ अल्पज्ञानी को इस योग्य समझा कि मैं इसकी टंकण सम्बन्धी त्रुटियाँ दूर करूँ और वाक्य-विन्यास में कहीं टूटन हो तो उसको अवगत कराकर निर्देशानुसार यथोचित संशोधन करूँ। मेरा परम सौभाग्य है कि इस हेतु मैंने ग्रन्थ को ३-४ बार पढ़ा, पण्डितजी के साथ बैठकर भी पढ़ा और धर्म के दश लक्षणों का और उनके घातक परिणामों तथा प्रवृत्तियों को जानकर स्वयं के लिए तदनुसार कुछ चिन्तन करने की और अपनाने की प्रेरणा प्राप्त की।

दशलक्षण धर्मों के बारे में और उनके घातक विरोधी परिणामों-कार्यों के बारे में इतना विशद वर्णन दुर्लभ ही है। पण्डितजी का अध्ययन, मौलिक चिन्तन, भाषा, प्रवचन शैली, शब्द-भण्डार आदि अद्भुत हैं और यह बात उनके द्वारा विगत ४०-४५ वर्षों से रामाशाह मन्दिर, मल्हारगंज, इन्दौर में किये गये प्रवचनों से और नियमितरूप से उपस्थित धर्म पिपासु, ज्ञान पिपासु महिला-पुरुषों की शताधिक उपस्थिति से प्रमाणित है।

विगत वर्षों में पण्डितजी के स्वरचित १० ग्रन्थ, परमार्थ पूजन की पुस्तक और पण्डित आशाधरजी द्वारा विरचित सहस्रनाम की व्याख्या, अभिनव जिनपूजन सन्दोह आदि प्रकाशित हो

चुकी हैं। सभी साधर्मी जनों ने विशेष उत्साह के साथ इनका अध्ययन कर अपने आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की वाचना भी रामाशाह मन्दिर में हो चुकी है, तभी से श्रोतागणों का आग्रह था कि इसका शीघ्र प्रकाशन किया जाये। विलम्ब से सही, पर कार्य अन्तत: पूर्ण हुआ क्योंकि काललब्धि अभी ही पकी थी। विलम्ब के लिए मैं सभी से क्षमाप्रार्थी हूँ।

मैं परम पूज्य १०८ आचार्य श्री विशुद्धसागरजी को, परमपूज्य १०८ आचार्य श्री विहर्षसागरजी को शत-शत बार नमोऽस्तु करता हूँ। उन्होंने ग्रन्थ हेतु आशीर्वचन देकर अनुगृहीत किया है। इसी प्रकार देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर की स्वाध्यायी, अध्ययनशील कुलपति श्रीमती डॉ. रेणु जैन और ढाईद्वीप जिनालय स्थित विद्यालय के प्राचार्य डॉ. प्रवीणकुमार जी शास्त्री का भी उनकी विचारों की प्रस्तुति के लिए आभारी हूँ।

पुस्तक के संशोधन में आदरणीय पण्डित डॉ. प्रवीणजी शास्त्री, प्राचार्य ढाईद्वीप जिनालय, इन्दौर, श्री राकेश जी जैन, बड़वाली चौकी, इन्दौर ने भी श्रमसाध्य कार्य किया, उनका मैं हृदय से आभारी हूँ। पुस्तक प्रकाशन में समस्त अर्थ सहयोग प्रदाता और प्रकाशक स्वाध्याय मण्डल, रामाशाह मन्दिर, मल्हारगंज, इन्दौर और अन्य धर्मानुरागी श्रोताओं का भी मैं आभारी हूँ। पुस्तक के व्यवस्थित और निर्दोष टंकण के लिए श्री नितिन पंजाबी और उत्तम मुद्रण व्यवस्था के लिए श्री राजेश कानूगो (डीसेण्ट ग्राफिक्स, इन्दौर) का भी आभारी हूँ।

इस पुस्तक की टंकण की त्रुटियों को सुधारना में मैंने अपनी बुद्धि-प्रमाण पूर्ण निष्ठा से प्रयास किया है, फिर भी त्रुटि रह जाना असम्भव नहीं है। सुधीजन ज्ञात त्रुटियों से अवगत कराएँ। मैं उन त्रुटियों के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। मेरी भावना है कि आदरणीय पण्डितजी विरचित दशलक्षण धर्मों का यह श्रेष्ठतम, अभूतपूर्व, अद्वितीय चिन्तन-अनुचिन्तन, प्रस्तुति हम सबको मोक्षमार्ग में बढ़ने में प्रेरणा-स्रोत बने और पण्डितजी दीर्घायु होकर इसी तरह जिनागम के रहस्यों को उद्घाटित करते रहें।

अन्तरिक्ष विज्ञान दिवस
दि. २३ अगस्त २०२३
इन्दौर

जिनधर्मानुरागी
● **प्रो. शान्तिलाल बड़जात्या**
२३, रामचन्द्र नगर मुख्य
इन्दौर-४५२००५
चलभाष : ९४०७८०६६१६
ई-डाक पता : बड़जात्याशान्ति@डाटामेल.भारत

विषय सूची

क्र.	विषय	पृष्ठ संख्या
1.	आचार्यश्री विशुद्धसागरजी के आशीर्वचन	
2.	आशीर्वचन– आचार्यश्री विहर्षसागरजी	
3.	दशलक्षण धर्म : एक अनुचिन्तन– पं. रतनलालजी शास्त्री द्वारा शुभाशीष	
4.	अनुपम कृति– डॉ. श्रीमती रेणु जैन	
5.	सबसे अलग है यह कृति– डॉ. प्रवीण कुमार जैन, शास्त्री	
6.	प्राक्कथन	
7.	सम्पादकीय	
8.	दशलक्षण धर्म– एक अनुचिन्तन	14
9.	उत्तम क्षमाधर्म	19
	क्रोध	27
10.	उत्तम मार्दवधर्म	43
	मान	49
11.	उत्तम आर्जवधर्म	68
	माया कषाय	71
12.	उत्तम शौचधर्म	89
	लोभ कषाय	93
13.	उत्तम सत्यधर्म	115
	असत्य	123
14.	उत्तम संयमधर्म	136
	असंयम	145
15.	उत्तम तपधर्म	153
	उत्तम तपधर्म के विविध प्रकार	157
16.	उत्तम त्यागधर्म	171
	दान और त्याग	174
17.	उत्तम आकिञ्चन्यधर्म	189
	परिग्रह	193
18.	उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म	205
	अब्रह्म	211
19.	क्षमावाणी	221
20.	सन्दर्भ ग्रन्थ सूची	224

दशलक्षण धर्म-एक अनुचिन्तन

मङ्गलाचरण

सर्वज्ञ देव के द्वारा भाषित उत्तम क्षमा आदि दश धर्म।
सम्यग्दर्शन सहित जो धारे, वह हो परम सुखी निष्कर्म।।

संसार–मञ्च पर प्रदर्शन और प्रसिद्धि के लिए अनेक प्रकार की क्रान्तियाँ होती हैं, उनका मानव-जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। उनका जीवन में न तो प्रवर्तन किया जाता है, न स्मरण किया जाता है और न कोई पर्व की संज्ञा दी जाती है। जो क्रान्ति जगत् कल्याण के लिए होती है वह अविकल परम्परानुरूप जीवन में आचरणार्थ पर्व के रूप में स्थापित हो जाती है।

पर्व का अर्थ- आत्म-हितकर, आनन्दप्रद माङ्गलिक कार्य के प्रारम्भ का अवसर; पर्व है। पर्व; मनुष्य जीवन की निराशा, नीरसता एवं सन्ताप को मिटाकर; उत्साह, मैत्री, प्रमोद आदि सद्भावों की वृद्धि कर सुख-शान्ति प्रदान करते हैं। पर्व; देश, समाज और धर्म की संस्कृति के प्रतीक हैं।

पर्व; राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक के भेद से तीन प्रकार के हैं। धार्मिक पर्व; तात्कालिक और त्रैकालिक के भेद से दो प्रकार के हैं। तात्कालिक पर्व मोक्षगामी **महन्त-पुरुषों के जीवन से सम्बन्धित होते हैं, जैसे तीर्थङ्करों के गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक, दीक्षाकल्याणक, ज्ञानकल्याणक, निर्वाणकल्याणक** की तिथियाँ। कतिपय पर्व; पुराण-पुरुषों की अतिशय घटना से सम्बन्धित होते हैं, जैसे अक्षय तृतीया, रक्षाबन्धन आदि।

त्रैकालिक पर्व; किसी पुराण-पुरुष के जीवन से या कोई विशेष घटना से सम्बन्धित नहीं, अपितु सार्वभौमिक, सार्वकालिक, शाश्वत होते हैं। उनके मनाने का प्रयोजन जन-रञ्जन, मन-रञ्जन, कल-रञ्जन नहीं; अपितु निजात्म–विशुद्धि के लिए होता है। अतः ये सर्व क्षेत्रों और सर्व कालों में मनाये जाते हैं। इन पर्वों के माध्यम से मनुष्य मोह-राग-द्वेष आदि कषाय-

भावों को नाश कर, उत्तम क्षमा आदि दश लक्षणरूप धर्म की संसिद्धि एवं संवृद्धि कर, मोक्ष प्राप्त करता है। वह सादि–अनन्त काल तक शाश्वत सुख भोगता है।

'दशलक्षण धर्म' पर्व का अपर नाम 'पर्यूषण पर्व' भी प्रचलित है। पर्यूषण का शाब्दिक अर्थ है– **'परि उष्णं समन्तात् भावाः इति पर्यूषणं।'** अर्थात् चारों ओर से विषय–कषायों से सिमटकर, धर्म-वृद्धि के निमित्त वीतराग श्री जिनेन्द्रदेव की पूजन-अर्चन द्वारा निजात्म–धर्म की संसिद्धिकर उन जैसा ही बनना और मोक्ष प्राप्त करना। इस अपेक्षा से 'दशलक्षण धर्म' पर्व का अपर नाम 'पर्यूषण पर्व' सार्थक है।

दशलक्षण धर्म-पर्व; मिथ्यात्व-रागादि समस्त विकल्प–जालों के परिहारपूर्वक निज शुद्धात्म-स्वभाव में निमग्न रहने के अनुष्ठान का पर्व है। इस पर्व में कल्याणमयी, कल्याणकारक उत्तम क्षमा-मार्दव-आर्जव आदि दशलक्षणी निजात्म–धर्म की आराधना की जाती है। यह पर्व वर्ष में तीन बार – माघ, चैत्र, भाद्रपद की शुक्ल पक्ष की पंचमी से चतुर्दशी तक मनाया जाता है।

जैनदर्शन में जितने भी धार्मिक पर्व हैं, उन सभी के मनाने का उद्देश्य अपने में वीतराग भावों सहित ज्ञान-वैराग्य शक्ति की संवृद्धि करना है। 'दशलक्षण धर्म' पर्व में उत्तम क्षमा आदि गुण-धर्मों की आराधना सम्यग्दर्शन–पूर्वक होने से इसे महापर्व की संज्ञा है।

धर्म- आत्मधर्म तो एक है। उसे समझने के लिए उसके लक्षण दश हैं। धर्म के माध्यम से जीव को दशलक्षण में संवर-धारण करने की सामर्थ्य प्रकट होने से इसे 'धर्म' की संज्ञा सार्थक है।[१]

'आत्मानुशासन' में आचार्य गुणभद्र लिखते हैं– धर्म वह है, जिसके होने पर अधर्म न हो।[२] धर्म, वस्तु का स्वभाव है।[३] जीव का स्वभाव सुख है।

'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से निष्पन्न है। उसका व्युत्पत्ति अर्थ है– जो धारण करता है या जिसके द्वारा धारण किया जाता है, वह धर्म है।[४] अथवा जो जीव को इष्ट स्थान में धरता है, वह धर्म है।[५] या जो जीव को कर्मों का निवारण कर, संसार के दु:खों से उठाकर उत्तम (आत्म) सुख में धरता है, वह धर्म है।[६]

१.तेषां संवरधारणासामर्थ्यद्धर्म इत्येषां संज्ञा अनवर्थेति (रा.वां.)। २. धर्मो यत्र नाधर्म: /४६।

३. वत्थु सहावो धम्मो। ४. धार्यते लोकोऽनेन धरति लोकं वा धर्म:। (स.सि.) ५. इष्ट स्थाने धत्ते इति धर्म:। (स.सि.)

६. देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निर्वहणम्।

संसार– दु:खात् सत्त्वान् य धरत्युत्तमे सुखे।। –र.का.श्रा

आगम में धर्म का निरूपण दो प्रकार से है– १. व्यवहार धर्म २. निश्चय धर्म। व्यवहारधर्म–जीवों की संसार के दुःखों से रक्षा करनेरूप दया–विशुद्धि है। निश्चयधर्म – अहिंसारूप है अर्थात् रागादि की अनुत्पत्तिरूप है। जो जीवों को मिथ्यात्व, रागादि समस्त सङ्कल्प–विकल्पों में संसरण करनेरूप भावसंसार से विस्थापित कर, मोह–क्षोभ–विहीन निर्विकार परम शुद्ध साम्यस्वरूप– निज चैतन्य में स्थापित (धरण) करता है वह धर्म है।[१] साम्यता, समता, माध्यस्थता, शुद्ध भाव, वीतरागता, चारित्र धर्म, स्वभाव की आराधना आदि धर्म के एकार्थवाची नाम हैं।[२]

सर्व विभाव–भावों से विमुक्त आत्मसुख–स्वरूप उत्तम क्षमा आदि धर्म के दशलक्षण हैं।

उत्तम- 'उत्तम' शब्द प्रशंसा-वाचक विशेषण है। प्रत्येक धर्म के साथ प्रयुक्त उत्तम विशेषण सम्यग्दर्शन सहित वीतरागता की संसिद्धि का सूचक है। अर्थात् आत्मा के क्षमा-मार्दव-आर्जव आदि दश धर्म सर्वोत्कृष्ट हैं, प्रशंसनीय हैं। ये दशलक्षण धर्म सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र गुण की निर्मल पर्यायें हैं। सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल कहा है।[३] सम्यग्दर्शन धर्म का मूल होने से धर्म का प्रारम्भ भी सम्यग्दर्शन से ही होता है। सम्यग्दर्शन–सहित सम्यग्ज्ञानमयी ज्ञानक्रिया मोक्ष का कारण है।[४] बाह्य में दान-पूजा, व्रत-शील, संयम, उपवास आदि करना; सम्यग्दर्शन के साथ होने पर मोक्ष के साधनभूत कारण हैं।[५]

धर्म के पात्र- धर्म के पात्र श्रमण और श्रावक हैं। दशलक्षण धर्मों की प्रकटता श्रमणों में मुख्य है और श्रावकों में गौणरूप है।

श्रमणों में चार चौकड़ी कषाय व नव नोकषाय के अभावरूप अर्हन्त और तीन चौकड़ी कषाय के अभावरूप मुनि भगवन्त हैं और श्रावकों में दो चौकड़ी कषाय के अभावरूप व्रती प्रतिमाधारी श्रावक और एक चौकड़ी कषाय के अभावरूप अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक होते हैं।

श्रमण; दशलक्षण धर्म और रत्नत्रय की एकता पूर्ण कर, निर्वाण प्राप्त करते हैं। श्रावक; श्रमण–धर्म का एकदेश पालन करता हुआ सर्वदेश पालन करने को उद्यमवन्त रहता है। उसका बाह्य प्रवर्तन निर्ग्रन्थों की भक्तियुक्त, विनयी, दयामयी, हितमित-प्रिय सम्भाषी; उपशम भावी और विपरीत वृत्ति-प्रवृत्ति वालों के प्रति मध्यस्थ होता है। वह देव-पूजा आदि छः कर्मों और समता आदि छः आवश्यकों रूप प्रवर्तित रहता है। संवेग-वैराग्य की वृद्धि के लिए

१. प्र.सा. ता. वृ. ७/९। २. न.च.वृ. २५६। ३. दंसण मूलो धम्मो। (द.पा.मू. २)। ४. र.सा. १०५। ५. भा.स. ४०४।

जगत्-काय का स्वभाव और द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन निरन्तर करता है।

धर्म का प्रारम्भ- भरत क्षेत्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल होता है। प्रत्येक काल के छः-छः भेद होते हैं। अवसर्पिणी–काल में दु:खमय दु:खम–दुखमा–काल के उनचास दिन कम इक्कीस हजार वर्ष बीत जाने पर श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से सात-सात दिन तक विभिन्न प्रकार की विशिष्ट वर्षा होती है, भयदायक घोर प्रलय होता है। उस समय पर्वत, शिला आदि को चूर्ण कर देने वाली सात दिन तक संवर्तक–वायु चलती है। उसी समय मेघ गम्भीर–गर्जना सहित तुहिन और क्षार–जल तथा विषैले जल में से प्रत्येक सात दिन तक बरसते हैं। इसके अतिरिक्त मेघों के समूह धूम्र–धूलि, वज्र एवं दुष्प्रेक्ष्य ज्वाला; इनमें से प्रत्येक सात दिन तक बरसते हैं।[१]

पश्चात् उत्सर्पिणी काल के प्रारम्भ में सात दिन तक पुष्कर मेघ सुखोत्पादक जल की वर्षा होती है, जिससे वज्राग्नि से जली हुई पृथ्वी शीतल हो जाती है। क्षीरमेघ सात दिन तक क्षीरजल की वर्षा करते हैं। इसके पश्चात् अमृत मेघ अमृत की वर्षा करते हैं। रसमेघ सात दिन तक दिव्यरस की वर्षा करते हैं, जिसके माध्यम से सुकाल पकता है और लोग पुन: अहिंसक वृत्ति को धारण कर लेते हैं। पश्चात् भाद्रपद शुक्ल पञ्चमी से मनुष्य, धर्म की आराधना प्रारम्भ करते हैं। इस कालचक्र की अपेक्षा उत्सर्पिणी काल के प्रारम्भ से इस भरत क्षेत्र में दशलक्षण धर्म के प्रारम्भ का पर्व मनाया जाता है। यद्यपि यह पर्व भाद्रपद, माघ और चैत्र; इन तीनों माहों में शुक्ल पक्ष की पञ्चमी से चतुर्दशी तक मनाया जाता है।

दशलक्षण धर्म का पर्व मनाने का प्रयोजन- यह पर्व मनुष्य को वस्तु–स्वातन्त्र्य का बोध कराने और निजात्मा के उत्तम क्षमा-मार्दव-आर्जव आदि दश धर्मों की संसिद्धि करने के प्रयोजन से मनाया जाता है।

जीव; अनादि से मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों से ग्रस्त रह दु:खी रहा है। ये विकारी भाव आत्मा में मलिनता के उत्पादक और संसार–परिभ्रमण के हेतु हैं, आत्मा के शुद्ध स्वभाव को आवरित रखते हैं, प्रकट नहीं होने देते हैं। अत: आत्मस्वभाव के घातक हैं।

ये विकारी भाव काषायिक भाव हैं। जो अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के भेद से चार प्रकार के हैं। प्रत्येक भेदरूप कषाय में क्रोध-

१. ति.प. १५४९–१५५०

मान-माया-लोभ– ये चारों कषायें गर्भित होने से प्रत्येक भेद को चौकड़ी कहते हैं। अनन्तानुबन्धी आदि चौकड़ी में क्रमश: जितनी-जितनी चौकड़ी का अभाव होता है, उतनी-उतनी आत्मधर्म में शुद्धि प्रकट होती है। चारों चौकड़ी कषायों के अभाव होने पर सम्पूर्ण आत्मशुद्धि प्रकट होकर, अर्हन्त अवस्था प्रकट हो जाती है।

मनुष्य में एक चौकड़ी कषाय के अभावानुरूप लेश्या की विशुद्धि और इन्द्रियों के विषय-भोगों से विरक्ति तथा वीतरागतारूप आत्मधर्म की संवृद्धि होती है। धर्म का प्रारम्भ चतुर्थ गुणस्थान से होता है और पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में होती है।

दशलक्षण धर्म का क्रम- यहाँ धर्म का अर्थ है- आत्मा की अनिमित्तक, निरुपाधिक, सहज, शाश्वत वृत्ति। उसकी अनुभूति कराने वाले धर्म के लक्षण दश हैं। धर्म; दश नहीं हैं, धर्म तो एक ही है।

'तत्त्वार्थ सूत्र' में धर्म के दश लक्षणों का क्रम इस प्रकार है- उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य। इस क्रम का कारण कषाय के अभाव के क्रमानुसार है।

कषायें चार प्रकार की हैं- क्रोध, मान, माया और लोभ। क्रोध कषाय के अभाव से उत्तम क्षमाधर्म, मान कषाय के अभाव से उत्तम मार्दवधर्म, माया कषाय के अभाव से उत्तम आर्जवधर्म और लोभ कषाय के अभाव से उत्तम शौचधर्म प्रकट होता है। इन प्रकट चारों धर्मों से मनुष्य सत्-स्वरूप निजात्मा का आश्रय कर; उत्तम सत्यधर्म प्रकट करता है। उत्तम धर्म की प्रकटता से सत्य धर्मी की आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन नियन्त्रित और वृत्ति–प्रवृत्ति नियन्त्रित होने से उत्तम संयमधर्म प्रकट होता है। उत्तम संयमी की संसार-शरीर सम्बन्धी समस्त इच्छाओं का निरोध हो जाता है। उससे उत्तम तपधर्म प्रकट होता है। उत्तम तपधर्मी के राग-द्वेष आदि का अभाव और विषय-भोगादि के निरोध से उत्तम त्यागधर्म प्रकट होता है। उत्तम त्यागधर्मी के बाह्याभ्यन्तर चौबीस भेदरूप परिग्रह किञ्चित् भी न होने से उत्तम आकिञ्चन्यधर्म प्रकट होता है। उत्तम आकिञ्चन्यधर्मी के अपने शुद्ध ब्रह्म स्वभाव में निमग्न रहने से उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म प्रकट होता है।

पर्व के दिन दश और आत्मधर्म के लक्षण भी दश हैं। इसलिए भव्यों को समझाने के लिए एक-एक दिन, एक-एक धर्म को समझाया जाता है।

उत्तम क्षमाधर्म

<u>मङ्गलाचरण</u>

क्रोध–अनल से दहत है, ज्ञान चेतना–भूप।
उत्तम क्षमाधर्म–भावों से, पावे शान्ति अनूप।।

क्षमाधर्म के पूर्व 'उत्तम' विशेषण का प्रयुक्त होना सर्वोत्कृष्ट प्रशंसावाचक एवं सम्यग्दर्शन का सूचक है। उत्तम क्षमाधर्म के सम्बन्ध में आचार्यों ने विविध विवक्षाओं से प्ररूपण किया है; किन्तु सभी का अभिप्राय एक ही है।

'धवलाजी' में आचार्यदेव उत्तम क्षमाधर्म का स्वरूप प्रतिपादन करते हुये लिखते हैं– 'निरपराध-स्वरूप निजात्म स्वभाव के सम्मुख होकर अपराध को पुनः न होने देना उत्तम क्षमाधर्म है।'[१] अपराध का अर्थ है– आत्मा की संसिद्धि के विपरीत प्रवर्तन करना और निरपराध का अर्थ है– आत्मा की संसिद्धि के अनुकूल प्रवर्तन करना।

अज्ञानी, मिथ्यादृष्टियों द्वारा त्रासपूर्वक अपने शरीर का वध होता हुआ जानने पर भी अवध्य-स्वरूपी निजात्मा के परम ब्रह्मभावमयी साम्यभाव में स्थित रहना; उत्तम क्षमा है और उससे प्रकट समरसी-भावमयी परमानन्द उत्तम क्षमाधर्म है।[२]

अज्ञानीजनों द्वारा अप्रिय, कटुक, कठोर वचन बोलने या त्रास देने के भावरूप जो उद्यम वर्त रहा है, वह मेरे द्वारा बाँधे गये पूर्वकृत कर्मों का फल है। उनका कोई दोष नहीं है। यह प्रथम प्रकार की उत्तम क्षमा है। अज्ञानीजनों को मुझे ताड़ने का, मेरा वध आदि करने का भाव हुआ है, वह मेरे सत्कृत (पुण्य) से दूर हुआ– यह द्वितीय प्रकार की उत्तम क्षमा है।[३] दोनों प्रकार की उत्तम क्षमा से मुझे आकाशवत् निर्मल, अखण्ड आत्मानन्द का प्रकट होना, उत्तम क्षमा–धर्म है।

क्रोध की उत्पत्ति के निमित्त असह्य आक्रोश आदि के सम्भव होने पर कालुष्यभाव नहीं होना क्षमा है।[४]

मुनि भगवन्त अपने शरीर की स्थिति अल्प जानकर, समाधि–स्वरूप रहने के लिए अपना सङ्घ छोड़कर अन्य आचार्य-भगवन्तों के सङ्घ में जाते हैं। उस समय मार्ग में यदि दुष्टजन उपहास, अवज्ञा, ताड़न, शरीर का व्यापादन (वध) करें तो भी उनके प्रति कलुष

१. ध.२। २. नि:सा.ता.वृ. ११५। ३. नि.सा.ता.तृ. ११५। ४. क्रोधोत्पन्तिनिमित्तासह्याकोशादिरम्भवे कालुष्योपरमः क्षमा।

परिणाम न होना उत्तम क्षमा है।[१] उससे प्रकट ज्ञानशरीरी निज शुद्धात्मा का आनन्द–स्वरूप सुखरस उत्तम क्षमाधर्म है।

क्षमा वह है जहाँ क्रोध न हो अर्थात् जीव को अनिष्टकारक, पीड़ादायक निमित्त–कारणों के मिलने पर स्वयं के परिणामों में क्षोभ की उत्पत्ति न होना और साम्यभाव में बना रहना उत्तमक्षमा है।

जिस प्रकार सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है, सम्यग्ज्ञान कारण है और सम्यग्चारित्र कार्य है, उसी प्रकार **उत्तम क्षमा कारण है और उत्तम क्षमाधर्म कार्य है। कारण में कार्य का उपचार कर व्यवहार नय की विवक्षावश उत्तम क्षमा को ही उत्तम क्षमाधर्म से निरूपित किया है।**

उत्तम क्षमाधर्म के स्वरूप का प्रतिपादन विविध विवक्षाओं से किया जाता है–

१. निज शुद्धात्म-स्वरूप के अभिमुख रहना उत्तम क्षमा है। उससे प्रकट शुद्धात्म-स्वरूप का आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम क्षमाधर्म है।
२. निज शुद्धात्म-स्वरूप को सर्वज्ञदेव के ज्ञानानुसार मानना, जानना और उसी में रम जाना; उत्तम क्षमा है। उससे प्रकट सर्वज्ञस्वरूपी निज आत्मानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम क्षमाधर्म है।
३. काय–वचन–मन की स्वशुद्धात्मा में एकाग्रता; उत्तम क्षमा है। उससे प्रकट अयोग-स्वरूपी परमानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम क्षमाधर्म है।
४. आत्मा-अनात्मा के भिन्नत्व भाव की प्रकटता; उत्तम क्षमा है। उससे प्रकट आत्मा का आत्मीय अभिन्नत्व का आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम क्षमाधर्म है।
५. निज शुद्धात्म-गुणों का सम्वर्धन करना; उत्तम क्षमा है। उससे प्रकट अनन्त शुद्ध गुणमयी निजानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम क्षमाधर्म है।
६. निजात्म-स्वभाव को स्वस्थ-सुरक्षित रखने का भाव; उत्तम क्षमा है। उससे प्रकट स्वरूपस्थ रहने का परमानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम क्षमाधर्म है।
७. निर्विकार निजात्म-स्वरूप प्राप्ति का पुरुषार्थ; उत्तम क्षमा है। उससे प्रकट अविकार-स्वरूप निजात्मानुभूति; उत्तम क्षमाधर्म है।

---

१. स.सि. ९/५।

८. क्रोध–कषाय के अभाव से सम्यग्दर्शनसहित अक्रोध–स्वरूप स्वभाव में निमग्न रहना; उत्तम क्षमा है। उससे प्रकट शाश्वत, शान्तिमयी अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम क्षमाधर्म है।

९. क्रोध–कषाय की उत्पत्ति के कारणभूत उपसर्ग आदि के होने पर पृथ्वी की भाँति क्षमा-स्वभावी निज शुद्धात्मा में स्थित रहना; उत्तम क्षमा है। उससे प्रकट अचल निजात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम क्षमाधर्म है।

१०. पर–निमित्तक व्यग्र भावों से निज उपयोग को व्यावृत्त/पृथक् करके अनिमित्तक अव्यग्र-भावमयी, सहज शान्ति–स्वरूप निजात्मा में निमग्न रहना; उत्तम क्षमा है। उससे प्रकट शान्तस्वरूप सुखानुभूतिरस; उत्तम क्षमाधर्म है।

११. बाह्य में पर-कृत अपराधों या उपसर्गों के होने पर निज उपयोग में प्रतिशोध–भाव का उत्पन्न न होना, अपराधी के प्रति दुर्भाव न होना, उसे क्षमा-क्षमा कह कर सांत्वना देना; उत्तम क्षमा है। उससे प्रकट अप्रतिशोधमयी आत्म-सुखानुभूतिरस; उत्तम क्षमाधर्म है।

१२. स्वयं के द्वारा कृत-कारित-अनुमोदित दोषों की निवृत्तिपूर्वक निर्दोष स्वभावी निजात्मा के आश्रय से निराकुल, निर्द्वन्द्व परिणामों का होना; उत्तम क्षमा है। उससे अकृत, अकारित, अननुमोदित समरसीभावमयी निजात्मानुभूतिरूप आनन्द; उत्तम क्षमाधर्म है।

१३. जगत् में प्रत्येक वस्तु का परिणमन स्वकीय योग्यतानुसार होता है। अपना भला-बुरा, हित-अहित अपने ही परिणामों से होता है। पर से नहीं होता है। पर–वस्तु का परिणमन स्वतन्त्र है। ऐसा जानकर परिणामों को उद्विग्न न कर, सहज शान्तिस्वरूप रहना; उत्तम क्षमा है। उससे प्रकट सहज समता–स्वरूप निजात्मानुभूतिरूप आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम क्षमाधर्म है।

१४. मिथ्यात्व के कारण जीव के श्रद्धा-ज्ञान–चारित्र का परिणमन अन्यथारूप होने से उपयोग व्यग्र हो रहा है। उपयोग की व्यग्रता का शमन सम्यग्दर्शनज्ञान–चारित्र से करना; उत्तम क्षमा है। उससे प्रकट रत्नत्रयी साम्य-भावमयी निजात्मानुभूतिरूप आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम क्षमाधर्म है।

१५. जीव; पर्याय-दृष्टि के कारण मूढ़ हो रहा है। मूढ़ता से उपयोग पर में अत्यासक्त हो क्लेशित होता है। जीव द्वारा अपनी मूढ़ता को छोड़कर अपने द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्व की शुद्ध दृष्टि को दृढ़ करना; उत्तम क्षमा है। उससे निर्मूढ़, प्रकट, मोहक्षोभविहीन

साम्यभावमयी, अकषाय, परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम क्षमाधर्म है।

१६. जीव; अनादि के अकषाय–स्वभावी निजात्म-तत्त्व को विस्मृत कर, काषायिक भावों में सुख के भ्रम से प्रवर्तन करता आ रहा है। इन काषायिक भावों से विमुक्त, अकषाय-स्वरूप निजात्मा में निमग्नता; उत्तम क्षमा है। उससे प्रकट निष्कषायमयी वीतराग परमानन्दस्वरूप की अनुभूतिरूप सुख रस; उत्तम क्षमाधर्म है।

१७. वस्तु-स्वातंत्र्य के बोध बिना, पर–द्रव्यों के परिणमन में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना से उपयोग उद्वेलित हो जाता है। उद्वेलित उपयोग को वस्तु-स्वातन्त्र्य का बोध कराकर पर–द्रव्यों के परिणमन में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना को विलोपित करना; उत्तम क्षमा है। उससे प्रकट निज शुद्धात्मा का अकम्प ज्ञानानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम क्षमाधर्म है।

१८. पर–द्रव्य–गुण–पर्याय का अकर्तृत्व का परिणमन; उत्तम क्षमा है। उससे प्रकट स्वतन्त्रता एवं स्वावलम्बनरूप परम शान्तिस्वरूप सुखरस; उत्तम क्षमाधर्म है।

शुद्धभाव-स्वरूप उत्तम क्षमाधर्म- शुद्धभावस्वरूप उत्तम क्षमाधर्म से आत्मा के सर्व गुणों में उत्तरोत्तर शुद्धि की वृद्धि होती है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र में जितने-जितने अंशों में रागरूप अशुद्धि का अभाव होता जाता है, उतने-उतने अंशों में वीतरागता की वृद्धि होती जाती है, जो कि कर्मों के अबन्धन और मोक्ष का कारण है। दूसरे शब्दों में, जीव की पर्याय-दृष्टि का विलय और द्रव्यत्व-दृष्टि का प्रादुर्भाव (प्राकट्य) होता है और आत्मा के अनन्त गुणों में उत्तरोत्तर शुद्धि की वृद्धि होती जाती है।

जगत् में जीव जो भी कार्य करता है वह स्वयं के हित के लिए करता है। उत्तम क्षमाधर्म का धारण भी आत्महित के लिए करता है। आत्महित की दृष्टि से किये गये कार्यों से आत्मा में शुद्धि की वृद्धि होती है। यथा; उत्तम क्षमाधर्मी १०८ यशोधर मुनिराज के समागम में रानी चेलना सहित राजा श्रेणिक आया। महामुनिराज से धर्म–वृद्धि का आशीर्वचन सुनने से राजा श्रेणिक के क्रोधरूप कलुषता का नाश और शुद्ध भावों की अतिशय वृद्धि हुई।

सुख–स्वरूप उत्तम क्षमाधर्म- उत्तम क्षमाधर्म सुख–स्वरूप है। जीवों को बाह्य–अभ्यन्तर में कोई दु:ख नहीं होता है; क्योंकि जगत् के समस्त द्रव्यों का परिणमन स्वकीय योग्यतानुसार होता है। कोई भी द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य को परिणमाता नहीं है। पर–द्रव्यों के परिणमन को अनुकूल–प्रतिकूल न समझने से इस लोक और परलोक सम्बन्धी समस्त दु:खों का नाश और सहज आत्म–सुख प्रकट होता है।

अनिष्ट–अभावरूप उत्तम क्षमाधर्म- उत्तम क्षमाधर्मी को कोई भी द्रव्य अनिष्ट प्रतीत नहीं होता है। पर–द्रव्यों के प्रति अनिष्ट प्रतीति तो मन की भ्रान्ति है, द्वेषरूप क्रोध है। किसी भी जीव का क्रोधरूप परिणमन, पर–जीवों को अनिष्टरूप नहीं होता है, अपितु स्वयं का ही अनिष्ट होता है। उत्तम क्षमाधर्म का धारक तो पर के क्रोध को उसका औदयिक भाव जानकर उत्तम क्षमाधर्ममय रहता है, पर के प्रति उदासीन रहता है।

उत्तम क्षमाधर्म नय-दृष्टि से- निश्चयनय-दृष्टि से जीव न तो स्वयं क्षमा कर सकता है और न ही क्षमा करा सकता है। वह तो स्वयं क्षमास्वरूप है।

व्यवहारनय-दृष्टि से जीव क्षमा करता भी है और दूसरों से क्षमा करवाता भी है। सामायिक पाठ में बोलते हैं- मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरा किसी से भी वैर-भाव नहीं है।[१] समाधि-मरण के समय भी सब जीवों से क्षमायाचना करना और सब जीवों को क्षमा करने का विधान है। १००८ तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीव ने पूर्व के दश भवों तक उपसर्गकर्ता कमठ के प्रति क्षमा-भाव रखा।

राजा श्रेणिक ने १०८ यशोधर महामुनिराज के गले में मृत सर्प डाला, सर्प के शव पर असंख्यात चींटियाँ उत्पन्न हो गईं। चींटियों ने मुनिराज के शरीर को भी दंश कर छलनी जैसा कर दिया। मुनिराज पर उपसर्ग ज्ञात होने पर राजा श्रेणिक की रानी चेलना ने उपसर्ग दूर किया। क्षमाधर्मी महामुनिराज ने दोनों को धर्म-वृद्धि का आशीर्वचन कहा।

पाँचों पाण्डव महामुनिराजों को उनके ही मामा कर्मयूधाय ने तप्त लोहे के कड़े पहनाये तो भी महामुनिराज आत्म-ध्यानस्थ रहे। उत्तम क्षमाधारी मुनिराजों को कड़े पहनाने वाले के प्रति क्रोध उत्पन्न नहीं हुआ।

राजा ने सुदर्शन सेठ को शूली पर चढ़वाया। धर्म के प्रभाव से शूली; सिंहासनरूप परिणमित हो गई। उत्तम क्षमाधर्मी सुदर्शन सेठ को राजा के प्रति क्रोध नहीं आया, अपितु उत्तम क्षमाभाव बना रहा।

उत्तम क्षमाधर्म की दृढ़तार्थ चिन्तवन- जीव को उत्तम क्षमाधर्म की दृढ़तार्थ एवं सम्वृद्धि के लिए सदैव ऐसा चिन्तवन करना चाहिए कि कोई देव या मनुष्य मुझे देखकर क्रोधित हो; अप्रिय, अशिष्ट वचनालाप करे, उससे मेरा कोई अहित नहीं है; अपितु क्रोध करने वाले का ही अहित होता है। यदि मैं क्रोध करने वाले का अपराधी हूँ तो वह सत्य ही तो बोल रहा है। मुझे अपराधों से निवृत्त होना चाहिए। यदि मैं निरपराध हूँ तो उसका वचनालाप अज्ञान-जन्य है, मिथ्या है। यह तो उसके क्रोध कषायोदय का ही परिचायक है।

---

१. खम्मामि सव्व जीवाणां.... सा. पाठ।

यदि कोई मनुष्य मुझे गालियाँ दे तो उसने गालियाँ ही तो दी हैं, मैंने तो नहीं ली हैं। उसने गालियाँ ही तो दी हैं, पीटा तो नहीं। पीटा है तो मुझे ताड़ना ही दी है, वध तो नहीं किया। वध करने पर, वध तो किया, मेरा आत्मधर्म तो नष्ट नहीं किया है। क्रोधी मनुष्य ने मुझ पर क्रोध कर, मेरे उत्तम क्षमाधर्म की परीक्षा कर, मेरा महान् उपकार किया है। उपकारी पर मित्रवत् क्षमाभाव रखना ही श्रेयस्कर है। जिस प्रकार साहूकार से लिया ऋण समयसीमा में अदा कर देना ही योग्य है, उसी प्रकार पूर्वोपार्जित पाप कर्मों का ऋण अदा करने का समय कर्मोदय में आया है तो यह उत्तम अवसर है। इस दुःख की घड़ी में मुझे क्षमा-स्वरूप शान्त–भावमय रहना ही श्रेयस्कर है। मैं तो पूर्वोपार्जित कर्मों के ऋण से मुक्त हो रहा हूँ।[१]

उत्तम क्षमाधर्म को दृढ़ एवं स्वस्थ रखने के लिए सदैव मङ्गल-कारक, मङ्गल-वर्धक भावों से वचनालाप करना चाहिए। यदि कोई मनुष्य अमङ्गलरूप वचन बोले तो उसे अनसुना कर दें अथवा अमाङ्गलिक शब्दों का अर्थ, माङ्गलिक करें। जैसा कि १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीजी ने किया है- ''कोई मनुष्य मुनिराज को नङ्गा–लुच्चा कहे तो, यह सत्य कह रहा है, मुनिराज नग्न-दिगम्बर रहते हैं और केशों का लुञ्चन करते हैं। इसमें अमङ्गल क्या कहा? कुछ भी नहीं। यदि लाकड़ा–पड़ा कहे तो, उसमें क्या बुरा कहा? मुनिराज शारीरिक श्रम के शमनार्थ लकड़ी के पाटे पर पड़ते हैं। यदि कोई सत्यानाशी कहे तो यह समझो कि वह कह रहा है कि तुम्हारे सात कर्मों का नाश हो, आयुकर्म मात्र शेष रहे। यदि अट्ठयानाशी कहे तो यह समझो कि वह कह रहा है कि तुम आठों कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त करो। इस प्रकार जगत्-मान्य अमाङ्गलिक अर्थ प्रकट करने वाले वाक्यों के श्रवण में भी माङ्गलिक अर्थ को प्रकट करने वाले भाव रखने से क्रोध की अनुत्पत्ति और उत्तम क्षमा–धर्म की दृढ़ता एवं सम्वृद्धि होती है। लोक में भी प्रचलित है– 'गँवार की गाली हँसकर टाली।'

उत्तम क्षमाधर्म की महिमा- क्रोध कषाय के अभाव से उत्तम क्षमाधारी मुनीश्वर समस्त पाप-कर्मों का क्षय करते हैं। वे वर्तमान में सज्जन पुरुषों के द्वारा प्रशंसनीय और अतिशय पूज्य होते हैं, भवान्तर में देव और मनुष्य-पर्याय धारण कर निर्वाण प्राप्त करते हैं।[२]

---

१. भ.आ.मू. १४२० से १४२६ तक।

२. पावं खवइ असेसं खमाए पडिमंडिओ य मुणिवरो।
खेयर अमरणराणं पसंसडीओ धुवं होई।। भा.पा.मू. १०८

उत्तम क्षमाधर्म के धारक; अपने ऊपर उपसर्ग आदि अपराध करने वालों का शीघ्र ही प्रतिकार करने में समर्थ होते हुये भी, प्रतिकार न कर, उनके प्रति उत्तम क्षमा–भाव रखते हैं। उत्तम क्षमारूप धर्मामृत का समीचीनतया सेवन करने वाले साधु समस्त पापों को नष्ट कर देते हैं।[१]

उपवास आदि तपश्चर्या करने वाले निःसंदेह महान् हैं, किन्तु उनसे भी महान् वे होते हैं, जो अपनी निन्दा करने वालों को क्षमा कर देते हैं।[२]

उत्तम क्षमाधर्म समस्त सज्जन पुरुषों का सर्वोत्तम आभूषण है और परम रसायन भी है, उसके सेवन से समस्त पाप–कर्मों का क्षय होता है। अतः तपश्चर्या से भी उत्कृष्ट परमामृत रसायन उत्तम क्षमाधर्म है। उत्तम क्षमाधर्मी पर-कृत अपराधों को विस्मृत कर, अपराधी के प्रति भी समत्व एवं मित्रवत् व्यवहार करता है।

उत्तम क्षमाधर्म से आत्मा के सर्व गुणों में विशिष्ट निर्मलता आती है। वीतराग चारित्र की अद्वितीय अनुपम वृद्धि होती है। कर्म-निरपेक्ष अतीन्द्रिय सुख की सम्वृद्धि होती है।

उत्तम क्षमाधर्म–धारक के बाह्य और अभ्यन्तर में भी कोई शत्रु नहीं होता है। उसे इस भव में यश और पर–भव में सुख प्राप्त होता है। उत्तम क्षमाधर्मी का सद्व्यवहार लोक में अनुकरणीय और पूज्य होता है। उत्तम क्षमाधर्म, इस लोक और परलोक सम्बन्धी दुःखों का हरण करता है, उससे मोक्ष-सुख की सम्वृद्धि होती है।

उत्तम क्षमाधर्म-धारण करने पर द्रव्यों के प्रतिकूल परिणमन से उनके प्रति अनिष्टता भासित नहीं होती है क्योंकि; पर–द्रव्यों का परिणमन; पर का स्वभाव और निज द्रव्य का परिणमन; निज का स्वभाव प्रतीत होता है।

उत्तम क्षमाधर्म का धारक स्वयं अविचल, शाश्वत, अनुपम शान्तिस्वरूप अद्वितीय आत्मानन्द की अनुभूति करता है तथा वह अनेक समागत भव्यात्माओं को उत्तम क्षमाधर्म का प्रतिबोध कराता हुआ, उन्हें भी अतीन्द्रिय निजात्मा का संवेदन कराता है।

उत्तम क्षमाधर्मी; उपसर्ग–कर्त्ता को परीक्षक और स्वयं को परीक्षार्थी मानता है। वह उपसर्ग में भी उत्तम क्षमाधर्म में स्थित रहता हुआ स्वयं को क्षमाधर्म का सम्यक् परीक्षित अनुभवता है। परीक्षा में सम्पूर्ण सम्यक् सफल होने से समस्त क्रोध कषाय का क्षय होता है।

---

१. अ.ध. ६/५। २. कु.का. १६/१०।

उत्तम क्षमाधर्म; वीर पुरुषों का भूषण है।[१] वीर पुरुष वह है, जो स्वयं विशेषरूप से रत्नत्रयमयी हो और अन्य पुरुष को रत्नत्रयमयी मोक्ष के प्रति परिणमित रहने की प्रेरणा करे।[२] वीर पुरुष सुरक्षित शाश्वत निज शुद्धात्मा में स्थित रह ज्ञानानन्दमयी स्वात्मा का रसपान करते हैं।

उत्तम क्षमाधर्म का फल- उत्तम क्षमाधर्म धारण करने का फल; राष्ट्र, समाज, परिवार में अद्वितीय शान्ति है तथा स्वयं के उत्थानरूप श्रेयस मार्ग में अविकल गमन होता है।

उत्तम क्षमाधर्म के साथ ही आत्मा के समस्त गुण-धर्मों में शुद्ध स्वरूप से परिणमन होता है। उत्तम क्षमाधर्म; मोहान्धकार, विषयान्धकार, अज्ञानान्धकार, कर्मबन्ध एवं सर्व दु:खों का नाशक है तथा अभ्यन्तर में आत्मशान्तिदायक, तीन लोक में सारभूत है; चैतन्य रस का रसायन, ज्ञानामृत का सागर; व्रत, शील, संयम, तप, चारित्र का वर्धक है।

क्षमा से दु:खदायी पूर्व-सञ्चित कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा विद्वेष और भय से रहित हो, चित्त शुद्ध हो जाता है।[३]

क्षमा; शक्तिहीन जीवों का बल है, शूरवीर जीवों का क्षमा आभूषण है। क्षमा से वशीकृत लोक में क्या-क्या सिद्ध नहीं होता है? अर्थात् सबकुछ सिद्ध होता है।[४]

क्षमा के समान तप नहीं, क्षमा के समान दूसरा कोई सदाचरण नहीं, क्षमा के समान कोई हित नहीं, क्षमाधारियों के समान कोई जीवन नहीं।[५]

क्षमा शान्ति है, शस्त्र है, श्रेयस्कर है, धैर्य है, धन है, रक्षा-कवच है, माता है, बन्धु है, लक्ष्मी है, शोभा है, कीर्ति है, सत्य है। क्षमा में शौच-पूजा-दान-मङ्गल-उत्तमता-शरण इत्यादि सर्व गुण समाहित हैं।[६]

क्षमा; मुक्तिवधू की सखी है। मनुष्यों को क्षमा; कल्पवृक्ष के समान सुख देने वाली है। क्षमा; कर्म-शत्रुओं से रक्षा करने वाली है। क्षमा; समतारूपी धन को उत्पन्न करने वाली माता के समान है। क्षमा; धर्मरत्न की खानि (खदान) है।[७]

---

१. क्षमा वीरस्य भूषणं। २. विशेषेण ईरयति मोक्षं प्रति प्रेरयति गमयति प्राणिन: इति वीर:। स.सि. ९/६। ३. क्षम या क्षयते कर्म दु:खदं पूर्व-सञ्चितम्। चित्तं च जायते शुद्धं विद्वेषभयवर्जितम्।।१५।।द.ध.स्क.। ४.क्षमा बलमसक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा। क्षमा वशीकृतो लोक: क्षमया किं न साध्यते।।१३।।द.ध.स्क.। ५. क्षमासमं तपो नास्ति. क्षमा तुल्यं न सद्व्रतम्। क्षमामं न हितं किञ्चित् क्षमाभ न च जीवितम्।।१४।।द.ध.स्क.। ६. दशधर्म स्कन्ध पृ. २६। ७. दशधर्म स्कन्ध पृ. २७।

उत्तम क्षमाधर्म सम्यग्दर्शन–सहित होता है- उत्तम क्षमाधर्म सम्यग्दर्शन–सहित होता है। सम्यग्दर्शन के होने पर आत्मा में जैसी परम शान्ति प्रकट होती है, वैसी मिथ्यात्व के रहते हुये नहीं होती है। मिथ्यात्व के साथ बाह्यरूप–क्षमा का भाव तो हो सकता है, किन्तु उत्तम क्षमाधर्म नहीं होता है।

सम्यग्दर्शन–रहित जीवन बाह्य में विषय–प्रतिकूलता होने पर भी क्रोध न करे तो भी उसे अभ्यन्तर में क्रोध की सत्ता परिपूर्णरूप से विद्यमान है। उसकी बाह्यरूप–क्षमा; उत्तम क्षमाधर्म नहीं है। मनुष्य ने मिथ्यात्व के साथ निर्ग्रंथ, जिनलिङ्ग धारण कर, घोर उपसर्गों को सहन किया, उपसर्गकर्त्ताओं पर रञ्च-मात्र भी क्रोध नहीं किया है तो भी अभ्यन्तर में क्रोधरूप भाव विद्यमान हैं। उसे सम्यग्दर्शन के अभाव से क्षमा–स्वरूप आत्म-विशुद्धि न होने से उत्तम क्षमाधर्म नहीं होता है।

मिथ्यादृष्टि का निर्ग्रन्थ-जिनलिङ्ग धारण करना मात्र अभिनयरूप है। जैसे किसी रङ्क ने राजा का अभिनय तो यथावत् किया, किन्तु उसे राजकीय वैभव की सम्पन्नता नहीं है, वह तो रङ्क ही है। यद्यपि जिनलिङ्ग धारण कर वह स्वर्गादिक गति में तो जाता है, किन्तु मोक्ष नहीं होता है।

अब हम क्षमाधर्म के घातक; क्रोध के स्वरूप, भेदों और शमन के उपायों पर विचार करते हैं–

क्रोध कषाय

जीव को स्वयं के प्रति या दूसरों के प्रति अपकार या अनुपकार आदि करने के क्रूर परिणाम; क्रोध[१] है अथवा निष्ठुर, निर्दयी, भयप्रद, उत्पात आदि के परिणाम; क्रोध है। यह पाषाणरेखा, पृथ्वीरेखा, धूलिरेखा और जलरेखा के समान चार प्रकार का है।[२]

क्षमा की अप्रकटता ही; क्रोध है अर्थात् क्षमा को आवरित रखने वाला; क्रोध है। क्रोध एक काषायिक भाव है जो उत्तम क्षमाधर्म का घातक है। क्रोध के वशीभूत जीव विवेक–विहीन हो जाता है। उसे अन्य जनों का उत्कर्ष नहीं सुहाता है, ईर्ष्या-भाव रखता है। वह स्व-पर के घात करने के परिणाम एवं तद्नुसार परिणमन/प्रवर्तन करता है। क्रोध की तीव्रता से उसके हृदय में दाह, नेत्रों में लाली, शरीर के अङ्गों में कम्पन, वचनों में प्रलाप आदि दोष प्रकट हो जाते हैं, जो सभी को प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं।

१. राजवार्तिक ८/९। २. गो.जी.का. पृ. २८४

क्रोध के निमित्त से जीव के हाव-भाव उग्र और हिंसक हो जाते हैं, मस्तिष्क विकृत हो जाता है। मस्तिष्क को लगभग २० प्रतिशत रक्त की मात्रा पर्याप्त होती है किन्तु, क्रोध की अवस्था में रक्त की मात्रा अधिक हो जाती है, उससे मुख, नेत्र लाल हो जाते हैं। उसके वचन अप्रिय, कटुक, कठोर, अशिष्ट, स्व-पर की पीड़ाकारक निकलते हैं, यहाँ तक कि शरीर में रक्त का प्रवाह असन्तुलित हो प्राणान्त तक हो जाता है। क्रोध के वशीभूत जीव स्व-पर का घात कर डालता है।

क्रोध; नरक आदि दुर्गति का कारण है। जैसे द्वीपायन मुनि को क्रोध–कषाय के उदय से क्रोध उत्पन्न हुआ, उससे उनका विवेक नष्ट हो गया। उनके अशान्तरूप व्यग्र परिणाम उग्र हो गये, उससे उनके बायें कन्धे से एक हाथ का अशुभ तैजस शरीर निकला, जिससे द्वारिका नगर का दहन हो गया और स्वयं का भी दहन हो गया।

उत्तम क्षमाधर्म का धारी क्रोध को अपने से भिन्न ज्वर की भाँति रोग जानता है। जैसे ज्वररोग शारीरिक बाह्य-अभ्यन्तर के विकृत कारणों से उत्पन्न होता है। ज्वर में शरीर उष्ण हो जाता है, जो कि शरीर का ही परिणमन है। उसका उपचार करने से ज्वर का शमन हो जाता है। शरीर उष्णता–रहित स्वाभाविक मूल स्वभाव में आ जाता है। वैसे ही क्रोध भी आत्मीक बाह्य-अभ्यन्तर कारणों के विकारी होने से उत्पन्न होता है। बाह्य कारण है– पर पदार्थों के प्रति प्रतिकूलता की मान्यता एवं क्रोध–कषाय का उदय और अभ्यन्तर कारण है– आत्मा का विभावरूप परिणमन होने की योग्यता। क्रोध में आत्मा का परिणमन अति व्यग्ररूप परिस्पन्दित होता है और तद्नुसार शारीरिक परिणमन होता है। निष्कषाय-स्वरूप निजात्मा के आश्रयरूप उपचार से आत्मा सहज शान्त–स्वरूप हो जाता है।

जैसे; ज्वररोग शरीर का ही परिणमन है, शरीर से भिन्न कोई स्वतन्त्र परिणमन नहीं है। ज्वर; ज्वर है, शरीर नहीं; शरीर; शरीर है, ज्वर नहीं; वैसे ही क्रोध आत्मा का ही परिणमन है, आत्मा से भिन्न कोई स्वतन्त्र परिणमन नहीं है। क्रोध; क्रोध है, आत्मा नहीं। आत्मा; आत्मा है, क्रोध नहीं।

यदि क्रोध, आत्मोपयोग में हो तो, क्रोध को आत्मोपयोगरूप हो जाना चाहिए और यदि आत्मोपयोग में क्रोध हो तो आत्मोपयोग को क्रोधरूप हो जाना चाहिए। जबकि ऐसा है नहीं। यदि ऐसा होता तो अचेतन-स्वरूपी क्रोध और चेतन–स्वरूपी आत्मा, दोनों एक हो जाते, दोनों द्रव्यों का लोप हो जाता और अनवस्था दोष उत्पन्न होने से सर्व द्रव्यों का लोप हो

जाता। अत: स्पष्ट है आत्मा का उपयोग; उपयोग है। उपयोग में क्रोध नहीं, क्रोध में उपयोग नहीं है।[१]

उत्तम क्षमाधर्म और क्रोध कषाय में अन्तर

उत्तम क्षमाधर्म	क्रोध कषाय
• उत्तम क्षमाधर्म का जनक; सम्यग्दर्शन है।	• क्रोध का जनक; क्रोध कषाय का उदय है।
• निरपराध स्वरूप है।	• अपराध स्वरूप है।
• अव्यग्र, शान्त उपयोग है।	• व्यग्र, अशान्त उपयोग है।
• पर द्रव्यों की अनुकूलता-प्रतिकूलता के अभावरूप भाव है।	• पर द्रव्यों के प्रति प्रतिकूलता का भाव है।
• त्रैकालिक सहज शुद्ध भाव है।	• तात्कालिक, असहज विकारी भाव है।
• सादि–अनन्त परम पारिणामिक भाव है।	• सादि–सान्त औदयिक भाव है।
• बाह्य-अभ्यन्तर, आत्म-रक्षक एवं सुखस्वरूप भाव है।	• बाह्य-अभ्यन्तर का आत्मघातक दु:खस्वरूप भाव है।
• अकषायमयी शुद्धात्म-धर्म है।	• सकषायरूप अशुद्धात्मा का विकार है।

क्रोध- क्रोध के एकार्थवाची नाम हैं- रोष, गुस्सा, विद्वेष, कोप आदि– जो दुर्गति की उत्पत्ति के लिए जीव की मनोभूमि को कृष करे, वह क्रोध है। जैसे कृषक; फसल की उत्पत्ति के लिए खेत की मिट्टी को वक्र, नुकीले और धारयुक्त उपकरणों से कृष करता है, वैसे ही जीव दुर्गति–गमन के लिए पीड़ाकारक, वधकारक, अहितकर क्रोधरूप परिणाम करता है।

उत्तम क्षमाधर्म–घातक क्रोध–कषाय की उत्पत्ति के कारण-

उत्तम क्षमाधर्म–घातक बाह्य कारण क्रोध कषाय का उदय है और उस क्रोध की उत्पत्ति के बाह्य साधनरूप कारण अनेक हैं। यथा–रोष, गुस्सा, विद्वेष, कोप, शत्रुता, घृणा, तिरस्कार, विरोध, विपरीतता, पर में एकत्व, पर में अभिन्नत्व, अव्यवस्था, मतभेद, परतन्त्रता, पर–सम्बन्ध, कुसङ्गति, बन्धन, अक्रमिकता, निन्दा आदि साधनभूत अनेक कारणों से क्रोध की उत्पत्ति होती है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

क्रोध–कषाय की उत्पत्ति के अन्य और भी अनेक कारण हैं- यथा एकान्त का अभाव, अनेकता, बहुत्व, अव्यवस्था, असङ्गति, अमेल (मेल न होना), पर से सम्बन्ध, अनुपयुक्तता,

१. स.सा. गा. १८१।

विपत्ति, सङ्कट, यातना आदि। इनमें उपयोग जाने से क्रोध उत्पन्न होता है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है अर्थात् उत्तम क्षमाधर्म प्रकट नहीं होता है।

रोषरूप क्रोध- जीव को जब सांसारिक-शारीरिक प्रतिकूलता भासित होती है तब वह प्रतिकूलता और प्रतिकूल सामग्रियों के प्रति नाराज हो जाता है और रुक-रुककर उग्र कलुषित परिणाम होते हैं, वह रोषरूप क्रोध है। जैसे किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा इच्छानुसार कार्य/परिणमन न होने पर उसे डाँट देना, थोड़े समय के पश्चात् अकारण उसी कार्य पर से पुनः-पुनः डाँटना; रोषरूप क्रोध है। इसके निमित्त से जीव के प्रदेशों का अशुभरूप परिस्पन्दन होता है और कृष्ण-वर्णी अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

रोषरूप क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए-

'बाह्य पदार्थों का परिणमन हमारी इच्छानुसार नहीं होता है। अनादिनिधन वस्तुएँ अपनी-अपनी मर्यादा लिये स्वयमेव परिणमन करती हैं। उन्हें कोई परिणमाता नहीं है।[१] बाह्य पदार्थों का परिणमन उत्तम क्षमाधर्म की प्राप्ति एवं वृद्धि के लिए साधक–बाधक नहीं है। उनके प्रतिकूल परिणमन से रोष करना मिथ्या है। अतः अरोष-स्वरूपी निज शुद्धात्मा के आश्रय से उत्तम क्षमाधर्म का संवेदन करने के भाव से रोष ऐसे विलय हो जाता है जैसे सूर्य के प्रकाश से अन्धकार विलय हो जाता है। अतः जीव को निज उत्तम क्षमाधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

गुस्सारूप क्रोध- जीव को चेतन-अचेतन पदार्थों का परिणमन अपने प्रतिकूल प्रतिभासित होने पर जो तीव्र उद्वेगरूप विकृत भाव होता है अर्थात् उसे उच्च स्वर से व्यक्त करते हुये शारीरिक कुचेष्टा करना; गुस्सारूप क्रोध है। गुस्सा से मनुष्य अनर्गल, अप्रिय, कुवचन बोलता है तथा कभी वचनालाप तो नहीं करता है; किन्तु काय से गुस्सारूप कुचेष्टा करता है। जैसे, आँख दिखाना/भौंह चढ़ाना इत्यादि। उससे बच्चे भी समझ जाते हैं कि अभी माता-पिता गुस्से में हैं। बच्चे भी उस काल में माता-पिता से कुछ भी प्राप्ति की इच्छा व्यक्त नहीं करते, वे चुप रहते हैं। वे जानते हैं कि अभी कुछ प्राप्ति नहीं होगी, अपितु हानि हो सकती है। गुस्सा में जीव को परोपकार के भाव नहीं होते हैं, विवेक–शून्य हो जाता है, स्व-पर का घात भी

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक

कर देता है। गुस्सा करने से स्व का घात होने का तो नियम है, परन्तु पर के घात होने का नियम नहीं है, हो भी सकता है और न भी हो। जैसे, राजा अरविन्द ने गुस्से में आकर अपने ही बच्चों को तलवार से मारने का उद्यम किया; किन्तु बच्चों का घात तो नहीं हुआ, अपितु उसी तलवार से स्वयं का घात हुआ और मरणकर नर्क चला गया।

गुस्से में आकर कोई व्यक्ति अन्य किसी को जलाने के लिए अपने हाथ से अङ्गारा उठाकर उसके ऊपर फेंके तो अङ्गारा उठाने वाले का हाथ तो जलेगा–ही–जलेगा, यह तो नियम है; किन्तु सामने वाला जलेगा, यह नियम नहीं है। जले और न भी जले।

गुस्सारूप क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

पूर्व कृत परिणामों के फलस्वरूप प्रतिकूल सामग्रियों का संयोग और उनका प्रतिकूल परिणमन हो रहा है, उसमें उन संयोगी सामग्रियों का कोई दोष नहीं है। सामग्रियों पर गुस्सा करने से स्वयं का कोई लाभ नहीं होगा, अपितु विपरीत भावरूप हानि अवश्य होगी। प्रतिकूल संयोगों में उत्तम क्षमाधर्म–स्वरूप असंयोगी निज शुद्धात्मा का मनन-चिन्तवन या पञ्च परमेष्ठियों के नामों का/स्वरूप का मनन-चिन्तवन, उच्चारण करना चाहिए। अतः जीव को सर्वानुकूल निज उत्तम क्षमाधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

विद्वेषरूप क्रोध- अप्रीति, विषाद, अपकार, अदया आदि भावों को विद्वेष कहते हैं। अनिष्ट विषयों में प्रीति, अपकारियों के प्रति बैरभाव, प्रतिकूल पदार्थों के प्रति दुर्भाव रखना; विद्वेषरूप क्रोध है। अरति, शोक, भय, जुगुप्सारूप नो कषाय के असंख्यात भेद; विद्वेष–रूप क्रोध है।

नाम, स्थापना, आगम द्रव्य, नो–आगम द्रव्य, निक्षेप, ज्ञायक, शरीर और भावी निक्षेपों का कथन सुगम है, ऐसा कह कर उनका कथन न करना; श्री जिनेंद्रदेव–प्रणीत अनन्त धर्मात्मक वस्तु का स्वरूप स्याद्वाद शैली से न कर, एकान्त से कथन करना; स्याद्वाद शैली के प्रति क्षोभ होना, गौण नय के प्रति उपेक्षा भाव का होना– विद्वेषरूप क्रोध है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

विद्वेषरूप क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए, आत्मवस्तु का अनेकान्त स्वरूप दृष्टि में रखकर स्याद्वाद शैली से कथन करना चाहिए।

एकान्त कथन करने से वक्ता और श्रोता दोनों को आत्मधर्म की/उत्तम क्षमाधर्म की प्राप्ति नहीं होती है। मुझे जो प्रज्ञा की प्राप्ति है उसका दुरुपयोग करने से वक्ता-श्रोता अन्यथा श्रद्धानी होकर श्री जिनेन्द्रदेव–प्रणीत वीतराग विज्ञानमयी मोक्षमार्ग से विमुख रह शाश्वत आत्मसुख से वञ्चित रह जायेंगे। भविष्य में प्रज्ञा की प्राप्ति और श्री जिनेंद्रदेव का समागम मिलना दुर्लभ हो जायगा। अत: जीव को अनेकान्त–स्वरूप आत्मवस्तु का कथन नय–सापेक्ष कर, नयातीत उत्तम क्षमाधर्म–स्वरूप निज शुद्धात्मा का अनुभवन करना, निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

कोपरूप क्रोध- मानसिक एवं शारीरिक मनोवाञ्छित सातारूप सामग्रियों की उपलब्धता न होने पर शरीर की विकृत चेष्टा करना, दूसरों को दु:खी करने के लिए करुण-क्रन्दन करना, बनावटी आकुल-व्याकुल होना; कोपरूप क्रोध है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

कोपरूप क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जगत् के जीवों को मनोभिलाषित समस्त साता-सामग्रियों की उपलब्धता तो किसी को भी नहीं होती है। इन सामग्रियों की उपलब्धता पुण्य–कर्म के फल हैं, जो कि सातारूप तो होते हैं; किन्तु सुखरूप नहीं होते हैं। पुण्य–कर्म आत्मा का विभाव-भाव होने से उनके फलों की अभिलाषा नहीं करना चाहिए। अत: जीव को कोपातीत उत्तम क्षमाधर्म–स्वरूप निजात्म सुख में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

शत्रुतारूप क्रोध– जीव को संयोगी चेतन-अचेतन पदार्थों को सुखबुद्धि से भोगनेरूप पञ्चेन्द्रियों के विषय बाह्य शत्रु हैं और उनके प्रति राग-द्वेष के परिणाम अभ्यन्तर शत्रुरूप क्रोध हैं। अर्थात् स्त्री, पुत्र, मित्र आदि चेतन पदार्थ और धन, धान्य, भवन आदि अचेतन पदार्थों को सुखरूप मानकर उनके प्रति अहंकार, ममकार तथा मिथ्यात्व, राग-्द्वेष, विषय-कषायरूप परिणाम बाह्यभ्यन्तर शत्रुतारूप क्रोध है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

दूसरे शब्दों में, जगत् में जीव के साथ स्त्री-पुत्र, धन, गृह आदि का संयोग-वियोग होना, उनका सहज परिणमन है। उनके परिणमन में कभी जीव का अपने अज्ञानवश सुख-दु:ख मानकर अधीर होना तथा स्व शुद्धात्म-स्वरूप के अबोध से द्रव्य-गुण-पर्याय की अन्यथा प्रतीतिरूप कलुष परिणाम करना; शत्रुतारूप क्रोध है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

शत्रुतारूप क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना

चाहिए कि–

जीव को चेतन-अचेतन पदार्थों का संयोग-वियोग समयानुसार सहज होता है। उनकी अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष भाव नहीं करना चाहिए। अपने द्रव्यत्व-गुणत्व-पर्यायत्व–स्वरूप में स्थिर रह सहज अतीन्द्रिय निजात्म सुख में निमग्न रहना चाहिए। जगत् में कोई भी बाह्य पदार्थ अपना शत्रु नहीं है। यदि कोई शत्रु है तो वह है स्वयं का अज्ञान-भाव है। अत: जीव को साम्यभावरूप निज उत्तम क्षमाधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

घृणारूप क्रोध– जीव अपने अज्ञान से अन्य जनों को दु:खी, दीन, दरिद्री, मलिन, देखकर उनके प्रति हीन भावरूप जो कलुष परिणाम करता है तथा अपनी इच्छा के विरुद्ध एवं वीतराग, विज्ञानमयी मार्ग–परम्परा के विपरीत प्रवर्तन करने वालों के प्रति उपेक्षारूप जो परिणाम होता है, वह घृणारूप क्रोध है। अर्थात् जो जीव तत्त्वार्थों के अबोध के कारण वीतराग श्री जिनेन्द्रदेव की परम्परा के विपरीत वृत्ति-प्रवृत्ति करने वालों को श्री जिनेन्द्रदेव की मूल परम्परा के अनुसार समझाने पर भी न समझे, न माने तो उनके प्रति जो असुहावना, उपेक्षणीय भाव होता है वह घृणारूप क्रोध है। अथवा स्वयं को वीतरागमार्ग-परम्परा का बोध एवं प्रवृत्ति होने पर भी अनर्गल प्रवर्तन करने वालों का स्थितिकरण के भाव से मार्ग-परम्परा का बोध एवं प्रवर्तन न करना, उनके प्रति उपेक्षा भाव रखना; घृणारूप क्रोध है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

घृणारूप क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

श्री जिनेन्द्रदेव की अविकल मोक्षमार्ग की परम्परा के विपरीत वृत्ति-प्रवृत्ति करने वाले जीव करुणा के पात्र हैं। उनके प्रति माध्यस्थ भाव रखना चाहिए। उनकी वृत्ति-प्रवृत्ति स्वकीय योग्यतानुसार हो रही है। प्रत्येक जीव का परिणमन स्वतन्त्र है। एक जीव दूसरे जीव को न तो समझा सकता है और न ही उसके प्रवर्तन को परिवर्तित कर सकता है। मरीचि ने भगवान् श्री जिनेन्द्रदेव के समवशरण में द्विव्य ध्वनि द्वारा मोक्ष एवं मोक्षमार्ग का स्वरूप सुनकर भी मार्ग का सरलीकरण कर अन्यथा प्रवर्तन किया। अत: जीव को सर्व जीवों को सिद्ध सादृश्य समझ कर उनकी वृत्ति-प्रवृत्ति का ज्ञाता-दृष्टा रह, स्वातन्त्र्य-स्वरूप उत्तम क्षमाधर्मी निजात्मा में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

तिरस्काररूप क्रोध– व्यक्ति का स्वयं गुणों से हीन होते हुए भी स्वयं को गुणवान, महान समझना तथा गुणवान, महान, आदरणीय, सम्माननीय, पूज्य पुरुषों का उनके पद के अनुरूप आदर, सत्कार, सम्मान, पूजा आदि न करना; उनको अशिष्ट वचनों से अपमानित/तिरस्कृत करना; तिरस्काररूप क्रोध है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

तिरस्काररूप क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

व्यक्ति उत्तम गुणों से आदरणीय, सम्माननीय एवं सम्यक्–चारित्र की सम्पन्नता से ही जगत् पूज्य होता है। जगत् के सभी जीव स्वभाव–दृष्टि से तो उत्तम गुणमयी हैं। गुणों के अशुद्ध-शुद्ध परिणमन की अपेक्षा से अपूज्य-पूज्य का अन्तर होता है। जैसे मिट्टी सिर पर धारण करने योग्य नहीं होती है; किन्तु उसका परिणमन जब घटरूप होता है और जल धारण कर तृषित जनों के कण्ठ को शीतलता देता है तो उसी मिट्टी को सिर पर धारण किया जाता है। अत: मिट्टी तिरस्कार के योग्य नहीं है, वैसे ही जो जीव सम्यग्दर्शन–ज्ञानपूर्वक अणुव्रत, महाव्रत धारण कर वीतराग चारित्र से भवाताप से तपित जीवों को भवरहित आत्म-शान्तिरूप शीतलता प्रदान करते हैं। अत: जीव को उनके प्रति यथोचित सम्मान, पूजा का भाव रखते हुए उत्तम क्षमाधर्ममयी निजात्मा में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

विरोधरूप क्रोध– लौकिक में सज्जन पुरुषों के द्वारा जगत्-हितकर कार्यों के करने में विरोध करना, अवरोध पैदा करना, रुकावट डालना, उनके द्वारा किये गये कार्यों से स्वार्थ-सिद्धि करना; सत्कार्यों को झूठा, मिथ्या, अहितकर सिद्ध करना और स्वयं के असत्, अहितकर कार्यों को सत्, हितकर, प्ररूपित करना; विरोधरूप क्रोध है।

अलौकिक में मोक्ष एवं मोक्षमार्ग की प्ररूपणा में एवं सम्यक् प्रवर्तन करने वालों पर दोषारोपण करना और अपना सांसारिक प्रयोजन विषय-कषायों को पुष्ट करना; विरोधरूप क्रोध है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

विरोधरूप क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

श्री जिनेन्द्रदेव–प्रणीत वीतराग मोक्षमार्ग में निर्ग्रन्थ-मुद्राधारी, रत्नत्रय–सम्पन्न महामुनि ही पूज्य होते हैं। मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन–सहित चारित्र पूज्य है। निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण करने के

अभिलाषी अव्रती, उद्यमी/प्रतिमाधारी, व्रती यथोचित आदर, सम्मान के पात्र होते हैं। हमें मोक्षमार्ग के कार्यों में बाधा न डालकर, स्वयं उसरूप परिणित हो मोक्षमार्ग का प्रचार-प्रसार करना चाहिए। अतः जीव को लौकिक, अलौकिक, अविरोध–स्वरूप उत्तम क्षमाधर्ममयी निजात्मा में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

प्रत्येक वस्तु का परिणमन अविरोधपूर्वक होता है तथा वस्तु के परिणमन के अनुसार ही कारण होते हैं और कारण के अनुसार कार्य होता देखा जाता है। वस्तु के परिणमन के विरुद्ध कारण नहीं होते हैं। जैसे; अग्नि के प्रज्वलन में ईंधन तथा पवन ही कारण होते हैं, जल नहीं; वैसे ही जीव को कर्मों के आस्रव में काय-वचन-मन, मिथ्यात्व, रागादि भाव ही कारण होते हैं अयोग और वीतरागभाव नहीं। वीतरागभाव तो निरास्रव होने का कारण है। आस्रव-बन्ध के कारणों को वीतरागभाव का एवं निरास्रव होने का कारण मानना; विरोधरूप क्रोध है, जिससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

विरोधरूप क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

प्रत्येक द्रव्य का परिणमन जिस क्षेत्र-काल-भाव से और जिस निमित्त से होता है, उसी से उसीरूप होगा। वस्तु के परिणमन में कारण सदैव अनुकूल ही होते हैं। अतः आत्मा के शुद्ध स्वरूप परिणमन में वीतरागभाव ही कारण होते हैं, रागादि भाव नहीं। अतः जीव को वीतरागभाव-स्वरूप उत्तम क्षमाधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

विपरीतरूप क्रोध– लौकिक में किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण यथार्थ परिचय के बिना, किसी संस्थान या घटना की सम्पूर्ण जानकारी के बिना उसके सम्बन्ध में मिथ्या प्रचार करना; लौकिक विपरीत –रूप क्रोध है। अलौकिक में छः द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थों का स्वरूप यथार्थ न समझकर, अपनी इच्छानुसार समझना और अन्य को अन्यथा ही समझाना; विपरीतरूप क्रोध है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

विपरीतरूप क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए–

श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रणीत द्रव्यों, तत्त्वों, पदार्थों का स्वरूप तद्रूप ही है, अन्यरूप नहीं है। श्री जिनेन्द्रदेव वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होने से अन्यथा प्ररूपण नहीं करते

हैं। हमें तो श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रणीत वीतराग–मार्ग का प्ररूपण करना है, किसी व्यक्ति विशेष या संस्थान विशेष का नहीं। अत: जीव को सम्यक् स्वरूप उत्तम क्षमाधर्ममयी निजात्मा में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

पर में एकत्वरूप क्रोध- स्त्री, पुत्र, मित्र, दासी-दास, पशु, गृह, भूमि, धान्य आदि पर पदार्थों में एकत्व मानना, उन्हें ही अपना स्वरूप समझना, उनमें लिप्त रहना तथा परिवार की वृद्धि में अपना विकास, परिग्रह की वृद्धि से अपने जीवन की सफलता मानना, लौकिक उपाधियों की वृद्धि से अपनी महानता समझना और रागादि विकारी भावों को आत्मा का स्वभाव मानना; पर में एकत्वरूप क्रोध है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

पर में एकत्वरूप क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

लोक में सभी द्रव्य, पदार्थ, एकाकी, एकत्व–स्वरूपी है। सभी चेतन-अचेतन पदार्थ स्वचतुष्टय में रहते हैं। एक द्रव्य के चतुष्टय से अन्य द्रव्य के चतुष्टय का परस्पर में कोई भी सम्बन्ध नहीं है। पर–द्रव्यों से अपना विकास एवं प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है। प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणमयी है। प्रत्येक गुण अपने गुण–स्वरूप परिणमन करता है। आत्मा के श्रद्धागुण का शुद्ध विकास अन्यथा श्रद्धान के अभाव से, ज्ञानगुण का सम्यक् विकास संशय-विभ्रम, मोह के अभाव से और चारित्रगुण का अमल विकास रागादि के अभाव से होता है। श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र का परस्पर में सम्बन्ध नहीं है। अत: जीव को पर से एकत्वरूप सम्बन्ध से रहित जानने-मानने और परिणमन से स्व–एकत्व–स्वरूप उत्तम क्षमाधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

पर में अभिन्नत्वरूप क्रोध– जगत् में समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों की सत्ता भिन्न-भिन्न है, सभी स्वकीय सत्ता में रहते हैं। उन्हें अपने से अभिन्न मानना, पर में अभिन्नत्वरूप क्रोध है। क्रोध के वश जीव उनकी अनुकूलता से अपने को सुखी और प्रतिकूलता से दु:खी मानता है। पर–द्रव्यों की प्रतिकूलता से अति क्रोधित हो अपने प्राण तक गँवा देता है।

मनुष्य को प्रशस्त रागादि भाव और शरीराश्रित व्रत-तप आदि क्रियाओं द्वारा चैतन्य-स्वरूप से विरुद्ध विविध प्रकार की ऋद्धि-सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। उन्हें अपनी मानकर सुखी होना; पर में अभिन्नत्वरूप क्रोध है। उससे स्व से अभिन्नत्वरूप उत्तम क्षमाधर्म का

घात होता है।

पर में अभिन्नत्वरूप क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीव चेतन है और जीव से भिन्न पदार्थ अचेतन हैं। जीव का परिणमन जीव में और जीव से भिन्न अन्य समस्त पदार्थों का परिणमन जीव में नहीं है, क्योंकि दो द्रव्यों की एक क्रिया और एक क्रिया के दो द्रव्य नहीं होते हैं।

जीव को मोक्ष की सिद्धि ज्ञानक्रिया से होती है। आत्मज्ञान से शून्य शरीराश्रित क्रियाएँ मोक्षसिद्धि का कारण नहीं हैं। ऐसा आगम में निरूपण किया गया है।

आगम से प्रत्यक्ष जाना-देखा जाता है कि कोई पुरुष ज्ञानक्रिया से युक्त तपश्चरण द्वारा केवलज्ञान-ऋद्धि प्रकट कर शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है और कोई पुरुष ज्ञानक्रिया से शून्य तपश्चरण कर सांसारिक ऋद्धि-सिद्धियों में उलझा रहता है,मोक्ष प्राप्त नहीं करता है। अत: जीव को पर से भिन्न, स्व से अभिन्न ज्ञानक्रियारूप निज उत्तम क्षमाधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

अव्यवस्थारूप क्रोध- लोक में सर्व द्रव्य/पदार्थ/ वस्तुएँ व्यवस्थित रह स्वचतुष्टय में स्वयमेव परिणमन करती हैं। इस अनादिनिधन वस्तु–व्यवस्था को न जानना, न मानना और अपनी इच्छा के अनुसार वस्तुओं के परिणमन कराने का भाव रखना; अव्यवस्थारूप क्रोध है। जीव अन्य पर–वस्तुओं को अपने विषय-कषायों के पोषणार्थ इच्छानुसार परिणमाने का भाव करता है। यदि इच्छानुसार कार्य की सिद्धि हुई तो उन वस्तुओं को व्यवस्थित करने का कर्तव्य मान कर सुखी होता है और इच्छानुसार कार्य की सिद्धि नहीं हुई तो दु:खी होता है।

जीव चेतन-स्वरूप है और जीव में होने वाले रागादि भाव अचेतन-स्वरूप हैं। दोनों का परिणमन व्यवस्थित और स्वतन्त्ररूप से होता है। वे अपनी-अपनी स्वतन्त्ररूप व्यवस्था का उल्लङ्घन नहीं करते हैं। फिर भी चेतन को अचेतन का और अचेतन को चेतन का कर्त्ता जानना-मानना ही अव्यवस्थारूप क्रोध है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

अव्यवस्थारूप क्रोध की निवृत्ति और व्यवस्थारूप उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

अनादिनिधन वस्तुएँ अपनी-अपनी मर्यादा लिए व्यवस्थित रह स्वयमेव परिणमन करती हैं। कोई भी वस्तु अपनी मर्यादित व्यवस्था का उल्लङ्घन नहीं करती है। प्रत्येक द्रव्य/वस्तु

की षट्कारक व्यवस्था उसी द्रव्य/वस्तु में ही होती है। दो द्रव्यों की एक षट्कारक व्यवस्था कहना लौकिक व्यवहाररूप उपचार का कथन है जो कि मनुष्य को स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने से रोकती है। निश्चयरूप वस्तु–व्यवस्था मनुष्य को स्वतन्त्र और स्वावलम्बी बनाती है।

सर्वज्ञदेव के ज्ञान में सभी द्रव्यों का परिणमन व्यवस्थित ही झलकता है। अर्थात् केवलज्ञान में सकल द्रव्य के अनन्त गुण और उनकी अनन्त पर्यायें युगपद् एक ही काल में झलकती हैं। जैसे सर्वज्ञदेव के ज्ञान में द्वारिका नगर की संरचना और विध्वंस के कारण एवं समय यथाक्रम से युगपद् झलक रहे थे। अत: जीव को ऐसी वस्तु की व्यवस्था को जानने-मानने से निज में प्रकट हुआ परम संतोषरूप निज उत्तम क्षमाधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

मतभेदरूप क्रोध– किसी व्यक्ति विशेष के मौलिक विचार को मत कहते हैं। जगत् में सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत वस्तु–स्वरूप का कथन न कर, उससे विपरीत अपने अभिप्राय से कथन करना; मतभेदरूप क्रोध है। जगत् में नाना जीव हैं, उनके नाना कर्म और नाना भाव हैं। एक जीव के कर्म और भावों के अनुरूप अन्य जीव के कर्म और भाव एक समान न होने से परस्पर में अन्तर/भेद दिखाई देता है/ज्ञात होता है। इस प्रकार के अन्तर/भेद से उत्पन्न कलुष परिणाम; मत-भेदरूप क्रोध हैं। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

श्री जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को न मानने वाले एकान्ती मतवाले पुरुष जिनमत को नहीं मानते हैं। जिनमत में वस्तुस्वरूप का निरूपण निश्चय और व्यवहार रूप; दो प्रकार से किया गया है। कोई निश्चय नय सापेक्ष वस्तु-स्वरूप को श्रवण कर, निश्चयाभासी हो जाता है तो कोई व्यवहार नय सापेक्ष वस्तुस्वरूप को श्रवण कर, व्यवहाराभासी हो जाता है। कोई निश्चय–व्यवहार नय सापेक्ष वस्तुस्वरूप को श्रवण कर उभयाभासी हो जाता है। ये तीनों प्रकार की आभासरूप उन्मत्तता; मतभेदरूप क्रोध है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

मतभेदरूप क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

प्रमाण-नय-निक्षेप सापेक्ष वस्तुस्वरूप सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत होने से सम्यक् है। उसे यथावत् वैसा ही जानना-मानना चाहिए। व्यक्ति विशेष के नय–निरपेक्ष विचार, वस्तुस्वरूप का कथन; मिथ्या होता है। वस्तुस्वरूप का कथन नय–सापेक्ष और उसका अनुभवन नयातीत होता है। वस्तु में नय नहीं होते हैं। वस्तु को सर्वांशरूप समझने के लिए नय होते हैं। निश्चय

नय; वस्तु के वास्तविक स्वरूप का कथन करता है और व्यवहार नय; वस्तु के उपचरित स्वरूप का कथन करता है। अत: जीव को अनेकान्त–स्वरूप निज उत्तम क्षमाधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

परतन्त्रतारूप क्रोध- अपने से बड़े जनों के आशीर्वाद, क्रिया-कर्म के अधीन रह कर, सुखी जीवन मानना; परतन्त्रतारूप क्रोध है। उससे स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन का लोप हो जाता है। कोई भी मनुष्य भगवान् के अधीन रह कर भी मोक्ष-सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है। वह संसार-भ्रमणरूप दु:ख ही सहता है। पराधीन/परतन्त्र वृत्ति एवं प्रवृत्ति से उत्पन्न कलुष भाव ही पराधीन/परतन्त्रतारूप क्रोध है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

परतन्त्रतारूप क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए–

पराधीनता से आद्यावधि किसी को भी, कभी भी न सुख मिला है न मिलता है और न कभी आत्म-हित होता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है- **'पराधीन सपने हु सुख नाहीं।'** किसी कवि ने तोते का रूपक बनाकर कहा है- **'पराधीनता सुख नहीं, स्वाधीन सुख मान। सुखी रहत मैं वन विषें, नहीं कनक पींजरे माँहिं।'** तोता विचार रहा है कि पराधीनता ही दु:ख है, सुख नहीं है। सुख तो स्वाधीनता है। मैं वन में स्वतन्त्र रह सुखी रहता हूँ, इस सोने के पिन्जरे में रहना सुख नहीं है। दु:ख ही है।

लोक में समस्त चेतन-अचेतन पदार्थ स्वतन्त्र रूप से परिणमन करते हैं। कोई भी पदार्थ परतन्त्र नहीं है। स्वाधीनरूप स्वतन्त्र वृत्ति ही सुखस्वरूप है। जैसे अनार के फल में उसका छिलका, परत, दाना, रस– इन चारों का स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण स्वतन्त्र परिणमन करता है, वैसे ही आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र का परिणमन स्वतन्त्र होता है। अत: स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन से उत्पन्न आत्म-शान्ति-स्वरूप निज उत्तम क्षमाधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

परसम्बन्धरूप क्रोध- मनुष्य जीव अपना सम्बन्ध पर द्रव्य एवं पर भावों से रखता है, स्व–द्रव्य एवं स्व–स्वभाव से नहीं रखता है। वह चेतन-अचेतन पर–द्रव्यों के सम्बन्ध से उत्पन्न रागादि भावों में भी अपना सम्बन्ध स्थापित रखता है। निजात्मा के आचार-विचारों और स्व-शुद्ध स्वरूप में एकत्वरूप सम्बन्ध नहीं रखता है। पर–द्रव्य एवं परभावों से सम्बन्ध रखकर उसी में ही रमता है। पर में रमण करनेरूप परासक्त परिणाम; पर–सम्बन्धरूप क्रोध

है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

पर–सम्बन्धरूप क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीव का सम्बन्ध पर–द्रव्य एवं पर–भावों से नहीं है। जीव अपने ज्ञान से पर द्रव्य एवं पर–भावों को जानता है; परन्तु उनसे ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है। **नास्ति सर्वोपि सम्बन्धः-** ज्ञान, ज्ञान में ही रहता है और पर–ज्ञेय, ज्ञेयमय ही रहते हैं। ज्ञान; प्रमाता है और ज्ञेय; प्रमेय है, इसलिए पर–द्रव्य ज्ञान का विषय बनते हैं, परन्तु ज्ञान उन पर–द्रव्य के स्वरूप परिणमित नहीं होता है। आत्मा पर–द्रव्यों के सम्बन्ध से रहित है। अत: जीव को पर से असम्बन्धस्वरूप निजात्मा में उत्पन्न परम शान्तिमयी उत्तम क्षमाधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

कुसङ्गतिरूप क्रोध- जगत् के जीव निज शुद्धात्म गुणों की और शुद्धात्म–स्वरूप श्री जिनेन्द्रदेव/पञ्च परमेष्ठियों की सङ्गति को छोड़कर, रागादि भावों एवं सरागी देवी-देवों की सङ्गति करते हैं। उससे आत्मा में जो विकारी भावरूप परिणाम हैं, वह कुसङ्गतिरूप क्रोध है। अर्थात् निजात्मा के सम्यक् श्रद्धान–ज्ञान–चारित्र से विपरीत अश्रद्धान, अज्ञान, अचारित्ररूप प्रवर्तन और कर्मोदय–जनित कर्मफलों को भोगने हेतु उनकी सङ्गति करने से उत्पन्न विविध प्रकार के कलुष परिणाम; कुसङ्गतिरूप क्रोध है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

कुसङ्गतिरूप क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीव; बाह्य में समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों की कुसंगति से रहित और अभ्यन्तर में मिथ्यात्व, राग-द्वेष की कुसङ्गति से रहित, शुद्ध-असङ्ग–स्वरूपी भगवान् आत्मा है। वीतरागी निर्ग्रन्थ मुनि-भगवन्तों को कर्मोदय–जन्य फलों का संयोग देखा गया; परन्तु उन्होंने भोगनेरूप सङ्गति नहीं की। अपितु अभोक्तृत्वरूप निजभाव में स्थित रह निर्वाण को प्राप्त किया। अत: कुसङ्गति से रहित, निज आत्म–स्वभाव की सङ्गति से उत्पन्न परमानन्दस्वरूप उत्तम क्षमाधर्म में स्थित रहना ही श्रेयस्कर है।

बन्धनरूप क्रोध- जीव; बन्धन में रहने से अति दु:खी होता है। व्यक्ति; अन्य जनों को उनकी परिस्थितिवश अपने बन्धन में रखता है। उनके कार्य करने की समयावधि समाप्त होने पर भी उन्हें रोक कर कार्य करवाना, आजीविका का भय दिखाना तथा पशु-पक्षियों को खूँटी से बाँधना, पिञ्जरे में बन्द रखना; बन्धन है। बन्धन से उत्पन्न आक्रोशरूप दु:खद भाव;

बन्धनरूप क्रोध है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

जीव अपने ही अज्ञान से कर्मों का बन्ध करता है और कर्मबन्ध के कारण संसार में भ्रमण करता है। आठों ही कर्मों के बन्धन दुःखरूप ही हैं। कर्म–बन्धन से ग्रसित जीव निर्बन्ध होने का उद्यम नहीं करता है। कर्मबन्धन से उत्पन्न मिथ्यात्व-राग-द्वेष के दुःखरूप परिणाम ही; बन्धनरूप क्रोध है।

बन्धनरूप क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जगत् के सभी जीव बन्धनों से मुक्त हो, सुखी होना चाहते हैं। बन्धन किसी भी प्रकार का हो वह दुःखस्वरूप ही होता है। आत्मा में अशुभ कर्मों का बन्धन सभी को अनिष्ट–स्वरूप और दुःखरूप प्रतीत होता है और शुभ कर्मों का बन्धन सुखरूप प्रतीत होता है। शुभ कर्मों का बन्धन भी आत्मसुख का बाधक होने से दुःखरूप ही है। शुभाशुभ बन्धनों से मुक्त रहना ही सुख है। अतः जीव को अबन्धस्वरूप निज उत्तम क्षमाधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

अक्रमिकतारूप क्रोध- लोक में समस्त द्रव्यों का परिणमन क्रमवर्ती होता है– अक्रमवर्ती नहीं। मनुष्य जब किसी द्रव्य का परिणमन अक्रम से करना चाहता है जो कि होता नहीं है। उससे कलुषित परिणाम होते हैं, वह अक्रमवर्ती क्रोध है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

अक्रमवर्ती क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

द्रव्य के समस्त गुणों के परिणमन को पर्याय कहते हैं। पर्याय का परिणमन क्रमवर्ती ही होता है, अक्रमवर्ती नहीं। क्रमवर्ती परिणमन के यथार्थ ज्ञान से उत्पन्न जो निराकुलतारूप परम शान्ति है, वह उत्तम क्षमाधर्म है; अतः जीव को निराकुल–स्वरूप निज उत्तम क्षमाधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

निन्दारूप क्रोध– पर को कलङ्क लगाना, धिक्कारना, गाली देना, बदनाम करना, बुराई करना, फटकारना; निन्दा है।

वस्तु के यथार्थ स्वरूप को अयथार्थरूप प्रकट करने की इच्छा रखना। अनिष्ट फल–कारक विषय की प्ररूपणा करना। दूसरों को दुःखी करने के लिए अशिष्ट वचनालाप करना, योगों

की वक्रता से पर को कलङ्क लगाना, धिक्कारना, गुणों को दोषरूप बखान करना। स्वयं कषाय के वश वीतरागधर्म से विमुख रहना और अन्यजनों को विमुख करना। अनेकान्त स्वरूप वस्तु का एकान्तरूप कथन करना। अहिंसामयी वीतराग धर्म में हिंसा का पोषण करना; निन्दारूप क्रोध है।

दूसरे शब्दों में, दूसरों की बुराई करना, बदनाम करना, गाली देना उसके अवगुणों को सर्वजन–प्रसिद्ध करना। निर्ग्रन्थ वीतरागी मुनि भगवन्तों की अविकल मार्ग–परम्परा का लोप कर, स्वयं के मौलिक–मार्ग की स्थापना करना। सुदृष्टिवन्त–धर्मी, ज्ञानी, व्रतियों का बहिष्कार/तिरस्कार करना। उनके सद्गुणों का उच्छेद करना। स्वयं के दोषों को छिपाने के लिए, दोषियों की सङ्गति करना। जगत् हितकर वीतराग–मार्ग को क्लिष्ट कारक निरूपित कर, वीतराग–मार्गियों की बुराई करना। ज्ञान–वैराग्य–सम्पन्नों को रागी–द्वेषी सिद्ध करना। उनके गुणों को दोषरूप दिखाकर, पत्र–पत्रिकाओं में लेख लिखना, हीन भाव रखना। वीतराग देव–शास्त्र–गुरु–धर्म की उपेक्षा कर, संसार–शरीर सम्बन्धी विषयों के पोषण के व्याख्यान करना। वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने वालों का उत्साह भङ्ग करना; उन्हें धर्ममार्ग से विचलित करना तथा स्वयं की प्रशंसा करना; निन्दारूप क्रोध है। उससे उत्तम क्षमाधर्म का घात होता है।

निन्दारूप क्रोध की निवृत्ति और उत्तम क्षमाधर्म की प्रवृत्ति के लिये सदैव विचार करना चाहिए कि–

आत्म–साक्षीपूर्वक स्वयं के दोष प्रकट करना और प्रायश्चित्त–विधि से आत्म–शुद्धि करना चाहिए। स्वयं की प्रशंसा और पर के दोषों को प्रकट नहीं करना क्योंकि, स्वयं की प्रशंसा करने से स्वयं के ही दोष प्रकट होते हैं, लघुपुरुष हो जाता है। उसमें सद्गुण प्रकट नहीं होते हैं और दोष ही पुष्ट होते हैं। निन्दा करने से बोधि–समाधि की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है। पर की निन्दा करने से नीच गोत्रकर्म का आस्रव–बन्ध होता है। अत: जीव को मन–वचन–काय–कृत–कारित–अनुमोदना से पर की निन्दा करने का त्याग कर, अनिन्द्य–स्वरूपी उत्तम क्षमाधर्ममयी निजात्मा में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

उत्तम क्षमाधर्म का स्वरूप समझकर सभी आत्माएँ उत्तम क्षमाधर्म–स्वभावी निज शुद्धात्मा में निमग्न रहें; ऐसी मेरी मङ्गल भावना है।

उत्तम मार्दवधर्म

मङ्गलाचरण

मान, शिला–सा अविनयी, स्वात्म–ज्ञान नहिं होय।
उत्तम मार्दवधर्म से, ज्ञानानन्द अति होय।।

आत्मा का उत्तम क्षमाधर्म के समान एक लक्षण उत्तम मार्दवधर्म भी है। आत्मा के उत्तम मार्दवधर्म को तिरोभूत (आवरित) करने वाली मान कषाय है। मान कषाय के अभावपूर्वक उत्तम मार्दवधर्म-स्वभावी निज शुद्ध आत्मा के आश्रय से मृदुतात्मक शान्तिस्वरूप की जो अनुभूति होती है, वह वह उत्तम मार्दवधर्म है। मृदु अर्थात् कोमल परिणाम।

मार्दवधर्म के साथ 'उत्तम' विशेषण, सम्यग्दर्शन का सूचक है। **मृदुर्भावः मार्दवम्**[१] मृदु भाव मार्दव है। अपमान के कारणभूत दोषों का परित्याग कर सहज मृदु प्रवृत्ति करना मार्दव है। अथवा जगत् के जीवों को दुःखी देख उनके दुःख दूर करने का कोमल परिणाम मार्दव है। मार्दव आत्मा का गुण है। उसकी सहज शुद्ध पर्याय उत्तम मार्दवधर्म है। इसमें गुणस्थान के अनुरूप शुद्धि की वृद्धि होती जाती है।

मार्दव वह है, जहाँ मान न हो। कारण में कार्य का उपचार कर व्यवहारनय की विवक्षावश उत्तम मार्दव को ही उत्तम मार्दवधर्म निरूपित किया जाता है।

जिस प्रकार सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है, सम्यग्ज्ञान कारण है और सम्यग्चारित्र कार्य है, उसी प्रकार **उत्तम मार्दव कारण है,** और उससे प्रकट मार्दवस्वरूपी अतीन्द्रिय आत्म–सुख उत्तम मार्दवधर्म कार्य है।

उत्तम मार्दवधर्म के स्वरूप का प्रतिपादन विविध विवक्षाओं से किया जाता हैं–

१. जो मनुष्य उत्कृष्ट ज्ञान–सहित उग्र, उत्कृष्ट तप करते हुए भी उसका मद नहीं करता है, वह उत्तम मार्दवरत्न का धारक होता है।[२]
२. जो ज्ञानी जाति, कुल आदि आठ प्रकार के मद नहीं करता है, वह उत्तम मार्दवधर्म का धारक है।[३]
३. आत्मा के मार्दव गुण की शुद्ध और अशुद्ध दो पर्यायें हैं। मृदुभाव शुद्ध पर्याय है और

---

१. स.सि. ९/६। २. का.अनु. ३९५। ३. भ.आरा. विशे. ४६।

अभिमानरूप अशुद्ध भाव पर्याय है। आत्मा, मृदुभाव से संसार और शरीर सम्बन्धी समस्त प्रकार के विषय–भोगों से विरक्त रहता है और उसे निज चैतन्य–स्वरूप की मृदुतामयी जो शान्ति की अनुभूति होती है, वह उत्तम मार्दवधर्म है।

४. जीव को उत्तम मार्दवधर्म के साथ जब शुभ राग का उदय होता है तब वह दयार्द्र होकर भव्य जीवों को श्री जिनेन्द्रदेव–प्रणीत वीतराग-विज्ञानमयी धर्म का उपदेश कर सन्मार्ग दिखाता है। वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, कर्त्ता-अकर्त्ता, भोक्ता-अभोक्ता, निमित्त–उपादान, निश्चय-व्यवहार नयों का यथार्थ स्वरूप समझाता है।
अन्य जनों के द्वारा अपनी निन्दा किये जाने पर सङ्क्लेशित न होना, अपने पद का मद न करना और प्रशंसा किये जाने पर अपने पद में उन्मत्त न होना; उत्तम मार्दव है। उससे प्रकट परमपदरूप परमानन्दस्वरूप सुख–रस; उत्तम मार्दवधर्म है।

५. गुणवानों की प्रशंसा सहज भाव से करना और उनके समान ही शुद्ध गुणों को प्रकट करने का मृदु भाव; उत्तम मार्दव है। उससे प्रकट शुद्ध गुणमयी मृदुल परमानन्दस्वरूप सुख–रस; उत्तम मार्दवधर्म है।

६. निज शुद्धात्मानुभूति की वृद्धि हेतु निरन्तर सम्यग्ज्ञान के आठ अङ्गों सहित जिनश्रुत का अभ्यास करना; उत्तम मार्दव है। उससे प्रकट श्रुतामृतरूप परम स्वात्मानन्दमयी सुख–रस; उत्तम मार्दवधर्म है।

७. जीव का मोक्षमार्ग एवं मोक्षमार्गियों के प्रति विनम्र भाव होना उत्तम मार्दव है। उससे प्रकट रत्नत्रयमयी परम आत्मानन्दमयी सुख–रस; उत्तम मार्दवधर्म है।

८. संसार-शरीर से सम्बन्धित समस्त विषय–भोगों का और उनके सकल साधनों के प्रति अनासक्त/विरक्तभाव; उत्तम मार्दव है। उससे प्रकट मोक्ष–स्वरूप अतीन्द्रिय परमानन्दमयी सुख–रस; उत्तम मार्दवधर्म है।

९. कर्मोदय जन्य उपाधियों में उन्मत्त न होकर निरुपाधि–स्वरूप निजात्मा में लक्ष्य रखना; उत्तम मार्दव है। उससे प्रकट कर्मोपाधि–विहीन आत्मानन्दस्वरूप सुख–रस; उत्तम मार्दवधर्म है।

१०. स्वयं को जिनश्रुत का विशेष ज्ञान होने पर भी यदि कोई अन्य श्रुत-ज्ञानी, श्रुत के अनुसार अज्ञात विषय का ज्ञान कराये या अपनी कोई भूल-दोष दिखाये तो उसे सहज स्वीकार कर ज्ञान बढ़ाना और निर्दोष प्रवर्तन करना; उत्तम मार्दव है। उससे प्रकट शुद्ध ज्ञान और शुद्ध वीतराग चारित्रमयी परमानन्दस्वरूप सुख–रस; उत्तम मार्दवधर्म है।

११. सभी द्रव्यों को द्रव्यत्व–गुणत्व–पर्यायत्व से जानना-देखना और उनके प्रति अपने भावों में विकृति का न होना; उत्तम मार्दव है। उससे प्रकट अविकृत शुद्ध निजानन्द–स्वरूप सुख–रस; उत्तम मार्दवधर्म है।
१२. भवलीन (संसारी) जीवों को संसार–पर्यायरूप से दीन-हीन न देखना। उन्हें भी सिद्ध–सादृश देखना; उत्तम मार्दव है। उससे प्रकट सिद्ध–सादृश निजात्मानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम मार्दवधर्म है।
१३. संसारी जीवों को कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का भोक्ता न देखना और उन्हें भी ज्ञानचेतना का भोक्ता देखना; उत्तम मार्दव है। उससे प्रकट ज्ञानचेतना–स्वरूप परमानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम मार्दवधर्म है।
१४. लौकिक, अनुकूल बाह्य सर्व विभूति के प्रति निरपेक्ष भाव; उत्तम मार्दव है। उससे प्रकट अलौकिक स्वात्म–विभूति का परम आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम मार्दवधर्म है।
१५. संयोग एवं संयोगी भावों से भिन्न, एकाकी-एकत्वमयी निजात्मा का बहुमान; उत्तम मार्दव है। उससे प्रकट अभेद–स्वरूप निज शुद्ध आत्मा का आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम मार्दवधर्म है।
१६. इन्द्रिय–चक्षु से दिखायी देने वाले समस्त पदार्थों पर से दृष्टि हटाकर, ज्ञान-चक्षु से दृष्टि गोचर निज शुद्धात्मस्वरूप को देखना; उत्तम मार्दव है। उससे प्रकट ज्ञानानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम मार्दवधर्म है।

उत्तम मार्दव धर्म के भेद–

विनयरूप उत्तम मार्दवधर्म- स्वयं के और अन्य जनों के मोक्षमार्ग के प्रति विनयसहित बहुमानभाव रखने से उत्तम मार्दवधर्म प्रकट होता है। विनय से आत्मिक शाश्वत सुख का अनुभव किया जाता है। विनयधर्मी इस लोक में शुद्धात्म सेवियों के प्रति अति आकृष्ट रहता है, बाह्य में साता के अनुकूल साधन एवं सामग्रियाँ न होने पर भी अयाचक वृत्ति-प्रवृत्ति सहित विनम्र रहता है। वह जानता-मानता है कि मेरे पास तो स्वात्म-शान्ति–स्वरूप अविनश्वर वैभव है। जगत् के अनुकूल–प्रतिकूल बाह्य साधन–सामग्रियों का संयोग-वियोग तो अनन्त बार हुआ है। उससे सुखी-दु:खी होकर संसार का भ्रमण ही बढ़ा है।

लोक-अलोक में राजा, महाराजा, चक्रवर्ती आदि पदों को प्राप्त करके भी अतिशय विनय–सम्पन्न रहना, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र के धारकों एवं रत्नत्रय के अभ्यासियों के प्रति

उनके पद के अनुरूप विनयवान रहना, स्वयं भी रत्नत्रय को धारण कर, अन्य जनों के प्रति सविनय प्रवर्तन कराना; विनयरूप उत्तम मार्दवधर्म है। विनय से सर्व गुणों में शुद्धता आती है। अत: विनयवान को व्रत, शील, संयम का धारण करना सफल होता है।

लौकिक में भी विनयी शिष्य को गुरु सर्वस्व अर्पण करना चाहता है। विनय से विद्या, ज्ञान, सुख की प्राप्ति होती है। किसी कवि ने कहा है-

विनय बिना विद्या नहीं, विद्या बिन नहिं ज्ञान।
ज्ञान बिना सुख न मिले, यह निश्चय करि जान।।

पिता अपनी सम्पत्ति विनयी पुत्र को देना चाहता है। कोई भी व्यक्ति विनयपूर्वक किसी से बोले कि मेरा यह कार्य कर दीजिये तो वह उसके कार्य को सहज सहर्ष शीघ्र ही कर देता है।

संस्तवनरूप उत्तम मार्दवधर्म- वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी श्री जिनेन्द्रदेव का संस्तवन शुद्ध त्रियोगपूर्वक योग्य काल में यथोचित विधि से करना; उत्तम मार्दवधर्म है। उत्तम मार्दवधर्मी राजा भरत को तीन समाचार (चक्ररत्न की प्राप्ति, पुत्र का जन्म और श्री आदिनाथ जिनेन्द्रदेव को केवलज्ञान की प्राप्ति) एक साथ सुनने को मिले। पर, उन्होंने सर्व प्रथम श्री १००८ आदिनाथ जिनेन्द्रदेव के केवलज्ञान की पूजा कर संस्तवन किया। १०८ आचार्य मानतुङ्गदेव ने तीर्थंकर १००८ श्री ऋषभदेव स्वामी का संस्तवन किया। १०८ आचार्य मानतुंगदेव की श्री जिनेन्द्रदेव के प्रति मार्दवता उनके द्वारा रचित 'भक्तामर' स्तोत्र के प्रत्येक काव्य में स्पष्ट प्रस्फुटित (झलक) हो रही है। उन्होंने स्वयं को श्री जिनेन्द्रदेव के संस्तवन करने का अल्पज्ञ और जिनश्रुतज्ञों द्वारा परिहास का पात्र स्वीकार किया है। आचार्यदेव ने श्री जिनेन्द्रदेव के गुणों का मुग्ध होकर संस्तवन किया है। जैसे कोयल आम्र मञ्जरियों की सुगन्ध से मुग्ध हो कर अप्रयास ही कुहू-कुहूरूप मधुर ध्वनि का गुञ्जन (गुनगुनाना) करती है।[१]

सुमतिरूप उत्तम मार्दवधर्म- सुमति उत्तम मार्दव धर्म की आधार है। उसमें कुमति का प्रवेश नहीं है। सुमति से बाह्य-अभ्यन्तर सर्व प्रकार की सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। सुमति सूर्य की भाँति है। जैसे सूर्य–प्रकाश, प्रकाशक; और अन्धकार–विनाशक है, वैसे ही सुमति; उत्तम मार्दवधर्म की प्रकाशक और मदरूप अन्धकार की विनाशक है।

सुमतिरूप उत्तम मार्दवधर्म में हठ का कोई स्थान नहीं है। वस्तु का स्वरूप समझने-समझाने और प्रवर्तन करने में सहजता होती है। सुमतिरूप उत्तम मार्दवधर्मी; फलों से युक्त

१. अल्पश्रुतं....। यत्कोकिल:.... हेतु। –भक्तामर स्तोत्र

आम्रवृक्ष की भाँति होती है। जैसे आम्र वृक्ष, फलों के पकने पर, हवा के झोंके से सहज फलों को गिराता है, पत्थर मारने वाले को भी आम्र; फल ही देता है, वैसे ही सुमतिरूप मार्दवधर्मी जगत् के जीवों को वीतराग मार्ग का उपदेश यथाकाल उसकी जिज्ञासा का समाधान के हेतु सहज ही करता है। कदाचित् कोई उन्मार्गी भी शङ्का का समाधान चाहे तो उसे भी धर्म–वृद्धि का आशीर्वाद प्रदान कर उसकी शङ्का का समाधान करता है।

सुखस्वरूप उत्तम मार्दवधर्म- उत्तम मार्दवधर्म सुखस्वरूप आनन्द का जनक है। मनुष्य; अपने शुद्धात्म गुणों में नम्रीभूत रहता हुआ स्वात्म का चिन्तन-मनन करता है कि मैं शाश्वत ज्ञानादि अनन्त गुणों का पुञ्ज शुद्धात्मा हूँ, अविनश्वर अतीन्द्रिय निराबाध सुखस्वरूपी हूँ। इन्द्रियजन्य सुख आदि तो विनश्वर, पराधीन, बाधासहित, दुःख–स्वरूपी है।[१]

उत्तम मार्दवधर्मी संसारी जीवों को स्वभाव की दृष्टि से अभेद जानता हुआ भेद नहीं करता है और उनकी विभाव पर्याय को जानकर उनके प्रति हीनता की दृष्टि नहीं रखता है। भेद-दृष्टि संसारी जनों की होती है।

जो निगोद में सोही मुझमें, सोही मोक्ष मँझार।
अन्तर भेद कछु है नाहीं, भेद गिने संसार।।

स्वभाव–पर्याय और विभाव–पर्याय के भेद से अपने को ज्ञानी और अज्ञानी, उच्च-नीच, मुक्त-बन्ध देखना-जानना और मानना तो संसार के भ्रमणरूप दुःख का कारण है।

विद्याजनक उत्तम मार्दवधर्म- मोक्षमार्ग के अनुकूल अनेक विद्याओं का जनक उत्तम मार्दवधर्म है। लोक में अनेक प्रकार की विद्याएँ हैं, उनमें उत्तम विद्या निज शुद्धात्मा के ज्ञान की है और सर्वोत्तम विद्या केवलज्ञान है। उत्तम मार्दवधर्म के साथ जगत्–हितकर लौकिक विद्याएँ विकसित और सुशोभित होती हैं।

उत्तम मार्दवधर्मी में ही जगत्–हितकर सकल विद्याओं का प्रवेश और निवास होता है। मार्दवधर्म के अभाव में हितकर विद्याओं का प्रवेश तो होता ही नहीं है, अपितु प्रकट विद्याएँ नष्ट हो जाती हैं। अमार्दव भाव तो हितकर विद्याओं की प्रकटता/उत्पत्ति के लिए बञ्जर भूमि है। जैसे बञ्जर भूमि में धान्य उत्पन्न नहीं होता है, वैसे ही अमार्दव भाव में सुहितकर विद्याएँ प्रकट नहीं होती हैं। अर्थात् विद्या प्राप्ति की योग्यता नहीं होती है। श्री राम ने लक्ष्मणजी को विद्याएँ सीखने के लिए मरण-शय्या पर पड़े रावण के पास भेजा। लक्ष्मणजी, रावण के सिर के पास खड़े होकर बोले– हे रावण! तुम मुझे अपनी विद्याएँ सिखाओ। रावण; लक्ष्मण के वचन सुनकर भी मौन

१. सपरंबाधा...। –प्र.सा.७६

रहा। लक्ष्मणजी वहाँ से लौट आये और सम्पूर्ण वृतान्त श्री राम को सुनाया। राम ने लक्ष्मण द्वारा सम्पूर्ण वृतान्त सुनकर लक्ष्मण को पुनः आदेश दिया। हे लक्ष्मण! इस बार तुम रावण के सिर की ओर नहीं, उसके पैरों की ओर सविनय खड़े होकर विद्याएँ सीखने की प्रार्थना करना। वह तुम्हें विद्याएँ अवश्य सिखायेगा। लक्ष्मण ने जब पैरों के पास कर–बद्ध खड़े होकर विद्याएँ सीखने के लिए प्रार्थना की, तब रावण ने उन्हें सुपात्र, विनयी समझकर अनेक विद्याएँ सिखायीं।

साम्यभाव–स्वरूप उत्तम मार्दवधर्म- उत्तम मार्दवधर्म के धारक को बाह्य में अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों के होने पर उनके प्रति इष्ट-अनिष्ट भाव न होने से वह साम्य–भावमयी रहता है। वह जानता-मानता है कि बाह्य संयोगी पदार्थों से मेरा न तो कोई हित होता है और न कोई अहित। मेरा हित-अहित तो मेरे ही शुद्ध-अशुद्ध भावों से होता है। पुण्य के फलरूप बाह्य अनुकूल पदार्थों का संयोग तो पुण्य क्षीण होने पर या आयु के क्षय होने पर स्वयमेव छूट ही जाता है। बाह्य सामग्रियाँ किसी को भी अनुकूल या प्रतिकूल नहीं होती हैं। बाह्य सामग्रियाँ तो पुण्य-पाप के फल भोगने को होती हैं। पुण्य–उदय के समय जिस सामग्री से सातारूप फल भोगा जाता है, पाप–उदय के समय उस ही सामग्री से असातारूप फल भी भोगा जाता है। जैसे पुण्य–उदय के समय रत्नजड़ित आभूषणों से शरीर को अलङ्कृत कर सातारूप फल भोगा जाता है और पापोदय के समय चोरों द्वारा छीने/चोरी किये जाने पर असातारूप फल भी भोगा जाता है। यह जानकर मार्दवधर्मी अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में साम्य–भावमयी रहता है। वह बाह्य विपुल वैभव के संयोग को पुण्य का फल जान कर उसे अपने से भिन्न जानता है। वह अपना वैभव तो निजात्म ज्ञानमयी अनन्त गुणों की निधि/विभूति को जानता है।

स्वाश्रयरूप उत्तम मार्दवधर्म- उत्तम मार्दवधर्मी स्वाश्रित बुद्धि से मृदुता में अपना हित मानता है, उसी में सन्तुष्ट रह आनन्दित रहता है। वह जानता है कि पराश्रित बुद्धि से पुरुषार्थहीन हो पुण्य के फलों को भोगने की इच्छा बढ़ती है। जिनागम में तो श्री जिनेन्द्रदेव के आश्रित बुद्धि को भी पराश्रित बुद्धि निरूपित किया है। स्वाश्रित बुद्धि से ही मुक्ति होती है, पराश्रित से नहीं।

निश्चय नय की अपेक्षा से निज शुद्धामा के आश्रय से प्रकट बुद्धि को ही स्वाश्रित निरूपित किया है। व्यवहार नय की अपेक्षा पञ्च परमेष्ठी के आश्रित बुद्धि को भी स्वाश्रित और मार्दवधर्म–स्वरूप प्ररूपित किया गया है।

मान कषाय

अब यहाँ मार्दवधर्म के घातक मानकषाय के स्वरूप, भेदों और शमन के उपायों पर विचार करते हैं।

मार्दव की अप्रकटता ही मान है। अर्थात् मार्दव को आवरित रखने वाला मान है। जीव को अपकारक, प्रशंसाकारक, साता–सम्मानदायक पद–प्रतिष्ठा आदि निमित्त कारणों के मिलने पर निज मृदु भावों का विस्मृत होना और उन निमित्त कारणों से अपनी महिमा–मण्डन मानने रूप परिणाम; मान है।[१]

उत्तम मार्दवधर्म का घातक; मान है जो कि एक कषायरूप है। 'मान' के एकार्थवाची– अभिमान, घमण्ड, अहंकार, मद, गर्व, सम्मान, आत्म–सम्मान, आत्म–निर्भरता, गर्व, स्तब्धता आदि अनेक नाम हैं।[२]

जाति, कुल आदि आठ मदों से उन्मत्त हो अन्यजनों के प्रति विनम्र न होना; मान कषाय है।[३]

विज्ञान, ऐश्वर्य, जाति, कुल, तप और विद्या– इनमें से किसी एक या अनेक के निमित्त से उत्पन्न उद्धत परिणाम मान हैं।[४]

कवित्व-कौशल के कारण समस्त जनों द्वारा पूजित; कुल, जाति की विशुद्धता, अनुपम बल की प्राप्ति, सम्पत्ति की वृद्धि, भोगों की प्रचुर विलासता, ऋद्धि-सिद्धियों की प्रकटता और शारीरिक लावण्य की अधिकता से होने वाला अहंकार का भाव; मान कषाय है।[५]

मान के भेद- मान चार प्रकार का होता है- १. पाषाणरूप, २. हड्डीरूप, ३. लकड़ीरूप और ४. लतारूप।

मान की उत्पत्ति- मान की उत्पत्ति का मूल अभ्यन्तर कारण तो मान कषाय का उदय है और बाह्य कारण पर पदार्थों के प्रति कर्तृत्व–बुद्धि है। लोक में समस्त पदार्थों का कार्यरूप परिणमन स्वकीय योग्यतानुसार, स्व-काल में होता है। मनुष्य पदार्थों के स्वतन्त्र परिणमित होने पर स्वयं को उनका कर्ता मानता है तब मान कषाय की उत्पत्ति होती है। यथा- मैंने; मन्दिर, धर्मशाला बनवाये, कुएँ खुदवाये, पाठशाला, औषधालय खुलवाये, समाज को एक सूत्र में बाँधा आदि से मान उत्पन्न होता है।

---

१. गो.जी.का. २८५। २. ध. १/१। ३. रा.वा ९/६। ४. ध. १३/२। ५. नि.सा.ता.वृ. ११२।

मान के सद्भाव में मृदुता विलुप्त/समाप्त हो जाती है। व्यक्ति स्वयं हीन होने पर भी अपने को महान् समझता है और अन्य महान् जनों को अपने से हीन समझता है। वह मान के पोषणार्थ विविध प्रकार के आयोजनों में वित्त (रुपयों) का दान देता है; व्रत, शील, संयम का पालन करता है, घर-परिवार को छोड़कर वन में निवास करता है। यहाँ तक कि मान-सम्मान पाने की प्रबल अभिलाषा से षट्रस युक्त भोजन आदि का भी त्याग करता है।

व्यक्ति; मान कषाय के वशीभूत होकर, आत्महित को छोड़ देता है और लौकिक ऋद्धि-सिद्धियों में प्रवर्तित रहता है। मान-सम्मान पाने के लिए अपना सङ्ग्रहित द्रव्य का व्यय, अनायतनों में,अनुचित सांसारिक कार्यों में, पञ्चेन्द्रियों के विषय–भोगों में करता है। विकास के नाम पर आरम्भ, परिग्रह की वृद्धि कर अपने को धर्मात्मा मानता है।

'मान' द्वेषरूप भाव है और दुर्गति में गमन का कारण है। मान का पोषण न होने पर एक जाति, एक ही सम्प्रदाय के लोग, एक ही धर्म के अनुयायी परस्पर में द्वेषभाव रखते हैं। विद्वत्जन भी मान-सम्मान, धन आदि की प्राप्ति हेतु अनेकान्त–स्वरूप वस्तु का व्याख्यान स्याद्वाद शैली से न कर, नय-पक्षपाती श्रोताओं की अपेक्षा के अनुरूप एकान्त–स्वरूप व्याख्यान करते हैं। एकान्ती वक्ता और श्रोताओं के परिणाम अति कठोर और स्वार्थसिद्धि के होते हैं। मानी का अच्छा गुण भी मणिधर सर्प के समान होता है। जैसे मणिधर सर्प के पास उत्तम बहुमूल्य मणि तो है; किन्तु वह अति विषैला है, वैसे ही मानी विद्वान् व्यक्ति के पास उत्तम अमूल्य जिनश्रुत का ज्ञान तो है; परन्तु वह मान–पोषक गरल से अति विषैला है, जगत् को अहितकर है।

लोक में एक कथानक प्रसिद्ध है- किसी ज्ञानी के द्वार पर याचक आया और उसने दीनता से याचना की। मानी ने द्वार खोले बिना ही याचक को बोला- चल, आगे बढ़, पुन: कभी मत आना। यह सुनकर याचक बोला ''झका झोल, टटा खोल, देना नहीं तो सीधे तो बोल।''

मानी व्यक्ति अन्य जनों के सद्गुणों को आवरित कर उन्हें असद्रूप/दोषरूप दिखाता है और अपने दुर्गुणों को सद्गुणरूप दिखाता है। मानी मरण कर हाथी की पर्याय धारण करता है। हाथी का सिर तो बड़ा; किन्तु सूंड लम्बी पृथ्वी से घिसटती है। मान के वश रावण नर्क चला गया। मान का पोषण करने वाला राजा वसु भी नर्क चला गया। **'मान महा विषरूप करहिं नीच गति जगत् में'।**

मान कषाय- उत्तम मार्दव धर्म की घातक मान कषाय का उदय है। मान के अनेक पर्यायवाची भेद दिखाई देते हैं- १. हठ, २. अभिमान, ३. घमण्ड, ४. गर्व, ५. अहंकार, ६. दम्भ, ७. सम्मान, ८. अपमान, ९. भोगोपभोग, १०. मद, ११. आश्रय, १२. प्रतिष्ठा, १३. सादृश्यता, १४. दयार्द्रता, १५. व्यक्तित्व, १६. विनय, १७. आडम्बर, १९. ज्ञान, २०. पूजा, २१. कुल, २२. जाति, २३. बल, २४. ऋद्धि, २५. तप, २६. शरीर आदि अनेक साधनभूत कारणों से मान की उत्पत्ति होती है। उससे मार्दवधर्म स्वभावी आत्मा का घात होता है।

हठरूप मान- हठरूप मान में हठ की प्रचुरता (बहुलता) प्रबल होती है। हठ के कारण व्यक्ति दुराग्रही हो जाता है, अपनी बात को मनवाने के लिए अड़े रहने की वृत्ति और प्रवृत्ति होती है। वह पूज्य पुरुषों के द्वारा वस्तु–स्वरूप को यथार्थ समझाने पर भी न समझता है और न मानता है। अपितु सत्य स्वरूप समझाने वालों से/को बलात् अपनी असत्य बात, सत्यरूप मनवाना चाहता है। उसके परिणाम इतने हठी होते हैं कि वस्तु के सत्य स्वरूप को समझने पर भी न तो सत्य कहता है और न ही स्वीकार करता है। उसे स्व-पर के हित-अहित का विवेक नहीं रहता है। वह अपनी ही बात को सत्य और अन्य की सत्य बात को असत्य मानता है। उससे उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

हठरूप मान की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म को प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीव मार्दव–स्वभावी ज्ञानात्मा है। उसके शाश्वत स्वभाव में हठरूप दुराग्रह का कोई स्थान नहीं है। पूज्य पुरुषों द्वारा प्रणीत वस्तु-तत्त्व ही यथार्थ है। जीव को पूर्वाग्रह छोड़कर यथार्थ स्वरूप को सहज ही स्वीकार करने को तत्पर रहना चाहिए। अन्य जनों को भी वस्तु स्वरूप यथार्थ ही समझाना चाहिए; क्योंकि उत्तम मार्दवधर्ममयी निजात्मा में निमग्नता ही आत्म–हितकर है। अत: जीव को सहज ज्ञानस्वरूप निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

अभिमानरूप मान- अपने द्वारा किये गये कार्यों का बढ़ा-चढ़ाकर बखान करना तथा चाटुकार प्रशंसकों द्वारा की गई प्रशंसा में उन्मत्त रहते हुए आत्महित का भाव न रहना; अभिमानरूप मान है। अभिमान के वशीभूत व्यक्ति अल्प ज्ञान में ही अपने को पूर्ण ज्ञानी मानता है। लौकिक में एक कथानक प्रचलित है। किसी गुरु ने अपने शिष्य को युद्धकला में

प्रशिक्षित किया। शिष्य युद्धकला में निपुण हो गया। उसे अपनी युद्धकला पर अभिमान हो गया। उसने अपने गुरु से ही युद्ध करने की ठानी। एक दिन उसने अपने गुरु से बोला- गुरुजी! मैं आपसे युद्ध करना चाहता हूँ। आपको पराजित कर, अजेय योद्धा बनना चाहता हूँ। गुरु ने शिष्य की बात स्वीकार कर ली। गुरु ने एक हाथ लंबी तलवार को तीन हाथ लम्बी म्यान में रख ली। शिष्य को ज्ञात हुआ कि गुरुजी ने तीन हाथ लम्बी तलवार बनवाई है, तो शिष्य ने लौहार से पाँच हाथ लम्बी तलवार बनवायी। दोनों युद्ध क्षेत्र में पहुँचे। ज्यों ही युद्ध का बिगुल बजा तो गुरुजी ने एक हाथ लम्बी तलवार को तीन हाथ लम्बी म्यान से निकालकर शिष्य के सीने पर अड़ा दी, जबकि शिष्य पाँच हाथ लंबी तलवार निकालता रह गया। तब वह बोला— गुरुजी! आपने यह विद्या तो सिखायी ही नहीं। शिष्य को लज्जित हो सिर झुकाना पड़ा।

अभिमानी व्यक्ति, कूपमण्डूकवत् रहता है। वह विचारता है– मेरे पास जितना ज्ञान है, बाह्य वैभव है उतना ज्ञान, वैभव अन्य किसी के पास नहीं है। मैंने जो वैभव सङ्ग्रह किया है, वह अपने ज्ञान और पुरुषार्थ से किया है। किसी का न सहयोग लिया है और न अपेक्षा रखता हूँ। अपने से अल्प ज्ञान और अल्प धनवानों से वार्तालाप करने में, उनके समीप बैठने में असुहावना लगता है। सांसारिक विषय–भोगों में आसक्तजनों के संसर्ग में रहना और अपने को महान् मानना; अभिमानरूप मान है। उससे उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

अभिमानरूप मान की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीव को अलौकिक कार्यों में निमग्न रहना चाहिए। लौकिक कार्य तो पुद्गल की स्वकीय योग्यता और भव्यजनों के भाग्य से स्व–काल में सहज होता है। जीव तो लौकिक कार्यों का सर्वथा अकर्ता है। कतिपयजनों ने तो जिन मन्दिर सम्पूर्ण बनवाया और अन्त में अपने को उसका अकर्त्ता मान कर मन्दिर का आधिपत्य एवं स्वामित्व समाज को समर्पित कर दिया। निरभिमानी को लौकिक कार्यों एवं बाह्य ज्ञान, वैभव से अलिप्त रहना चाहिए। बाह्य कार्यों में अलिप्त रहने से अभिमान नहीं आता है। अत: जीव को निरभिमान–स्वरूप निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

घमण्डरूप मान- व्यक्ति को घमण्ड प्राप्त सामग्रियों और उपाधियों का होता है, अप्राप्त का नहीं। व्यक्ति के पास जब साता भोगने के अनुकूल बाह्य सामग्रियों और साधनों की बहुलता

और सामाजिक उपाधियों की प्राप्ति हो जाती है तब वह स्वयं को महान् समझता है जो घमण्डरूप मान है। मान के वशीभूत व्यक्ति सुमार्ग/मोक्षमार्ग से च्युत होने लगता है और सांसारिक आयोजनों में मग्न रहता है। वह जगत् जनों के समक्ष अपनी निराधार महिमा प्रदर्शित करता है। वह अपने क्षायोपशमिक ज्ञान से भाषा, न्याय-व्याकरण का विशेष ज्ञाता होने पर अन्य अल्प क्षयोपशम ज्ञानियों को अपने से हीन समझता है। ज्ञान के घमण्ड में यहाँ तक भी कहता है कि मैंने मुनि-भगवन्तों को पढ़ाया है। लोक में मेरे समकक्ष अन्य कोई ज्ञानी नहीं है। मेरे द्वारा शिक्षित-प्रशिक्षित अनेक शिष्य-प्रशिष्य हैं। इस प्रकार के भाव घमण्डरूप मान हैं। उससे उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

घमण्डरूप मान की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

साता वेदनीय कर्म के फल भोगने को सामग्रियाँ और साधनों, उपाधियों की प्राप्ति होती है। उनकी प्राप्ति में जीव कारण नहीं है; क्योंकि चेतन-अचेतन समस्त वस्तुएँ स्व–द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावरूप स्वयं की योग्यतानुसार परिणमन करती हैं। ये सामग्रियाँ पुण्य कर्म के विपाक में सातारूप और ये ही सामग्रियाँ पाप के विपाक में असातारूप फल देती हैं। क्षायोपशमिक ज्ञान तो बाह्य, अभ्यन्तर कारणों की विपरीतता से विपरीत हो जाता है, नष्ट भी हो जाता है; अतः जीव को निज शुद्धात्म गुणों का वैभव और केवलज्ञान प्राप्ति का उद्यमी रहते हुए निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

गर्वरूप मान- स्वयंकृत या अपने इष्टजनकृत राष्ट्रीय, सामाजिक या पारिवारिक सत्कार्यों के होने पर अपने को उच्च/महान् अनुभवन करना; गर्व है। मेरा देश धर्म निरपेक्ष, परोपकारी, साम्यभावी है। मेरा समाज उच्च शिक्षित है। समाज के अधिकतर लोग शासकीय उच्च पदों पर सेवारत/कार्यरत हैं। मेरे परिवार के सदस्य विद्वान्, संयमी, त्यागी, व्रती हैं। मेरे परिवार के लोग मुनि हैं। मैं भी विद्वान् हूँ, संयमी हूँ। जगत्–जन मेरा आदर-सत्कार करते हैं। इस प्रकार के भावों में आत्मीयता; गर्वरूप मान है। उससे उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

गर्वरूप मान की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

राष्ट्र, समाज, परिवार मेरे शुद्धात्म स्वभाव से सर्वथा भिन्न हैं। पर कृत कार्यों से गर्व करना भले ही व्यवहार दृष्टि से उचित हो; किन्तु आत्मधर्म की दृष्टि से इनका गर्व करने से

व्यक्ति का उत्थान की अपेक्षा पतन अधिक होता है। लौकिक में परिवार का कोई सदस्य मोक्ष, तो कोई स्वर्ग, तो कोई नर्क जाता है। यथा; रावण नर्क और उसका पुत्र आदिकुमार, भ्राता कुम्भकरण मोक्ष गये हैं। जगत् के सभी जीवों का परिणमन स्वतन्त्र और स्वयं की योग्यतानुसार होता है। अत: जीव को गर्व रहित निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

अहंकाररूप मान- व्यक्ति का चेतन-अचेतन पर पदार्थों के परिणमन को अपने अनुकूल मानना और उनके प्रति होने वाले रागभाव में एकत्व-ममत्व बुद्धि करना; अहंकाररूप मान है। अहंकारी समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों को अपने अधीन रखना चाहता है। उनके परिणमन प्रतिकूल प्रतीत होने पर बलात् अपने अनुकूल परिणमित करना चाहता है। यदि अनुकूल परिणमित न हो तो उनका विनाश करने का उद्यम करता है। वह पर पदार्थों की वृद्धि से अपनी वृद्धि, उनके लाभ से अपना लाभ मानता है। अहंकारी, अपने अहंकारके पोषणार्थ अपने प्रशंसकों के प्रति प्रीति करता है। अहंकारी अपना अधिकांश समय विकथाओं में गमाता है और श्रोताओं की शंकाओं का समाधान, पृच्छक को प्रसन्न रखने के लिए उसकी मान्यता के अनुरूप करता है। इस प्रकार के अहंकार भावों से उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

अहंकाररूप मान की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीव पर–पदार्थों और पर–भावों से सर्वथा भिन्न पदार्थ है। उनके निमित्त से जीव में होने वाले रागादि भाव, निजात्म–स्वरूप नहीं हैं। जीव का स्वरूप तो चैतन्य मात्र है। जीव का स्वभाव पर द्रव्यों/पदार्थों के परिणमन को जानने का है, उन्हें परिणमित करने का नहीं। लोक के सर्व पदार्थों के परिणमन में साम्य भाव रखना और पृच्छकों को वीतरागतारूप समाधान कर उन्हें वीतराग मोक्षमार्ग में स्थित रखना और स्वतन्त्रता एवं स्वावलम्बन का धर्मोपदेश देना चाहिए। अत: जीव को शुद्धात्मस्वरूप निज उत्तम मार्दवधर्म में स्थित रहना श्रेयस्कर है।

दम्भरूप मान- लौकिक या अलौकिक किसी कार्य विशेष को करने में सक्षम न होने पर या कार्य करने के लिए साधन एवं सामग्रियाँ उपलब्ध न होने पर भी अन्य के समक्ष स्वयं को सक्षम प्रदर्शित करना; दम्भ है। दम्भी व्यक्ति अपनी अक्षमता छिपाने के लिए अपने प्रशंसकों से मिथ्या संवाद करता है, ढोंग प्रदर्शित करता है, सहज हुए कार्य का कर्ता बनता है। भोले प्रशंसक/अनुयायीजनों के मध्य श्रेष्ठ बने रहने के छद्म प्रयासों को करता है; उससे उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

दम्भरूप मान की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीव को लौकिक कार्यों को करना मुख्य प्रयोजन नहीं है। जीव का मुख्य प्रयोजन तो अलौकिक कार्य तो निजात्मा की सम्पूर्ण शुद्धता प्रकट करना है। जीव निजात्म–शुद्धि करने और हितरूप दर्शन, ज्ञान, चारित्र, व्रत, शील, संयम धारण करने में जितना सक्षम है, वह बाह्य जनों के समक्ष उतना ही प्रदर्शित करे, बढ़ा-चढ़ा कर नहीं। जीव अपनी शक्ति के प्रमाण आत्मशुद्धि–स्वरूप प्रवर्तन करे और आत्मशुद्धि पूर्ण करने की श्रद्धा रखे।

किये हुए लौकिक और अलौकिक कार्यों को बढ़ा-चढ़ाकर कहने से व्यक्ति तत्समय तो प्रशंसनीय हो जाता है; किन्तु जब जगतजनों को उसकी यथार्थता का बोध होता है, तब निन्दा का पात्र हो जाता है। अत: जीव को आत्मशुद्धि की वृद्धि के कार्य स्वशक्ति को हीनाधिक न कर, शक्तिप्रमाण करते हुए निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

सम्मानरूप मान- व्यक्ति के किसी कार्य विशेष के लिए शासन, समाज या संस्थाओं द्वारा प्रशंसा-पत्र मिलता है तब उसे प्रशंसा-पत्र प्रदाताओं के प्रति बहुमान और स्वयं को महान् समझ जो हर्ष भाव होता है; वह सम्मानरूप मान है। अथवा व्यक्ति समाज में सम्मान पाने के लिए लोकोपकारी किञ्चित् कार्य करता है और भोले-भाले जनों से प्रशंसा-पत्र चाहता है। सामान्य जनों को प्रशंसा-पत्र लिखना नहीं आता है तो स्वयं लिखकर छपवाता है और अपार जनसमूह की उपस्थिति में महापुरुषोंके हाथ से लेता है। प्रशंसा-पत्रों/प्रतीक चिह्नों का सङ्ग्रह कर अपनी उच्चता/महानता समझना; सम्मानरूप मान है। अर्थात् व्यक्ति के सद्‌गुणों और सत्कार्यों का जगत् में यश फैलता है, कीर्तिगान होता है। शासन, समाज, संस्थाओं द्वारा सम्मानित किया जाता है। सम्मानित होने पर अपने को महान् समझकर हर्षित होना; सम्मान रूप मान है।

सम्मानरूप मान की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

प्रशंसकों द्वारा दिया गया सम्मान-पत्र उचित/सम्यक् हो यह नियम नहीं है, अनुचित/मिथ्या भी हो सकता है। जगत् में प्रशंसक, निज स्वार्थवश भी प्रशंसा करते हैं। जगत् में सम्मानित होना, यश-फैलना, कीर्ति–गान होना पुण्य-कर्म के अधीन है। जीव का जो सम्मान किया जाता है वह जीव का नहीं सद्‌गुणों और सत्कार्यों का किया जाता है। जीव तो प्रशंसा/सम्मान

आदि से सर्वथा भिन्न शुद्धात्मा है। जीव को जो आत्मगुणों में शुद्धि की वृद्धि हुई है, वह स्वयं की योग्यता से स्व-काल में हुई है। अत: जीव को सम्मान आदि से भिन्न निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

अपमानरूप मान- व्यक्ति को अपने पद के योग्य दूसरों के द्वारा आदर, सत्कार, पुरस्कार न मिलने पर स्वयं के प्रति जो हीनता का भाव होता है वह अपमानरूप मान है। एक विभाग में समान पदों पर अनेक व्यक्ति पदासीन हैं। यदि उन व्यक्तियों में से कोई एक व्यक्ति स्वकीय योग्यता से उच्च पद पर आसीन हो जाता है। उसे पूर्व पदासीन व्यक्तियों से सम्मान न मिलने पर या उनसे अपशब्दों के सुनने पर खेदरूप परिणाम होते हैं; वह अपमानरूप मान है। वह अपमान से खेद-खिन्न होता हुआ अपने पद का दुरुपयोग करता है, भय दिखाकर अपना आदर-सत्कार करवाता है। उससे उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

अनेक पुरुष वीतराग-विज्ञानमयी मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करते हैं। उनमें से कोई पुरुष स्वकीय पुरुषार्थ से पदोन्नत हो उच्च पद को प्राप्त कर लेता है। वह पूर्व पद वालों से अपनी पूजा करवाना चाहता है, उनसे पूजा न होने पर जो खेदरूप भाव है, वह अपमान है। अथवा जो अपने पुरुषार्थ की न्यूनता से उच्च पद प्राप्त न कर सके तो न्यून पुरुषार्थ से उत्पन्न खेद भाव अपमानरूप मान है।

अपमानरूप मान की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

किसी भी विभाग में, विभाग के कार्य की दृष्टि से देखा जाये तो सभी व्यक्ति कार्यकर्ता हैं। पदों की उच्चता तो कार्य–व्यवस्था के ज्ञान की अपेक्षा से है। जैसे शासकीय पदों में जिला अध्यक्ष का पद हो या लिपिक का। शासन में तो दोनों ही शासकीय कार्यकर्ता (कर्मचारी) हैं। दोनों ही अपने-अपने कार्यों में संलग्न रहते हैं।

मोक्षमार्ग में भी आचार्य-उपाध्याय पद तो सङ्घ में कार्य–व्यवस्था के पद हैं। हैं तो सभी वीतराग निर्ग्रन्थ; सभी के अट्ठाइस मूलगुण तो समान ही होते हैं। अत: जीव को साधुत्व पर दृष्टि रखते हुए निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

भोगोपभोगरूप मान- भोगोपभोग के अनुकूल सामग्रियों की उपलब्धता और भोगासक्त रहने में अपने को महान् समझना; भोगोपभोगरूप मान है। जो सामग्री एक बार भोगने में आती है वह भोग सामग्री है और जो बार-बार भोगने में आती है, वह उपभोग सामग्री है।

भोग्य सामग्री इन्द्रियज और मानसिक, दो प्रकार की होने से मान भी इन्द्रियज और मानसिक दो प्रकार का है।

व्यक्ति पाँच इन्द्रियों के विषय–भोगों में आसक्त रहता हुआ प्रवर्तन करता है और अपने को महान् मानता है। वह इन्द्रियज भोगोपभोग मान है। सांसारिक पदों की प्राप्ति में आसक्त रहना, भविष्य में इनका वियोग न हो; अपितु वृद्धि हो। उससे अपने को महान् मानना; भोगोपभोगरूप मान है। इन्द्रियज भोगोपभोग के परिणाम कुछ काल के लिए दब जाते हैं; किन्तु मानसिक भोगोपभोग के परिणाम दबते नहीं हैं, अपितु बढ़ जाते हैं। भोगोपभोग के परिणाम पत्थर की भाँति अति कठोर होते हैं। जैसे पत्थर पर बीज अङ्कुरित नहीं होता है, वैसे ही भोगोपभोगरूप आसक्त परिणाम में ज्ञान व वैराग्य का अङ्कुरण नहीं होता है। भोगासक्त व्यक्ति यदि भोगोपभोगों का त्याग कर व्रतादि का आचरण भी करता है तो उसका फल भोगोपभोग ही चाहता है। उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप की शिक्षा सुहाती नहीं है, अपितु भोगोपभोगों के पोषण की वार्ता सुहाती है। उससे उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

भोगोपभोगरूप मान की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीव ने अनादि से, अनन्त भवों में इन्द्रियज और मानसिक भोगोपभोगों को अनन्त बार भोगा है; किन्तु संसार में अनादि से आज तक किसी को भी तृप्ति नहीं मिली है। भोगोपभोग के परिणाम दुःख-स्वरूप, दुःख के कारण और प्राणघातक होते हैं। अतः जीव को भोगोपभोगों से विरक्त रह अभोक्तास्वरूप निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न करना श्रेयस्कर है।

मदरूप मान

मादक पदार्थ के सेवन से उत्पन्न होने वाली विकृत मानसिक अवस्था मद है; अर्थात् धन, बल, विद्या, रूप, प्रतिष्ठा आदि में उन्मत्तता; मद है। जीव को लौकिक बाह्य अनुकूलताओं की प्रचुरता होने से आत्महित–विहीन होना, उनमें ही आत्महित मानना मद है।

दूसरे शब्दों में, व्यक्ति का अनुकूल और ऐच्छिक सामग्रियों की प्राप्ति से विवेक-विहीन हो उनका भोगोपभोगरूप प्रवर्तन करना; मद है। मद के कारण व्यक्ति अपना होश खो देता है। बेहोशी से आत्महितकर कार्यों में विक्षिप्तरूप अनर्गल प्रवर्तन करता है। वह स्व-स्वरूप से विमुख हो, विषय–कषायों में लिप्त हो मूर्च्छित हो जाता है।

व्यक्ति; विषय–कषायों को पुष्ट करने वाली सामग्रियों की उपलब्धता में ही हर्षित रहता हुआ निज शुद्धात्म-स्वरूप को विस्मृत कर देता है। किसी ज्ञानी पुरुष द्वारा विस्मृत निजात्म–स्वरूप दिखाने पर भी वह देखने का प्रयास नहीं करता है। उससे उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

मद की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए–

मैं निर्मद–स्वभावी भगवान् आत्मा हूँ। मैं दर्शन, ज्ञान, चारित्र से परिपूर्ण हूँ। मैं निजात्म वैभव का भोक्ता हूँ, पौद्‌गलिक वैभव का नहीं।

मनुष्य–जीवन में मद अनेक प्रकार से आता है। आश्रय, प्रतिष्ठा, सादृश्य, दयार्द्र, व्यक्तित्व-कर्तृत्व, विनय, आडम्बर आदि।

आश्रयरूप मद- व्यक्ति जब बाह्य वैभव–सम्पन्न हो, वैभव से सुखरूप जीवन जीता है तब वह सोचता है- मैं स्वाश्रित हूँ; परिवार के सदस्य, अन्य लोग मेरे आश्रित रह जीते हैं। मैं अपने आश्रितों का पालन-पोषण करता हूँ, सुखी रखता हूँ, शिक्षित करता हूँ, उज्ज्वल भविष्य बनाता हूँ। मैं अन्यजन के आश्रित न तो हूँ और न ही रहूँगा। इस प्रकार के मद से उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

आश्रयरूप मद की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जगत् के सभी जीव स्वाश्रित ही रहते हैं, पराश्रित नहीं; क्योंकि सभी जीवों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव स्वतन्त्र है। एक जीव से अन्य जीव का उपकार होनेरूप सम्बन्ध तो है; परन्तु पराश्रयरूप नहीं।[१] सभी जीवों का हित/उपकार उनके स्वयं की योग्यता से होता है, किसी पर के आश्रय से नहीं। अत: व्यक्ति को स्वाश्रय–स्वरूपी निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

प्रतिष्ठारूप मद- प्रतिष्ठा का अर्थ है- उच्च पद/उपाधि की या अभीष्ट–सिद्धि की स्थापना/स्थिरता। व्यक्ति को समाज में या देश में उच्च पदवी से अलङ्कृत कर प्रतिष्ठित किया जाता है। प्रतिष्ठा पाकर उन्मत्त होना; प्रतिष्ठारूप मद है। प्रतिष्ठा के मद में व्यक्ति अपने कुतर्क, कुयुक्ति और कुविचारों को दूसरों पर थोपता है, समझाता है, बलात् स्वीकार करवाता है, न करने वालों पर द्वेषभाव रखता है। उन पर दोषारोपण करता है। कतिपय प्रतिष्ठामदी

१. त. सूत्र परस्परोऽपग्रहोजीतानाम्

तो निर्ग्रन्थ वीतरागी मुनि भगवन्तों पर भी दोषारोपण करता है। उन पर लगाये गये दोषों के फल पर भी विचार नहीं करता है। जैसे महासती सीता ने पूर्व भव में मुनिराज पर शील सम्बन्धी दोषारोपण किया था। सीताजी पर वही दोषारोपण हुआ। जबकि सीता के शील में किञ्चित् भी दोष नहीं लगा था। प्रतिष्ठारूप मद से उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

प्रतिष्ठारूप मद की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

व्यक्ति को समाज या देश में प्रतिष्ठा पाना वर्तमान में किये गये सत्कार्यों का और पूर्वोपार्जित पुण्य का फल है। प्रतिष्ठा पाने से स्वयं को कोई लाभ नहीं है, अन्य जनों को सत्कार्य करने के लिए प्रेरणारूप है। अत: व्यक्ति को बाह्य/लौकिक प्रतिष्ठाओं से अपना उपयोग हटा कर; निज शुद्धात्म–प्रतिष्ठा में संलग्न करना चाहिए। स्वात्म–प्रतिष्ठा से निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

सादृश्यरूप मद- सादृश्य का अर्थ है- समानता, एकरूपता, प्रतिमूर्ति। परमार्थ–दृष्टि से जगत् के सभी जीव सिद्धों के सादृश्य/समान हैं। संसारी जीवों में और सिद्ध परमात्माओं में जीवत्व-स्वभाव की अपेक्षा समानता है। जो वस्त्रधारी अपने को सर्वथा अबन्ध, शुद्ध मान कर स्वच्छन्द हो प्रवर्तन करता है और लौकिक जनों से अपनी पूजा करवाता है, पूजा न करने वालों से द्वेष रखता है। उसकी इस प्रकार की अनर्गल प्रवृत्तियाँ; सादृश्यरूप मद है।

दूसरे शब्दों में, कोई-कोई गुणवान पुरुष; गुणहीन पुरुष को अपने समान, स्वामी अपने सेवक को अपने परिवार का सदस्य कहता है। यदि गुणहीन पुरुष स्वयंको गुणी और सेवक अपने को स्वामी मानने लगे और उनकी भाँति अपना सम्मान करवाना चाहे तो उसे सादृश्यता का मद है।

सादृश्यरूप मद की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

संसारी जीवों और सिद्ध परमात्माओं में स्वभाव की अपेक्षा समानता है, प्रकट पर्याय की अपेक्षा नहीं। संसारी जीव कर्मबन्ध से युक्त हैं और सिद्ध परमात्मा कर्मबन्ध से मुक्त हैं। संसारी जीव; सिद्ध परमात्माओं का पूजक है और सिद्ध परमात्मा पूज्य हैं। वर्तमान में सिद्ध–जीव पूज्य हैं, जो कि भूतकाल में सिद्धों के पूजक थे। वर्तमान में जो सिद्धों के पूजक हैं, वे भविष्य काल में सिद्ध होकर पूज्य होंगे। जो जीव सिद्ध परमात्माओं का स्वरूप द्रव्यत्व–

गुणत्व–पर्यायत्व की विवक्षा से जानता है वह संसार से मुक्त हो स्वयं सिद्ध परमात्मा बन जाता है। सिद्धों ने अपना शुद्ध स्वभाव पर्याय में प्रकट कर लिया है, संसारी जीव को प्रकट करना है। इसलिए जीव को सादृष्यरूप मदरहित निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

दयार्द्ररूप मद- दूसरों को दु:खी देखकर, उनके दु:ख दूर करने के लिए हृदय में करुणा उपजती है और उनके दु:ख दूर करनेरूप उपाय/सहयोग/उद्यम कर उपकार जताना दयार्द्ररूप मद है। कोई व्यक्ति, दूसरों को दु:खी देखकर निजी स्वार्थवश उनके दु:ख दूर करने का उद्यम करता है, उनके दु:ख दूर होने पर, दु:ख दूर करने का अपने को कर्त्ता मानकर उन्मत्त रहता है– यह उन्मत्तता; दयार्द्ररूप मद है। उससे उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

दयार्द्ररूप मद की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

कोई भी जीव, किसी भी अन्य जीव का दु:ख दूर नहीं कर सकता है और न सुखी कर सकता है। मैंने दु:खियों के दु:ख दूर नहीं किये हैं। दु:खियों को देखकर, मेरे हृदय में जो दु:ख हुआ था मैंने तो, उनका सुखद सहयोग कर, अपना दु:ख दूर किया है। दु:खियों को सातारूप सहयोग करने पर भी दु:ख दूर होना या न होना तो उनके कर्माधीन है। अत: जीव को स्वदयारूप निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

व्यक्तित्व–कर्तृत्वरूप मद- व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व-कर्तृत्व दूसरों के समक्ष प्रदर्शित कर अपने को महान् समझने-माननेरूप उन्मत्तता; व्यक्तित्व–कर्तृत्व का मद है। इस मद से उन्मत्त व्यक्ति को दूसरों का अपने से अधिक व्यक्तित्व-कर्तृत्व सुनना तक भी सुहाता नहीं है। सुनाने वाला इष्ट मित्र भी अनिष्ट प्रतीत होने लगता है। उसे अपशब्दों से अपमानित कर चुप रहने को कहता है। इस मद से उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

व्यक्तित्व-कर्तृत्वरूप मद की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए–

जगत् में सर्वदेश (सम्पूर्ण) स्वकीय व्यक्तित्व-कर्तृत्व सम्पन्न अरहन्त, सिद्ध, परमेष्ठी हैं, एकदेश आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी हैं। मेरे से भी अधिक व्यक्तित्व-कर्तृत्व वाले अनेक पुरुष हैं। अत: अपना व्यक्तित्व-कर्तृत्व नगण्य मानकर पूर्ण प्राप्ति के लिए जीव को निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

विनयरूप मद- जगत् के भोले-भाले जनों द्वारा किये गये विनय से उन्मत्त हो जाना; विनयरूप मद है। विनय से उन्मत्त व्यक्ति मिथ्या आचार-विचारों में लिप्त रह कुतप करते हुए अपने को महान्, पूज्य समझता है। वह सम्यक् आचार-विचारवानों और सुतपस्वियों से अपनी विनय करवाना चाहता है। उनके द्वारा अपनी विनय होना न देखकर उनसे द्वेष-भाव रखता है। उससे उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

विनयरूप मद की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि-

विनय हमेशा सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र से सम्पन्न तपस्वियों का किया जाता है। उनके आराधकों का यथायोग्य सम्मान किया जाता है। आगम में सम्यक्–चारित्रवन्तों की विनय/पूजा की जाती है। जगत् में गुणों की विनय/पूजा की जाती है, व्यक्ति की नहीं। विनय-प्रधान परिणाम इस लोक में लौकिक सुख और परलोक में मोक्षरूप सुख देता है। विनय से सर्व गुणों में विशुद्धि की वृद्धि होती है; व्रत, शील, संयम का धारण करना सफल होता है।

लौकिक में विनयवान शिष्य को गुरु सर्वस्व अर्पण करना चाहता है। विनय से विद्या, ज्ञान, सुख की प्राप्ति होती है। किसी कवि ने कहा है-

विनय बिना विद्या नहीं, विद्या बिन नहिं ज्ञान।
ज्ञान बिना सुख न मिले, यह निश्चय कर जान।।

पिता अपनी संपत्ति विनयी पुत्र को देना चाहता है। किसी व्यक्ति से कोई भी विनय से बोले कि भैया! मेरा यह कार्य कर दीजिये तो उसके कार्य को वह शीघ्र ही कर देता है। अत: जीव को विनयरूप निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

आडम्बररूप मद- व्यक्ति का अपनी महानता दिखाने एवं पूजा-प्रतिष्ठा कराने के लिए मिथ्या, अप्रयोजनीय पदार्थों का सङ्ग्रह, दिखावटी अनुष्ठान आदि करने, कराने में मत्त रहना; आडम्बररूप मद है। उससे व्यक्ति मन्दमतिजनों द्वारा प्रदत्त परिग्रह का सङ्ग्रह करता है और अपनी पूजा-प्रतिष्ठा से विवेकहीन हो जाता है। उसे चेतन-अचेतनरूप परिग्रह सङ्ग्रह करने में सङ्कोच नहीं होता है। उसे अपने पद की अवनति/च्युत होने का भय नहीं लगता है। इस आडम्बररूप मद से उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

आडम्बररूप मद की निवृत्ति और उत्तम मार्दव धर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि-

आडम्बर करना परिग्रह की वृद्धि है, नरकायु के आस्त्रव का कारण है। वीतराग श्री जिनेन्द्रदेव के मार्ग में आडम्बरों का कोई स्थान नहीं है। आडम्बर रखना और अन्यजनों को आडम्बर से सुख-प्राप्ति का उपाय बताने से घोर संसार का भ्रमण बढ़ता है। अत: जीव को आडम्बर रहित निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में १०८ समन्तभद्र आचार्यदेव ने मद के आठ भेद निरूपित किए हैं-

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपु:।[१]

१. ज्ञान, २. पूजा, ३. कुल, ४. जाति, ५. बल, ६. ऋद्धि, ७. तप, ८. शरीर।

ज्ञानमद– किञ्चित् ज्ञान होने पर अपने को अधिक ज्ञानी/बड़ा ज्ञानी मानकर उद्धतपना आना; ज्ञानमद है। अर्थात् आत्मज्ञान–शून्य साहित्य, भाषा, छन्द, अलङ्कार, न्याय, व्याकरणादि के ज्ञान से अपने को ज्ञानी मानकर उद्धत रहना; ज्ञानमद है। व्यक्ति, अल्प क्षायोपशमिक ज्ञान से वस्तु को सर्वांश नहीं जानता है। वह वस्तु के एक अंश को भी नय-निरपेक्ष जानकर मात्र उसरूप ही वस्तु को सम्पूर्ण मानता है। वह वस्तु के एकांश ज्ञान में सम्पूर्ण ज्ञान की मिथ्या मान्यता से सन्तुष्ट रहता है। लौकिक जनों द्वारा विद्वत्ता की उपाधियाँ एवं सम्मान–पत्र पाकर गौरवान्वित हो अन्य बहुश्रुतविज्ञों का उपहास करता है तथा उत्सूत्राभासी भी हो जाता है। उससे उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

ज्ञानमद की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

क्षायोपशमिक ज्ञान अल्प होता है। क्षयोपशम ज्ञान वस्तु के सर्वांशों को युगपद् प्रत्यक्ष नहीं जानता है। क्षयोपशम ज्ञान में वस्तु के एक-एक अंश को क्रमिक जानने की क्षमता होती है। वस्तु को सर्वांश युगपद् जानने की क्षमता क्षायिक ज्ञान/केवलज्ञान में होती है। अत: जीव को निज आत्मज्ञानमयी निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

पूजामद- व्यक्ति के लौकिक ऐश्वर्य की वृद्धि; व्रत, शील, संयम का पालन; परोपकार के कार्यों को देखकर समाज उसे महान् धर्मात्मा मानकर उसकी पूजा करता है। व्यक्ति की पूजा में उन्मत्तता; पूजा का मद है। अथवा व्यक्ति का अपने शुभ आचरण से समाज में प्रतिष्ठा पाकर अपनी पूजा करवाने में मग्न रहना; पूजामद है। व्यक्ति; पूजामद से उन्मत्त हो दूसरों के पूज्य गुणों और शुभाचरण को अवगुण और अशुभ आचरण निरूपित करता है। वह आत्म–हित

१. र.क.श्रा. २५

नहीं करता है। वह लौकिक कार्यों को ही धर्माचरण मानकर सन्तुष्ट रहता है। उससे उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

पूजामद की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि-

व्यक्ति का लौकिक बाह्य वैभव, ऐश्वर्य सब क्षणभङ्गुर है, व्रतादिरूप शुभाचरण पराश्रित है। क्षणभङ्गुर और पराश्रित ऐश्वर्य आयु पूर्ण होने पर स्वयमेव छूट जाता है। व्यक्ति का वास्तविक ऐश्वर्य तो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र है। व्रतादि का पालन तो आत्मीक ऐश्वर्य की सुरक्षार्थ किया जाता है। बाह्य में भी व्यक्ति की पूजा सम्यग्दर्शन–सहित चारित्र धारण करने से होती है। अतः जीव को पूजा की उन्मत्तता से परे निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

कुलमद- लौकिक में पिता के वंश को कुल कहते हैं। जिस कुल में जन्म लेने वाले लोग वीतराग मार्ग के पोषक; व्रत, शील, संयम के पालक; रत्नत्रयमयी निर्ग्रन्थ मुद्रा के धारक हुए हैं, वह कुल उत्तम कुल है। उत्तम कुल में जन्म लेकर, कुल के अयोग्य प्रवर्तन करते हुए अपने को महान/उत्तम मानकर उन्मत्त रहना; कुलमद है। अथवा अरहन्त, सिद्ध, आचार्यों की परम्परा को कुल कहते हैं। वीतरागी कुल की परम्परा में रहते हुए रागादि, विषय–कषायों का पोषण करने में लिप्त रहते हुए अपने को महान/उत्तम मानना; कुलमद है। उससे उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

कुलमद की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि-

कुल; शरीर के जन्म से है, आत्मा से नहीं। आत्मा का कुल तो सिद्धों का कुल है। मैं ज्ञानस्वरूपी भगवान् आत्मा तो पिता के वंश का नहीं, सिद्धों के कुल का हूँ। पिता के कुल में जन्मे जीवों में कोई मोक्ष, कोई स्वर्ग तो कोई नरक भी जाता है। अतः स्वयं को सिद्धों के कुलाचार का प्रवर्तन करते हुए जीव को निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

बलमद- शारीरिक शक्ति, सैन्य दल की प्रचण्डता; बल है। व्यक्ति का बल को पाकर अनाथ, दीन-दुःखियों को पीड़ित करना, परेशान करना, निर्बलों को अपने अधीन रखना, भय दिखाना, उन्हें दुःखी देखकर हर्षित होना और पचेन्द्रियों के विषयों में आसक्त रह प्रसन्न रहना; बलमद है। उससे उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

बलमद की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि-

बल की प्राप्ति पूर्वकृत स्वयं के परिणामों का फल है। बल विनाशीक है। शारीरिक बल तो वृद्धावस्था आने पर क्षीण हो जाता है। विश्वनन्दी को यौवन अवस्था में शारीरिक बल अति प्रचण्ड था। उसकी भुजाओं में विशालकाय वृक्षों को उखाड़ने का सामर्थ्य था मुनिव्रत धारण के उपरान्त वृद्धावस्था में प्रसूता गाय के द्वारा गिराया जाने पर उठने तक का बल भी न रहा। सैन्य बल भी न रहा। **'बल तो आत्म–बल, अन्य बल योंही, ज्योति तो ज्ञान–ज्योति अन्य ज्योति योंही।'** अत: जीव को आत्मबल के आश्रय से निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

ऋद्धिमद- लौकिक या अलौकिक शक्तियों की वृद्धि; ऋद्धि है। अथवा लौकिक चमत्कार प्रकट करने की शक्तियों की प्राप्ति; ऋद्धि है। ऋद्धियों की सिद्धि में मत्त रहना; ऋद्धि मद है। ऋद्धियों को प्राप्त कर, जन-रञ्जन, मन-रञ्जन, कल-रञ्जन करना और अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए चमत्कार दिखाना निज शुद्धात्म–स्वरूप को विस्मृत करना है। उससे उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

ऋद्धिमद की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि-

बाह्य में नाना प्रकार की लौकिक ऋद्धियाँ कर्मों के उदय, क्षयोपशम एवं तप के अधीन हैं। कर्मरहित अलौकिक ऋद्धि तो एकमात्र केवलज्ञान ऋद्धि है। उसकी प्रकटता निज शुद्ध आत्मा में अन्तर्मुहूर्त तक उपयोग की स्थिरता और ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मों के क्षय से होती है। अत: जीव को केवलज्ञान ऋद्धि की प्रकटतार्थ स्थिर उपयोगपूर्वक निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

तपमद- तप का अर्थ तपस्या है। पाँचों इन्द्रियों और मन को वश में रखते हुए काय को तपाकर उसे धर्म की साधना करने के योग्य बनाये रखना; तप है। तप करके जगत् के जनों को अपनी ओर आकृष्ट करना और उन्हें आकृष्ट देखकर अपने को महान् तपस्वी मानकर उन्मत्त रहना; तपमद है। उससे उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

दूसरे शब्दों, में आस्रव के निरोध–पूर्वक कर्मों का क्षय करना; तप है। तप के प्रभाव से अनेक ऋद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं। यथा; पैर के अङ्गुष्ठा से पर्वत का दबाना, विष का निर्विष होना, लघु-विशाल अवस्था होना आदि अनेक आश्चर्यजनक घटनाओं से अपने को महान् तपस्वी मानकर घटनाओं में लिप्त रह मग्न होना; तपमद है। उससे उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

तपमद की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि-

तप करने का प्रयोजन तो बाह्य में कर्मों का क्षय करना और अभ्यन्तर में निस्तरङ्ग

निज शुद्धात्म–स्वरूप में स्थिर रह मोक्ष प्राप्त करना है। अतः जीव को स्वरूप में विश्रान्ति हेतु निज उत्तम मार्दव धर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

वपुमद/शरीरमद- शरीर का निर्माण, लावण्यमयी सुन्दर पुद्‌गल परमाणुओं से हुआ है। उस पौद्‌गलिक सुन्दर शरीर पर मुग्ध रहना; वपुमद है अथवा शरीर को स्वस्थ, इन्द्रियों के विषय सेवन–योग्य बनाये रखने में, शरीर की पुष्टता में हर्षित रहना; वपुमद है, उससे उत्तम मार्दवधर्म का घात होता है।

वपुमद की निवृत्ति और उत्तम मार्दवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि-

शरीर का निर्माण नामकर्म के उदयानुसार होता है। शरीर हाड़-मांस का पिण्ड है, जो चर्म से ढँका होने से सुन्दर भासित होता है, वस्तुतः यह सुन्दर है नहीं। शरीर के परमाणु अशुचि दुर्गन्धित हैं। इससे स्पर्शित शुचि, सुगन्धित पदार्थ भी अशुचि, दुर्गन्धित हो जाते हैं। शरीर को सदैव मल-मूत्र से भरा हुआ एक थैला समझना चाहिए। शरीर की दैनिक क्रियाएँ अधजले घाव की तरह होती हैं। जले हुए घाव से प्रतिदिन मवाद (पीप) बहती है, शरीर से पसीना निकलता है। घाव को जल से धोया जाता है, शरीर को स्नान कराया जाता है। घाव को वस्त्र से पोंछकर औषध का लेपन कर पट्टी बाँध दी जाती है, शरीर को वस्त्र से पोंछकर तेल लगाकर वस्त्र पहनाये जाते हैं। शरीर की यह प्रक्रिया वीतरागी निर्ग्रन्थ मुनिधर्म अङ्गीकार करने के पूर्व तक चलती है, पश्चात् नहीं। अतः जीव को शरीर से निर्ममत्व हो निज उत्तम मार्दवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

मार्दवधर्म– मनुष्य गति में मान कषाय की मुख्यता है। इसलिए आचार्यों ने, मनुष्य को निर्मान–स्वभावी निजात्मा का आश्रय करने के लिए आत्मा के उत्तम मार्दवधर्म का और उसकी घातक मान कषाय की प्ररूपणा की है।

मार्दवधर्म; मोक्ष का द्वार है। मार्दवधर्म के आश्रय से सर्व विद्याएँ सुशोभित होती हैं। मार्दवधर्म को, मोक्ष-सुन्दरी वरण करने को उत्सुक रहती है।

उत्तम मार्दवधर्म से मानरूपी पर्वत चूर-चूर हो जाता है। मार्दवधर्मी के प्रति गुरुओं का अनुग्रह रहता है। अनुग्रह से रत्नत्रय की वृद्धि और अनुक्रम से पूर्णता कर मोक्ष प्राप्त करता है। साधुजन भी उसे साधु मानते हैं।[१]

मान कषाय- मान समस्त विपदाओं का मूल है, विषरूप है। इससे दुःख और कुमरण होता है।

---

१. त.रा.वा. ९/६

मान कषाय से युक्त व्यक्ति के मन में व्रत, शील, संयम पालने का भाव नहीं होता है, मात्र उन्हें पालन करने का दिखावा करता है। उससे संसार-भ्रमण को बढ़ाता है।

आचार्यदेव ''भगवती आराधना'' में लिखते हैं- मान कषायवान् जीव; कलह प्रिय, भययुक्त, वैर-भाव रखने वाला होता है। वह सदा दुःखी होता है। उससे सभी लोग द्वेष रखते हैं। वह इस लोक और परलोक में अपमानित होता है। मान महा विषरूप है, मान से मरण कर नीच गति/दुर्गति में जन्म लेता है।

माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलह, भय, वैर दुक्खाणि पावदि माणि णियदं इह पर लोय अवमाणं [१]

मान महा विषरूप करहि नीच गति जगत में।

मान कषाय के वश रावण को इस भव में कलङ्क (दुराचार का) लगा, परिवार की क्षति हुई और मरण कर नर्क चला गया।

मानी जीव; उत्तम पर्याय से च्युत हो नर्क-तिर्यंच गति में जन्म लेता है और असह्य, अकथनीय दुःखों को भोगता है। कभी मनुष्य पर्याय मिली तो जल के बुद-बुदा की भाँति क्षणिक संसार-शरीर के भोगों में आसक्त हो जाता है। मान कषाय को दुःख-स्वरूप, दुःख का कारण जानकर, उसे छोड़ना ही श्रेयस्कर है।

मार्दवधर्म की महिमा एवं फल- मार्दवधर्म मुक्ति का द्वार है। मार्दवधर्मी व्यक्ति की सुमति होती है। वह अनुयोग और नाना नय विवक्षाओं से जिनश्रुत का अभ्यास करता है। श्रुताभ्यास से हृदय अति कोमल, करुणामयी हो जाता है। जगत् के जीवों को हितकर मोक्ष मार्ग का उपदेश देता है। उपदेश श्रवण कर सभी भव्य आत्माएँ यथाशक्ति एकदेश या सर्वदेश वीतराग मार्ग को अङ्गीकार कर निर्वाण को प्राप्त करते हैं। उत्तम मार्दवधर्म होने पर सभी व्रत सम्पूर्णता को प्राप्त होते हैं और उत्तम मार्दवधर्म से युक्त भव्य-आत्मा को मुक्ति-स्त्री स्वयं ही दृढ़ आलिङ्गन करती है।[२]

मार्दवधर्मी व्यक्ति सभी जीवों को स्वभाव-दृष्टि से समान मानता है। वीतराग मार्ग में स्वयं प्रवर्तन करते हुए अन्य जीवों को प्रवर्तन करने की प्रेरणा देता है। वह दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार में सुस्थित रहते हुए भी चार आराधना का मद नहीं करता है।

१. भ.आ.वि.। २. मार्दव धर्मेण समस्तानि व्रतानि सम्पूर्णतां यान्ति।
मार्दवधर्मेण मुक्तिस्त्री स्वयमेव दृढ़ालिङ्गनं दत्ते।।४।।द.ध.स्क.

मान; दुर्गति का मूल है। मानी व्यक्ति की कुमति होती है। वह जिनश्रुत का किञ्चित् अभ्यास कर नयाभासी हो, उन्मत्त हो जाता है। उसका हृदय कठोर, दुष्ट हो जाता है। उसके हृदय में वस्तु–स्वरूप प्रवेश ही नहीं करता है। वह धार्मिक व्रत या अनुष्ठान स्वयं के विषय–पोषणार्थ या जगत् जनों को धर्मात्मा का ढोंग दिखावे को करता है। उसका जीवन निन्द्य होता है, वह वीतराग मार्ग से विमुख रह संसार–मार्ग के सम्मुख रहता है तथा बाह्य प्रशंसा से उन्मत्त हो आत्मधर्म को विस्मृत कर, अनात्मधर्म में रुचिपूर्वक संलग्न रहता है। उससे वह अपना भव-भ्रमण का अंत नहीं कर पाता है।

मार्दव– ''मार्दव गुण से सहित पुरुष का गुरु उपकार करते हैं। उसको साधु भी सज्जन मानते हैं। मार्दव गुण से सहित पुरुष ज्ञानादि गुणों का पात्र होता है।''[१]

उत्तम मार्दवधर्म का स्वरूप समझ कर सभी आत्माएँ उत्तम मार्दवधर्म–स्वरूपी निजात्मा में निमग्न रहे ऐसी मेरी मंगल भावना है।

दशधर्म–स्कन्ध

मार्दव धर्मेण समस्तानि, व्रतानि सम्पूर्णतां यान्ति।
मार्दवधर्मेण मुक्तिश्री स्वयमेव दृढ़ालिङ्गनं दत्ते।।४।। –पृ.५२

अर्थ : मार्दव धर्म के होने पर सभी व्रत सम्पूर्णता को प्राप्त होते हैं और मार्दव धर्म से युक्त भव्यात्मा को मुक्ति लक्ष्मी स्वयं ही दृढ़ आलिङ्गन करती है।

क्रियते मृदुभावो यो, अखिलाहंकार वर्जितः।
तद्धर्मलक्षणं ज्ञेयं, मार्दवं सत्कृपाकरम्।।६।। –पृ. ५३

अर्थ : सम्पूर्ण अहंकार को छोड़कर जो मृदुभाव किया जाता है, वह प्राणियों पर कृपा करने वाला मार्दव धर्म का लक्षण जानना चाहिए।

मार्दवेनापि सिद्धयन्ति, कार्याणि सुगुरुण्यपि।
यतो जलेन भिद्यन्ते, पर्वता अपि निष्ठुरा।।११।। –पृ. ५३

अर्थ : मार्दव के द्वारा बड़े–बड़े कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं। जैसे पानी के द्वारा बड़े–बड़े निष्ठुर पर्वत भी भेद दिये जाते हैं।

१. द.ध.स्क. पृ. ५५

उत्तम आर्जवधर्म

मङ्गलाचरण

माया, विषधर चाल–सी, वक्रयोग दुःखहोय।
उत्तम आर्जवधर्म से, योगातीत सुख होय।।

आत्मा का; उत्तम क्षमा, मार्दव के समान एक लक्षण उत्तम आर्जवधर्म भी है। आत्मा का उत्तम आर्जवधर्म को तिरोभूत करने वाली माया कषाय है। माया कषाय के अभाव–पूर्वक उत्तम आर्जवधर्म–स्वरूपी निज शुद्धात्मा के आश्रय से सरलतात्मक शान्ति–स्वरूप आनन्दमयी जो अनुभूति होती है, वह उत्तम आर्जवधर्म है।

आर्जवधर्म के साथ उत्तम विशेषण सम्यग्दर्शन का सूचक है।

आर्जव का सामान्य अर्थ है- मायाचारी, कुटिलता के अभावपूर्वक सरलता, निष्कपटता; मन, वचन, काय की सम्यक् एकरूपता, हितकर वृत्ति-प्रवृत्ति अर्थात् मोह राग–द्वेष आदि विकारी भाव–शून्य शुद्ध हृदय से निज शुद्धात्मस्वरूप में मन, वचन, काय की एकतारूप प्रवर्तन करना; उत्तम आर्जव है। आर्जव वह है जहाँ मायाचारी न हो। उत्तम आर्जव कारण है और उत्तम आर्जवधर्म कार्य है। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य, सम्यग्ज्ञान कारण है और सम्यक्चारित्र कार्य है उसी प्रकार कारण में कार्य का उपचार कर व्यवहार नय विवक्षावश उत्तम आर्जव को ही उत्तम आर्जवधर्म निरूपित किया जाता है।

'ऋजोर्भावः आर्जवम्'[१] ऋजु भाव का नाम आर्जव है। मायाचारी/कुटिलता के अभाव रूप आत्मविशुद्धि उत्तम आर्जव है और उससे प्रकट हुई आत्म–शान्तिस्वरूप सुखरस; उत्तम आर्जवधर्म है।

१. **योगस्यावक्रता आर्जवम्**[२] योगों की अवक्रता आर्जव है। अर्थात् मन, वचन, काय–इन योगों के आलम्बन से आत्माके प्रदेशों का अवक्रतारूप परिस्पन्दन; उत्तम आर्जव है। उससे प्रकट हुई विशुद्ध आत्म-शान्तिमयी पर्याय; उत्तम आर्जवधर्म है। उत्तम आर्जव धर्म का सम्बन्ध योगों से नहीं, अयोग–स्वरूपी निज शुद्धात्मा से है। सिद्ध परमेष्ठी योगों से रहित हैं, उनके आर्जवधर्म शाश्वत है।
२. वस्तु के स्वतन्त्र स्वरूप को जानकर सरल ज्ञानमय निज ब्रह्म की अभिमुखता पाना और समस्त विभावरूप वक्र भावों से दूर रहना; उत्तम आर्जव है।[३] उससे प्रकट स्वतन्त्रता–रूप सुखरस; उत्तम आर्जवधर्म है।
३. जो मुनि कुटिल विचार नहीं करता, कुटिल कार्य नहीं करता, कुटिल वचन नहीं बोलता और अपना दोष नहीं छिपाता है वह उत्तम आर्जवधर्म का धारी है।[४]

---

१. स.सि. ९/६। २. स.सि. ९/६। ३. धर्म प्रवचन। ४. का.अ.मू.।

४. समस्त बाह्य पदार्थों के प्रति रागरूप वक्रता के त्यागपूर्वक ज्ञायक-स्वरूप निज शुद्धात्मा में उपयोग की स्थिरता; उत्तम आर्जव है। उससे प्रकट हुआ वीतरागमयी आत्म–शान्तिस्वरूप सुखरस; उत्तम आर्जवधर्म है।

५. हृदय में मोक्षमार्ग से सम्बन्धित विचारों का प्रकट होना, उन्हें ही वचनों से बोलना और काय से तद्रूप प्रवर्तन करना; उत्तम आर्जव है।[१] उससे प्रकट वीतराग मोक्षमार्ग में परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आर्जवधर्म है।

६. जो मुनि कुटिल भावरूप मायाचारी को छोड़कर, निर्मल हृदय से चारित्र का पालन करता है, वह उत्तम आर्जवधर्म का धारक होता है।[२] अर्थात् आर्जव–स्वरूप निज परमात्म सुखरस; उत्तम आर्जवधर्म है।

७. बाह्य में प्राप्त अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों के प्रति हृदय सरल होना, संसार के प्रति उदासीन/वीतराग भाव होना; उत्तम आर्जव है। उससे प्रकट वीतराग निज परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आर्जवधर्म है।

८. समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों से विरक्त होकर, धर्म्य-ध्यान के बल से निज शुद्धात्मा में मग्नता; उत्तम आर्जव है। उससे प्रकट निज शुद्धात्मा की एकत्व–स्वरूप परम शान्ति–स्वरूप सुखरस; उत्तम आर्जवधर्म है।

९. बाह्य-अभ्यन्तर उपाधियों की महिमारूप वक्र परिणामों के अभाव–पूर्वक उपाधियों से भिन्न निज शुद्धात्मा में उपयोग की स्थिरता; उत्तम आर्जव है। उससे प्रकट निरुपाधि–स्वरूप निजात्मा की शान्ति–स्वरूप सुखरस; उत्तम आर्जवधर्म है।

१०. आत्मधर्म की वृद्धि के हेतुभूत विविध साधनों की उपलब्धि में वीतराग वृत्ति, प्रवृत्ति; उत्तम आर्जव है। उससे प्रकट साध्य परम निजात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आर्जवधर्म है।

११. बाह्य में मन, वचन, काय की और अभ्यन्तर में उपयोग की चञ्चल वृत्ति-प्रवृत्तिरूप विकलता का अभाव; उत्तम आर्जव है। उससे प्रकट अयोग-स्वरूपी निजात्मा में उपयोग की अचलतारूप परमानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम आर्जवधर्म है। विकलता का अर्थ है- मन से निज शुद्धात्म–स्वरूप का चिन्तन न करना; मन की विकलता है। वचन से वीतराग मोक्षमार्ग का उपदेश/प्ररूपण न करना; वचन की विकलता है। काय से मोक्षमार्ग के अनुरूप प्रवर्तन न करना; काय की विकलता है।

१.रा.वा.। २.बा.अनु. ७३।

१२. बाह्य इन्द्रिय विषयों से रहित अतीन्द्रिय विषयक आत्मलीनता; उत्तम आर्जव है। उससे प्रकट इन्द्रियातीत निजात्मा का आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम आर्जवधर्म है।

१३. निज शुद्धात्मा की प्रतीतिरूप सहज भाव; उत्तम आर्जव है। उससे प्रकट स्वाभाविक ज्ञानानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम आर्जवधर्म है।

१४. समस्त जीवों को स्वाभाविक पर्यायत्व से शुद्ध देखना; उत्तम आर्जव है। उससे प्रकट पर्यायस्वरूप निजात्मानुभूतिमयी परम आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम आर्जवधर्म है।

१५. पर द्रव्यों में भ्रमित ज्ञान, पर द्रव्यों से हटकर भ्रम–रहित निजात्म–स्वरूप को जानकर, ज्ञान का उसी में संविलय होना; उत्तम आर्जव है। उससे प्रकट स्थिर ज्ञानानन्द की अनुभूति–स्वरूप सुखरस; उत्तम आर्जवधर्म है।

१६. निज शुद्धात्म ज्ञान की भावना करना; उत्तम आर्जव है। उससे प्रकट शुद्ध ज्ञानानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आर्जवधर्म है।

१७. जगत् के समस्त जीवों के प्रति मोह-क्षोभ का अभाव होना; उत्तम आर्जव है। उससे प्रकट साम्य–भावमयी परम आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम आर्जवधर्म है।

१८. पर द्रव्यों को इष्ट-अनिष्ट न जानना, न मानना; उनके यथार्थ स्वरूप को जानना-मानना उत्तम आर्जव है। उससे प्रकट निज शुद्धात्म–स्वरूप सुखरस; उत्तम आर्जव धर्म है।

१९. निज ज्ञान-स्वभाव की आराधना; उत्तम आर्जव है। उससे प्रकट निज शुद्ध ज्ञानानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आर्जवधर्म है।

उत्तम आर्जवधर्मी व्यक्ति का बाह्य-अभ्यन्तर निश्छल, निष्कपट होता है। उसे पुण्य के फल में हर्ष और पाप के फल में विषाद नहीं होता है। वह त्रियोग की शुद्धिपूर्वक रत्नत्रय की पूर्णता प्रकट करने में उद्यमवन्त रहता है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की वृद्धि एवं पूर्णता प्रकट करने के लिए तत्त्वार्थों का अभ्यास, अनुयोगों और नयों के अभिप्राय को समझकर करता है। उसके हृदय में समस्त जीवों के प्रति दया और करुणा का भाव रहता है। वह अनेक आत्म–हितकर विद्याओं एवं कल्याणप्रद आचार-विचारों से विभूषित रहता हुआ निजात्म-हित के साथ अन्य जीवों का भी हित करता है।

अब यहाँ आर्जवधर्म–घातक माया कषाय के भेदों और शमन के उपायों पर विचार किया जाता है।

माया कषाय

आर्जव का अभाव माया कषाय है अर्थात् माया कषाय; उत्तम आर्जवधर्म की घातक है। अपने हृदय के विचार को छिपाने की चेष्टा करना माया है।[१] अर्थात् राग के उदय से दूसरों के चेतन–अचेतन पदार्थों की वाञ्छारूप और द्वेष के उदय से अन्य जीवों के वध–बन्धन–छेदन करने के दुर्भाव को छिपाना माया है। यह बाँस की जड़, मेंढे के सीङ्ग, गाय के मूत्र की वक्ररेखा और खुरपे के समान; चार प्रकार की है।[२] भगवती आराधना में माया को पाँच प्रकारसे निरूपित किया है— १. निकृति, २. उपधि, ३. सातिप्रयोग, ४. प्रणिधि, ५. प्रतिकुञ्चन।

निकृति– धनादिक देकर किसी कार्य के विषय में मनुष्य को फाँसने का चातुर्य; निकृतिरूप मायाचारी है।

उपधि– सद्भावों को ढँककर धर्म के निमित्त चोरी आदि दोषों में प्रवृत्ति करना; उपधिरूप मायाचारी है।

सातिप्रयोग– धन के विषय में विसम्वाद करना, किसी की धरोहर हरण करना, दूषण लगाना, असत्य बोलना, मिथ्या प्रशंसा करना; सातिप्रयोगरूप मायाचारी है।

प्रणिधि– हीनाधिक मूल्य की वस्तुएँ आपस में मिलाना, हीनाधिक माप–तौल के माप, बाँट–तराजू रखना और हीनाधिक देन–लेन करना; प्रणिधिरूप मायाचारी है।

प्रतिकुञ्चन– आलोचना करते समय अपने दोषों को छिपाना प्रतिकुञ्चनरूप मायाचारी है।

माया कषाय के उदय से आत्मा (जीव) में होने वाले कपटरूप परिणाम मायाचारी है। उससे जीव के मन, वचन, काय की प्रवृत्ति परस्पर में विरुद्ध होती है। जीव के मन में जिस प्रकार के विचार आते हैं, उसी प्रकार के वचन नहीं होते हैं और जिस प्रकार के वचन होते हैं उसी प्रकार का काय से प्रवर्तन नहीं होता है। अर्थात् जीव के मन में कुछ, वचन में कुछ और काय से कुछ अन्य ही प्रवर्तन होता है। मायाचारी से किये गये समस्त शुभ कार्य एवं व्रत, शील, संयम का पालन करना निष्फल होता है। जैसे अभिनयरूप कार्य निष्फल होते हैं वैसे ही अभिनय से धारण किया गया स्वाङ्ग का कोई फल नहीं है।

---

१. स्वहृदय प्रच्छादार्थमनुष्ठानं माया। ध. १२/४ जै.सि. को.। २. गो.जी. गा. २८६। ३. भ.आ.वि. २५/९०

माया कषाय हिंसा-स्वरूप है। उससे स्व-पर घातक मायाचारी होती है। माया कषाय अविद्या की जननी, अपकीर्ति का घर, पाप–पङ्क का बड़ा गड्ढा, नर्क का द्वार, मुक्ति-द्वार का कपाट, शील-वन को जलाने के लिए अग्नि है।[१]

मायाचारी व्यक्ति का बाह्य-अभ्यन्तर प्रवर्तन कुटिल होता है। उसकी मान्यता होती है कि जीवन में मायाचारी किये बिना किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती है। उसके जीवन में जो भी कार्य सिद्ध होता है, उसका श्रेय मायाचारी को देता है। वह मायाचारी को अपनी चतुराई समझता है।

मायाचारी व्यक्ति को अपने मिथ्या आचार-विचारों के प्रकट होने की सदैव शङ्का बनी रहती है। उसकी मायाचारी प्रकट होने पर लोक में निन्दा होती है, परिवारजन, मित्र-गण उस पर विश्वास नहीं करते हैं।

मायाचारी व्यक्ति के मन, वचन, काय का व्यापार अशुभ होता है और अशुभ व्यापार को मोक्षमार्ग मानता है। उसे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रमयी मोक्षमार्ग की यथार्थ प्रतीति नहीं होती है। वह तत्त्वार्थों के स्वरूप को अनुयोग और नयों से समझते हुये भी अपने स्वार्थ की सिद्धि या प्रशंसा पाने के लिए स्वेच्छानुसार कल्पित अर्थ करता है। वस्तु के प्रासङ्गिक एवं प्रयोजनीय अर्थ को छोड़कर अप्रासङ्गिक एवं अप्रयोजनीय अर्थों को मुख्य कर कथन करता है। उससे वह मोक्षमार्ग से वञ्चित रहता है और संसारमार्ग में लिप्त रह भव-भ्रमण बढ़ाता है।

मायाचारी व्यक्ति अपनी ख्याति, लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा और मन-वांछित विषयभोगों की प्राप्ति हेतु किञ्चित् शुभाचरण भी करता है और स्व–हृदय के अशुभ विचारों को छिपाये रखने के लिए शुभ अनुष्ठान आदि भी करता है।

मायाचारी व्यक्ति का लौकिक और अलौकिक बाह्य व्यवहाररूप प्रवर्तन कपटपूर्ण होता है। बाह्य-अभ्यन्तर दोषों को छिपाये रखने से उसे मायाशल्य हो जाती है। लौकिक में प्रसिद्ध है **'विश्वासघाती महा पापी'**। उसे यह विवेक नहीं रहता है कि यह विश्वासघात किसलिए, किसके लिए और किससे कर रहा हूँ।

उत्तम आर्जवधर्म–घातक अभ्यन्तर कारण मायाकषाय का उदय है। उसकी उत्पत्ति के बाह्य साधनाभूत कारण अनेक हैं यथा– १. छल, २. कपट, ३. प्रवञ्चना, ४. ठगना, ५. धोखा, ६. विश्वासघात, ७. अविद्या, ८. अनात्मज्ञान, ९. अध्यात्म–विरूद्धता, १०. असत्य

१. ज्ञानार्णव ५८।

कथन, ११. इन्द्रजाल, १२. दुःष्टता, १३. अपराध, १४. मिथ्याधारणा, १५. भ्रम, १६. विषयभोग, १७. शल्य, १८. वैर, १९. कुटिलता आदि अनेक साधनभूत कारणों से मायाकषाय की उत्पत्ति होती है। उससे उत्तम आर्जवधर्म स्वभावी आत्मा का घात होता है।

छलरूप मायाचार- छल अनेक प्रकार से किया जाता है- छिपाना, शठता, धूर्तता, नियम-विरुद्धता, अभिप्राय-भिन्नता; मन, वचन, काय की विरूपता आदि।

छल; वक्ता के अभिप्राय के विपरीत अन्य अर्थ की कल्पना कर, उसके वचन में दोषारोपण करना छल है।[१] अर्थात् वक्ता के वचन का मुख्य अर्थ छोड़कर अन्य अर्थ की कल्पना कर कहना छल है।

छल तीन प्रकार का है- १. सामान्य छल, २. वाक् छल और ३. उपचार छल।

सामान्यछलरूप मायाचार- सम्भावना मात्र कथन को सामान्य नियम बनाकर, वक्ता के वचन को जान-बूझकर निषेध करना; सामान्यछलरूप मायाचारी है। जैसे वक्ता ने बोला- सामान्यतः श्रमणों में स्वाभाविक सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र होता है तो दर्शन–ज्ञान–चारित्र मिथ्या होने पर भी वह श्रमण संस्तुति योग्य होना चाहिए, क्योंकि वह श्रमण है। अतः सामान्य छल रूप मायाचार है; उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

वाक्छलरूप मायाचार- वक्ता के द्वारा साधारण, सरल किसी शब्द का प्रयोग करने पर, उसके विवक्षित अर्थ को समझते हुए भी अविवक्षित अर्थ की कल्पना कर, वक्ता के वचन का निषेध करना; वाक्छलरूप मायाचार है। जैसे वक्ता ने बोला कि मुनि महाराज की कञ्चन काया है। यहाँ वक्ता का अभिप्राय मुनि महाराज का सुन्दर शरीर कहना है। दुर्भावना से वक्ता के इस अभिप्राय का निषेध कर छल से कञ्चन का अर्थ स्वर्ण धातु कर कहना कि मुनि महाराज का शरीर स्वर्ण धातु का कैसे हो सकता है? अथवा 'रोको मत जाने दो' का अर्थ अल्प विराम का प्रयोग कर अभिप्राय विरुद्ध रोको, मत जाने दो। रोको मत, जाने दो। रोको मत, जाने दो यह वाक्छलरूप मायाचार है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

उपचार–छलरूप मायाचार- वक्ता के उपचरित कथन को जान-बूझकर निषेध कर, अनुपचरित/यथावत् अर्थ कर कहना उपचार–छलरूप मायाचार है। जैसे वक्ता ने बोला कि भरत क्षेत्र से मोक्ष होता है। वक्ता के इस उपचरित कथन को समझते हुए भी, दुर्भावना से अनुपचरित अर्थ की कल्पना कर, उपचरित अर्थ का निषेध कर कहना कि मोक्ष भरत–क्षेत्र से नहीं, मोक्ष तो अष्ट कर्मों के क्षय से होता है। अथवा जैसे गङ्गा पर गाँव बसा है। वक्ता का अभिप्राय है,

१. न्याय सूत्र १/२।

गङ्गा के किनारे गाँव बसा है; किन्तु छल से कहना कि गङ्गा नदी पर गाँव बसता है क्या? नहीं। यह उपचार छलरूप मायाचार है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

छलरूप माया कषाय की निवृत्ति और उत्तम आर्जवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

वक्ता के कथनों का अर्थ, वक्ता के अभिप्राय के अनुसार करना चाहिए। वक्ता के अभिप्राय से विपरीत नहीं करना चाहिए। अतः वस्तु का स्वरूप निश्छल भाव से यथार्थ समझकर निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

कपटरूप मायाचार- बाह्य-अभ्यन्तर दोषों को छिपाने वाला बनावटी व्यवहार; कपट है। अथवा यथार्थ को आवरित रखना/प्रकट न होने देना; कपटरूप मायाचार है। व्यक्ति अपने बाह्य-अभ्यन्तर दोषों को छिपाने के लिए बाह्य में बनावटी/दिखावटी प्रवर्तन करता है जो कि देखने वालों को निर्दोष–सा प्रतीत होता है। व्यक्ति स्वयं की विषय–भोगों की आसक्ति को ढँकने के लिए संसार से निवृत्ति का स्वाङ्ग धारण करता है। संवेग, वैराग्य का उत्पादक धर्मोपदेश भी देता है, अन्य जनों से परिग्रह का त्याग करवाता है और दान के नाम पर स्वयं ग्रहण कर हर्षित होता है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

व्यक्ति लौकिक में अपने घर आये व्रती/अव्रती आगन्तुकों के प्रति असुहावना भाव रखता है। उनके सम्मुख अति अनुराग प्रदर्शित करता है। आगन्तुक; जब जाने के लिए द्वार के बाहर चला जाता है तब कहता है- रुको, भोजन करके जाना इत्यादि कपटरूप वचन–व्यवहार करता है। कपटी अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दातारों के प्रति पहले से अति विनम्रतापूर्वक मधुर सम्भाषण करता है। स्वार्थ सिद्ध होने के पश्चात् ही उन्हीं के प्रति अति कठोर, अप्रिय, अभद्र–वचन बोलने लगता है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

कपटरूप मायाचार की निवृत्ति और उत्तम आर्जवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि-

कपट से सद् आचार-विचारों का ह्रास/नाश और असद् आचार-विचारों की वृद्धि होती है। कपट अति निन्द्य है। कपट, प्रकट होने पर अन्य जन तो क्या उसके माता-पिता, परिवारजन भी उसे कपटी कहकर उसका साथ छोड़ देते हैं। वह लोक में अति तिरस्कृत होता है। अतः निष्कपट भावोंपूर्वक, निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

प्रवञ्चनारूप मायाचार- व्यक्ति का सहयोग–पूर्ण व्यवहार और मीठी-मीठी बातों से दूसरों को ठगना, विश्वासघात करना; प्रवञ्चनारूप मायाचार है। प्रवञ्चना के अनेक भेद हैं-

१. प्र.सा.टी. जयसेन स्वामी गा. १०८।

धोखा देना, दूसरों पर मिथ्या आरोप लगाना, हितकर मार्ग/कार्य से विमुख करना; बेईमानी, कठोरता, अनर्गल प्रलाप, प्रताड़ना, मिथ्या रूढ़ियों का पोषण करना आदि।

प्रवञ्चना का अर्थ ठगना है– प्रवञ्चक दूसरों को ठगने के लिए द्वि अर्थी वचन बोलता है। अर्थात् एक ही वचन के दो अर्थ निकलते हैं। जैसे आगम में उल्लिखित है कि तीर्थङ्कर परमात्मा का विहार स्त्री के मायाचारवत् होता है। वहाँ मायाचार का अर्थ है- स्त्रीवेद नाम कर्म के उदय से होने वाला माता का आचार[१] (पुत्र का जन्म होने पर दुग्ध आदि का सहज निकलना) है। प्रवञ्चक उस मायाचार का अर्थ स्त्री के मायाचारीवत् करता है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

प्रवञ्चना का अर्थ है– अनर्गल प्रलाप करना। प्रवञ्चक; लौकिक-अलौकिक विषयों का अनर्गल प्रलाप करता है। वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप को न कहकर विरूद्ध, वस्तु से असम्बन्धित निरूपण करता है। लौकिक में लोक–विरूद्ध कथनों का समर्थन कर स्वयं का स्वार्थ-सिद्ध करता है। अलौकिक में संसार-वर्धक हेतुओं को भी मोक्ष–सिद्धि के हेतु प्ररूपित करता है तो कभी संसार–वृद्धि के हेतु प्ररूपित करता है। उसकी दशा मद्योन्मत्त की भाँति होती है। वह कभी माँ को माँ तो कभी पत्नी कहता है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

प्रवञ्चनारूप मायाचार की निवृत्ति और उत्तम आर्जव धर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जगत् के भोले-भाले जीवों के हित की दृष्टि से द्वि अर्थी वचनों का प्रयोग न करूँ। द्वि अर्थी वचन बोलने से उनका अहित हो सकता है। जो भी वचन बोलें वह स्पष्ट अर्थ को बताने वाला हो। अपनी विद्वत्ता दिखाने को अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग न करना। अपनी स्वार्थ की सिद्धि के लिए स्व-पर की झूठी प्रशंसा न करना। अपने प्रकट गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर न कहना। लौकिक व्यापार आदि में अंशी (हिस्सेदार) को उसके अंश (हिस्से) का द्रव्य पूरा देना– कम नहीं। अत: जीव को अवञ्चक भावरूप निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

ठगनेरूप मायाचार- आत्म–हित के इच्छुक जिनधर्म के श्रोताओं को मुनिधर्म का उपदेश न देकर पहले ही श्रावकधर्म का उपदेश देना, श्रोताओं को ठगनेरूप मायाचार है।[१] पुरुषार्थी श्रोता तो मुनिधर्म का उपादेश श्रवण कर, मुनिधर्म को अङ्गीकार कर, शुद्धोपयोग के बल से सकल कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त करता; किन्तु वह श्रावकधर्म श्रवण कर ठगाया

१. यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमति:।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निगृहस्थानम्।।पु.सि.उ. १८

हुआ उसमें ही सन्तुष्ट हो गया अर्थात् वक्ता ने श्रोताओं को ठगा है। ठगनेरूप मायाचार से उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

लौकिक में भोले-भाले जीवों को वस्तु की शुद्धता/अविकृतता का ज्ञान न होने से या परिस्थिति के वश क्रय करने पर उन्हें अशुद्ध/विकृत वस्तु बेचना, अल्प मूल्य की वस्तु को बहुमूल्य/अधिक मूल्य की वस्तु में मिलाकर विक्रय अथवा अल्प मूल्य की वस्तु को अधिक मूल्य में विक्रय करना ठगनेरूप मायाचार है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

ठगनेरूप मायाचार की निवृत्ति और उत्तम आर्जवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

श्रोताओं को धर्मोपदेश तो सदा ऊपर चढ़ने/आगे बढ़ने के लिए मुनिधर्म का ही दिया जाता है। श्रोताओं की मुनिधर्म अङ्गीकार करने की सामर्थ्य न होने पर, मुनिधर्म धारण के अभ्यास हेतु श्रावकधर्म का उपदेश दिया जाता है। मोक्षमार्ग में ठगना तो अपराध है और अनन्त संसार–भ्रमण का कारण है। लौकिक में भी ठगना दण्डनीय अपराध है। अत: जीव को ठगनेरूप मायाचार–विहीन शुद्ध आत्मधर्ममयी निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

धोखारूप मायाचार- व्यक्ति; भोले-भाले जीवों को पहले तो वीतराग–विज्ञानमयी धर्मोपदेश देकर उन्हें धर्म–मार्ग से जोड़ता है। श्रोताओं/जीवों के धर्म–मार्ग से जुड़ जाने पर उनसे अपने धर्म–विहीन कार्यों की प्रशंसा/ कीर्ति आदि का प्रचार-प्रसार करवाता है। यह उन भव्य जीवों के प्रति धोखारूप मायाचार है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

कोई तपस्वी उग्र तपश्चरण कर, उस स्थान से विहार कर जाये और उसी स्थान पर अन्य कोई तपस्वी आकर बैठ जाये। नगरवासी उसे पूर्व का तपस्वी समझकर उसकी पूजा करें। वह उससे हर्षित होता रहे; किन्तु प्रकट न करे कि मैं वह तपस्वी नहीं हूँ जो पहले यहाँ तपश्चरण कर रहे थे। वे तो विहार कर गये। मैं तो विहार करता हुआ अभी-अभी आया हूँ। उस साधु ने नगरवासियों को धोखा दिया और स्वयं को भी धोखे में रखा। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

लौकिक में धोखा देने वाला व्यक्ति सदा ही दूसरों का अहित और अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। लोक में यह कथानक प्रसिद्ध है- एक काग (कौआ) किसी व्यक्ति की छत पर बैठकर काँव-काँव करता था। व्यक्ति, उससे बहुत दु:खी था। व्यक्ति उस काग को मारने के लिए असि (तलवार) माँगता था। जब तक कोई उसे असि लाकर देता, काग उसके पहले ही उड़ जाता था। एक दिन उस व्यक्ति ने काग को धोखे से मारने के लिए धनुष-बाण तैयार

रखा। काग की आवाज पर वह असि माँगने लगा। काग ने समझा तलवार लाने से पहले प्रतिदिन की भाँति उड़ जाऊँगा। काग के उड़ने से पहले उसने धोखे से बाण मारकर काग का वध कर दिया। काग ने मरने से पहले उस व्यक्ति से कहा-

काग मरा सो ही मरा, काग मरा मत जान।
मुझसे पहले तू मरा, असि कह मारा वाण।।

धोखा देने वाला व्यक्ति, लोगों को मीठी-मीठी बातों में उलझाये रखता है। धन-वैभव, पद-प्रतिष्ठा दिलाने का लालच देता है और अपना स्वार्थ सिद्ध करता है। स्वार्थ सिद्ध होने पर लालच में आये लोगों का तिरस्कार कर अपने से दूर कर देता है। यह धोखारूप मायाचारी है।

धोखारूप मायाचार की निवृत्ति और उत्तम आर्जव धर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि-

धोखा; दुर्ध्यान और कष्टकारी है। धोखा देने से स्व-पर का अहित होता है। धोखेबाज का धोखा ज्ञात होने पर उस पर से सर्वजनों का विश्वास चला जाता है। धोखा देने वाले के साथ कोई भी अपना व्यवहार नहीं रखता है। धोखे के कारण व्यापार आदि कार्य नष्ट हो जाते हैं। अत: जीव को धर्म और धर्मात्माओं के साथ नि:स्वार्थ भावों के साथ प्रवर्तित रह निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

विश्वासघातरूप मायाचार- व्यक्ति अपने ज्ञान-आचरण और बाह्य मधुर व्यवहार द्वारा अबोधजनों पर अपना विश्वास जमाता है, विश्वास जम जाने पर निजी स्वार्थ की सिद्धि हेतु मोक्षमार्ग का अन्यथा निरूपण करता है। यह विश्वासघातरूप मायाचार है। जैसे तत्त्वार्थों के स्वरूप प्रतिपादन करने में शुभ आस्रव की क्रियाओं को धर्म की प्राप्ति का साधन निरूपण न कर, उन्हें संवर-निर्जरा का कारण और धर्मरूप निरूपण करना, सम्यग्दृष्टियों पर मिथ्या आरोप लगाना, उन्हें धर्ममार्ग से विमुख करना, कठोर प्रताड़ना देना, मिथ्यात्व-वर्धक रूढ़ियों/क्रियाओं का पोषण करना; विश्वासघातरूप मायाचार है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

लौकिक में अपने को महान् दिखाकर, भोले-भाले जीवों को उनके वाञ्छित कार्यों को पूर्ण करने का आश्वासन देकर उन्हें आश्वस्त करना, जीवों के स्वयमेव होते कार्यों का स्वयं को कर्ता बताना, मधुर वचनों से सांसारिक, पारिवारिक या शारीरिक सुख के हेतुभूत कार्यों

को करने का आश्वासन देना किन्तु, कोई भी कार्य को न करना, उनसे निजी स्वार्थ सिद्ध करना, उनके साथ विश्वासघातरूप मायाचार है। विश्वासघात; विष से भी अधिक विषैला होता है। विश्वासघात करना महापाप है। लोक में कहा जाता है- **'विश्वासघाती महापापी'।** विश्वासघात से उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

विश्वासघातरूप मायाचार की निवृत्ति और उत्तम आर्जवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि-

जगत् के भोले-भाले जीवों को सदैव धर्मभावना से मोक्षमार्ग के जीवादि प्रयोजनभूत-तत्त्वार्थों का स्वरूप यथार्थ प्रतिपादन करना चाहिए।

लौकिक में किसी के, किसी कार्य को करने की क्षमता न होने पर भी उसे विश्वास दिलाना कि मैं तुम्हारा कार्य कर दूँगा। कार्य हुआ नहीं। यदि विश्वास न दिलाता तो वह अपने कार्य-सिद्धि के लिए अन्य से या अन्य उपाय से अपना कार्य सिद्ध करने का उद्यमवन्त रहता। विश्वासघात से स्व-पर दोनों का घात होता है। अतः जीव को स्व के पुरुषार्थ से मोक्षमार्ग में चलते हुए निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

अविद्यारूप मायाचार- किसी भी एक विषय का सम्पूर्ण ज्ञान; विद्या है। जगत् में केवलज्ञान सम्पूर्ण विद्या है। उसी के अनुसार होने वाला आंशिक ज्ञान; आंशिक विद्या है। उसके विपरीत संसार-शरीर सम्बन्धी विषय-भोगों का ज्ञान मोक्षमार्ग में; अविद्या है। ज्योतिष, अष्टाङ्ग-निमित्त ज्ञान से भोले-भाले जीवों का भविष्य बताकर, तन्त्र-मन्त्र से वाञ्छित कार्य की सिद्धि बताकर, वैद्यक ज्ञान से शरीर के स्वस्थ/पोषण के उपाय बताकर, लौकिक निजी स्वार्थ-सिद्ध करना; अविद्यारूप मायाचार है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

अविद्यारूप मायाचार की निवृत्ति और उत्तम आर्जवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि-

हमें केवलज्ञानी के ज्ञानानुसार जो आंशिक ज्ञान प्रकट हुआ है, उसका उपयोग सर्वांश केवलज्ञान प्रकट करने में संलग्न रखना चाहिए। शरीर आदि बाह्य पदार्थों का परिणमन मणि, मन्त्र, तन्त्र, औषध आदि के अधीन नहीं है। हमें अपने जीवन में आत्महित के कार्य करना और कराना चाहिए।

केवलज्ञान-विद्या का निरूपण करने के चार अनुयोग हैं- १. प्रथमानुयोग, २. करुणानुयोग, ३. चरणानुयोग, ४. द्रव्यानुयोग।

चारों ही अनुयोगों में वस्तु–स्वरूप का यथार्थ निरूपण है। हमें वस्तु–स्वरूप को अनुयोगों के कथन की मुख्यता से नयानुसार समझना चाहिए। जैसे महासती सीताजी की अग्नि–परीक्षा का कथन; **प्रथमानुयोग** में, व्यक्ति और कार्य का कर्तारूप की मुख्यता होने से, देवों ने अग्नि का जलरूप परिणमन किया। **करणानुयोग** में, कर्मों के उदय और परिणामों की मुख्यता होने से सीताजी के अतिशय पुण्य का उदय और निर्मल परिणामों से अग्नि का जलरूप परिणमन हुआ। **चरणानुयोग** में, व्रत, शील, संयम आचरण की मुख्यता होने से, सीताजी के शील की महिमा से अग्नि का जलरूप परिणमन हुआ। **द्रव्यानुयोग** में, वस्तु परिणमन की स्वतन्त्रता होने से अग्नि का स्व द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से जलरूप परिणमन हुआ। चारों ही अनुयोगों का यह कथन सम्यक् है। अत: जीव को वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझकर निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

अनात्मज्ञानरूप मायाचार- सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रमयी मोक्षमार्ग का ज्ञान; आत्मज्ञान है। शेष सभी प्रकार का ज्ञान; अनात्मज्ञान है। क्षायोपशमिक लौकिक ज्ञान को आत्मज्ञान मान कर, उसके अनुसार प्रवर्तन करना; राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक विषयों का प्रतिपादन करना और उससे अपने को आत्मज्ञानी मानकर, अपनी महिमा प्रदर्शित करना; अनात्मज्ञानरूप मायाचार है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

अनात्मज्ञानरूप मायाचार की निवृत्ति और आत्म उत्तम आर्जवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

निज शुद्ध आत्मा का ज्ञान ही; आत्मज्ञान है। उससे भिन्न सभी प्रकार के ज्ञान; अनात्म ज्ञान हैं। आत्मा; शाश्वत स्वभाव की अपेक्षा से सदा शुद्ध–स्वरूपी है और ज्ञानावरण आदि कर्मों के सम्बन्ध की अपेक्षा से अशुद्धरूपी है। आत्मा का अशुद्ध परिणमन भी क्षणिक विभावरूप है। आत्मज्ञान के बिना व्रत, शील, संयम का पालन करना मोक्षमार्ग में निष्फल है। आत्मज्ञान से रहित क्रियाएँ शरीर को क्षीण करने वाली हैं। कहा भी है- **'आतम-अनात्म के ज्ञान हीन जे-जे करनी तन करन छीन।'**[१] अत: जीव को निज शुद्धात्मस्वरूप को समझकर, निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

अध्यात्म–विरुद्धरूप मायाचार- मिथ्यात्व, रागादि समस्त विकल्प जालों के परिहार से, स्व–स्वरूप में अनुष्ठान करना; अध्यात्म है।[२] व्यक्ति का मिथ्यात्व/मोह, राग, द्वेष में

---

१. छहढाला। २. बृ.द.सं. टीका।

लिप्त रह संसार–शरीर के भोगों के लिए किये गये अनुष्ठानों में मग्नता; अध्यात्म विरुद्धरूप मायाचार है। उससे व्यक्ति आत्म–तत्व को यथार्थ न जानता हुआ अन्यथा जानता है और उस रूप प्रवर्तन करने को मोक्षमार्ग मानता है, जानता है। वह यह नहीं जानता है कि आत्मा का अन्यथा ज्ञान–अनुष्ठान संसार–भ्रमण का हेतु है। अध्यात्म का विरोधी; मिथ्याज्ञान–आचरण को अपनी महिमा मण्डन के लिए अध्यात्मरूप प्रतिपादन करता है यह अध्यात्म–विरुद्ध मायाचार है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

अध्यात्म विरुद्धरूप मायाचार की निवृत्ति और उत्तम आर्जवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीव को मोह, राग, द्वेष रहित होकर, आत्म–प्रवर्तन करना हितकर होता है। आत्म–वस्तु का क्रमवर्ती, सुव्यवस्थित ज्ञान कर, उसी में निमग्न रहना; सम्यक् अनुष्ठान है जो कि मोक्ष का मार्ग है। अर्थात् मिथ्या दर्शन–ज्ञान–चारित्र का परित्याग कर, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रमयी प्रवर्तन करना चाहिए। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की युगपद् एकरूपता मोक्षमार्ग है। अत: मिथ्या दर्शन–ज्ञान–चारित्र को छोड़कर; सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र को ग्रहण करना। इसमें सर्व हेय का त्याग और सर्व उपादेय का ग्रहण समाहित है। अत: जीव को सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र के साथ निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

असत्य–कथनरूप मायाचार– जगत् के भोले–भाले जीवों को संसार–शरीर सम्बन्धी सुख में सुख और दु:ख में दु:ख लगता है। उन्हें संसार और शरीर से सम्बन्धित सुखों की प्राप्ति के लिए और दु:खों को दूर करने के लिए कल्पित किवदन्तियाँ, कहानियाँ, किस्से सुनाना और उसे धर्मरूप समझाना; असत्य कथनरूप मायाचार है। अर्थात् श्रोताओं को निजी स्वार्थ–सिद्धि के लिए आत्म–हितकर; ज्ञान, वैराग्य को बढ़ाने वाली मोक्षमार्ग की सत्य कथाएँ न सुनाना, अपितु संसार–वर्धक असत्य कथा–कहानियाँ सुनाना; असत्य कथारूप मायाचार है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

दूसरे शब्दों में, जीवों को मोक्ष की सिद्धि के प्रबलतम कारणभूत निरास्रव–स्वरूप सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र का उपदेश न देकर, संसार के कारणभूत आस्रव–बन्ध करने का उपदेश देना, उसे मोक्ष का हेतु सिद्ध करना; असत्यरूप मायाचार है। संसारी भोले–भाले जीवों को, सांसारिक सुख की प्राप्ति के हेतुभूत शुभास्रव–बन्ध करने का उपदेश देना और स्वयं को महान; समझना असत्य कथनरूप मायाचार है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का

घात होता है।

असत्य–कथनरूप मायाचार की निवृत्ति और उत्तम आर्जव धर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीवों को सुख की प्राप्ति और दु:खों से मुक्ति का उपाय मोक्षमार्ग की सत्य कथाएँ सुनाना है। जिससे श्रोता; सुख–स्वरूप वीतरागामयी मोक्षमार्ग में निराबाध आगे बढ़ सके। संसार में सुख है ही नहीं तो फिर मिलेगा कैसे? सुख तो मोक्ष की साधना करने में है। संसार में सुख तो, सुख के सर्व साधन संपन्न तीर्थंकरों को नहीं मिला। वे भी सांसारिक सुख की हेतुभूत सर्व साधन–सामग्रियों का त्याग कर, शिव–साधना में संलग्न हुये। **जो संसार विषें सुख हो तो तीर्थंकर क्यों त्यागे, काहे को शिव साधन करते संयम सों अनुरागें।**[१]

जीवों को सच्चा सुख तो निज शुद्धात्मा के आश्रय से प्रकट होता है। अत: सभी जीवों को निज शुद्धात्म के आश्रय से रहने का उपदेश देना चाहिए। जीवों को सदा शुद्धात्म–स्वरूप में रहने वालों की सत्य कथाओं का श्रवण कराना चाहिए। संसार का मूल कारण राग है। १०५ क्षु. गणेशप्रसादजी वर्णी कहते थे— **'संसार का मूल स्नेह है।'** अत: संसार–वर्धक कथा सुनाने–सुनने के त्यागपूर्वक जीव को निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

इन्द्रजालरूप मायाचार– इन्द्रजाल का अर्थ है– मायाकर्म, जादूगरी, हाथ की सफाई, विज्ञान के चमत्कार दिखाना आदि। जगत् के भोले–भाले मनुष्यों को चमत्कार दिखाकर, अपने को उग्र तपस्वी मानना और निजी लौकिक कार्य की सिद्ध करना; इन्द्रजालरूप मायाचार है। जादू से आम का पेड़ बनाना, उसमें फल लगे दिखाना, आँख पर काली पट्टी बाँधकर नोट के नंबर पढ़ना, हाथ की सफाई से लोगों को भ्रमित करना आदि। पदार्थों की रासायनिक क्रिया को चमत्कार बताना। जैसे बोतल में अमोनियम क्लोराइड और जल पहले से भर कर रखना। पश्चात् अङ्गुली से चूना अतिशीघ्रता से डालना। उससे बादलों के समान अमोनिया गैस निकलती है। उसे ढक्कन लगाकर कहना कि भूत को बन्द कर दिया। दीपक में पहले से कैल्शियम कार्बाइड डालकर रखना। पश्चात् सर्वजनों के समक्ष उसमें जल भरना। उससे ज्वलनशील गैस एसीटिलीन निकलती है। जो अग्नि के संसर्ग से जलने लगती है। इस प्रकार के अनेक चमत्कार दिखाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना; इन्द्रजालरूप मायाचार है। उससे उत्तम

१. वैराग्य भावना।

आर्जवधर्म का घात होता है।

इन्द्रजालरूप मायाचार की निवृत्ति और उत्तम आर्जवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जगत् के भोले–भाले, अन्धविश्वासी जीवों का मन–रञ्जन कर अपने को तपस्वी प्रदर्शित नहीं करना चाहिए। अपितु उन्हें स्पष्ट ज्ञान/बोध कराना चाहिए कि पूर्वोक्त ये सब कार्य हाथ की सफाई है, विज्ञान के चमत्कार हैं। उनसे तपस्या का कोई सम्बन्ध नहीं है। मोक्षमार्ग में तो इन्द्रजाल का कोई स्थान नहीं है। अतः जीव को चमत्कार विहीन अलौकिक आध्यात्मिक गुण संयुक्त निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

दुष्टतारूप मायाचार– कष्टदायी, पाप, अपराध, खल, दोषयुक्त आदि दुष्टता के एकार्थवाची नाम हैं। व्यक्ति निजी स्वार्थ की सिद्धि के लिए हिंसामयी पाप–क्रियाएँ करने को धर्मरूप प्ररूपित कर उनमें प्रवर्तित रहता है और उन्हें दुःख दूर करने का उपाय समझाता है। कुगुरु, कुदेव, कुधर्म का पोषण करता है। आत्महित के हेतुभूत ज्ञान–वैराग्य को कष्टदायी प्ररूपित करता है,[१] मानता है।

वीतरागी मुनि महाराज को केशलोञ्च के काल में साता का उदय/वेदन होता है और दर्शकों को ज्ञान–वैराग्य प्रकट होता है। केशलोञ्च करना पुण्य–क्रिया है; किन्तु शरीरासक्त–पापभाव से ग्रसित व्यक्ति कहता है– देखो मुनिराज को अतिशय कष्ट हो रहा है, तुम अपना एक बाल उखाड़ कर के तो देखो! तुम्हें बालतोड़ हो जाएगा। पुण्य–क्रिया को पाप–क्रिया कहना; अपराध है। यह दुष्टतारूप मायाचार है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

दुष्टतारूप मायाचार की निवृत्ति और उत्तम आर्जवधर्म को प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

दुष्ट जनों की सङ्गति कभी नहीं करना चाहिए। लौकिक में भी कहा है– **'खल की प्रीति यथा थिर नहीं।'** दुष्टजनों द्वारा प्ररूपित मिथ्यात्व–पोषक पाप–क्रियाओं को करने से जीव को सुख तो नहीं मिलता अपितु संसार–भ्रमण एवं अनन्त दुःखों को भोगना पड़ता है। यज्ञ आदि हिंसक क्रियाओं के करने से स्व–पर के प्राणों का घात होता है। हिंसा करना कभी भी धर्मरूप नहीं हो सकता है। भले ही गङ्गा उत्तर की ओर बहे, सूर्य पश्चिम से उदित हो,

१. आतम हित हेतु विराग–ज्ञान, ते लखें आपको कष्टदान। (छहढाला।)

तारे भूमि पर खिलें; ऐसे अयोग्य कार्य कदाचित् हों तो भी हिंसा धर्म नहीं हो सकती।

श्री गंगा उत्तर बहे पश्चिम उदय हो भानू।
तारागण भूमि पर खिलें हिंसा धर्म न जान।।

अतः जीव को हिंसक–दुष्टजनों की, रागी–द्वेष जनों की सङ्गति छोड़कर, वीतरागी मुनि भगवन्तों की सत्सङ्गति करना चाहिए। सब जीवों पर दया एवं वात्सल्य भाव रखते हुए उन्हें सुख–स्वरूप अहिंसामयी वीतराग धर्म में संलग्न कर, सरल भावमयी निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

अपराधरूप मायाचार– श्रमण या श्रावक अपने व्रतों में लगे दोषों और प्रवृत्ति में हुए अपराधों को कठोर प्रायश्चित्त के भय से यथावत् न बताना अपराध है। गुरु; रागवश सरल और द्वेषवश कठोर प्रायश्चित्त बताए; यह अपराधरूप मायाचार है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

लौकिक में अपराधी को यथायोग्य प्रायश्चित्त न बताना; अपराधी के प्रति रागवश सरल, कम प्रायश्चित्त बताना और द्वेषवश कठोर, अधिक प्रायश्चित्त बताना; अपराधी के प्रति पक्षपात करने से दोषों/अपराधों की शुद्धि नहीं अपितु वृद्धि ही होती है। पक्षपात करना अपराध है। अपराधरूप मायाचार से उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

अपराधरूप मायाचार की निवृत्ति और उत्तम आर्जवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

वृत्ति और प्रवृत्ति में लगे दोषों और अपराधों को शीघ्रता से दूर करना/त्यागना चाहिए। विलम्ब से दूर करने पर दोष/अपराध दृढ़ हो जाता है और दोषों/अपराधों की वृद्धि होती है। जैसे वस्त्र पर लगे दाग को शीघ्र धोने से दाग धुल जाता है, विलम्ब से धोने पर दाग का आंशिक धब्बा रह ही जाता है। दाग जिस प्रकार का हो उसे धोने को पदार्थ भी वैसा ही होता है। उसी प्रकार दोष/अपराध–शोधक प्रायश्चित्त भी वैसा ही होता है। प्रायश्चित्त दण्डरूप नहीं है, शोधकरूप है। अतः जीव को निर्दोष/निरपराध रह, निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

मिथ्या धारणारूप मायाचार– व्यक्ति को आत्मा का सहज शुद्ध स्वभाव, कर्म और कर्मफलों का यथार्थ बोध न होने से उनके सम्बन्ध में मिथ्या धारणाएँ हो जाती हैं। वह उन मिथ्या धारणाओं को भी सम्यक् निरूपित कर, उनका प्रचार–प्रसार निजी स्वार्थ–सिद्धि के

लिए करता है। यह मिथ्या धारणारूप मायाचार है। जैसे मनुष्य; अपने अनुकूल–प्रतिकूल सामग्रियों की प्राप्ति, सुख–दुःख, हानि–लाभ, जीवन–मरण, देवी–देव कृत मानता है, मनवाता है। अथवा श्री जिनेन्द्र देव पर उपसर्ग होना, उन्हें क्षुधा–तृषा, रोगादि होना, ग्रास–आहार करना, दुग्ध–पान आदि करने की धारणाएँ पुष्ट करना और इस प्रकार की धारणाओं को पुष्ट कर अपने को महान् मानना, मिथ्या धारणारूप मायाचार है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

मिथ्या धारणारूप मायाचार की निवृत्ति और उत्तम आर्जवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीवों को उपलब्ध अनुकूल–प्रतिकूल सामग्रियाँ, सुख–दुःख, लाभ–हानि, जीवन–मरण स्वयं जीवकृत परिणामों का फल है। किसी देवी–देवकृत नहीं है। देवी–देवकृत कार्य भी जीव के पूर्वकृत परिणामों का ही फल है। यथा, देव; तीर्थङ्करों को गृहस्थ अवस्था में आहार, वस्त्राभूषण स्वर्ग से लाते हैं। यह तीर्थङ्करों का पुण्य–फल है। तीर्थङ्कर परमात्मा केवलज्ञानी होने के पश्चात् आहार नहीं करते हैं। उन्हें क्षुधा, तृषा, रोग, उपसर्ग नहीं होते हैं। उन्हें जन्म से ही पसीना नहीं आता है। उनकी प्रतिमा को पसीना कैसे आ सकता है? नहीं आ सकता है। ऐसा यथार्थ निर्णय कर जीव को निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

भ्रमरूप मायाचार– भ्रम का अर्थ है– अनिर्णयात्मक ज्ञान। दो पदार्थों की मिली–जुली अवस्था में निर्णय न कर पाना कि यह अवस्था किस पदार्थ की है। जैसे, जीव और पुद्गल की मिली–जुली अवस्था; शरीर है। शरीर को देखकर निर्णय न होना कि यह शरीर जीव की अवस्था है या पुद्गल की, जीव ही शरीर है या शरीर ही जीव है। जीव; शरीर में व्याप्त है या शरीर; जीव में व्याप्त है— यह भ्रम है। भ्रम को प्रकट न करे और कभी जीव को शरीर तो कभी शरीर को जीव कहता है और अपने को महान् ज्ञानी समझता है। यह भ्रमरूप मायाचार है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

लौकिक में व्यक्ति को भ्रम रहता है कि सुखी–जीवन धर्म से होता है या सांसारिक–शारीरिक विषय–भोगों को भोगने से। वह भ्रम से उद्विग्न, क्रोधी, हर्षित होता हुआ रागवर्धक–कामवर्धक रस, रसायनों का सेवन करता है और अन्य जनों को सेवन करने का उपदेश देता है। वह कभी शरीर से कामोत्पादक हाव–भाव कर, सुखी मानता है। सुख का यथार्थ निर्णय न कर, भ्रम को छिपाये रखता है और अपने को महान् ज्ञानी मानता है। यह भ्रमरूप मायाचार है।

उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

मायाचारभ्रमरूप की निवृत्ति और उत्तम आर्जवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

भ्रमरूप मायाचार से स्व–पर के आत्म–स्वरूप का घात होता है। जीव निज शुद्धात्म–स्वरूप की यथार्थ प्रतीति नहीं कर पाता है। उससे संसार–भ्रमण की वृद्धि होती है। अत: श्री जिनेन्द्रदेव–प्रणीत आत्म–स्वरूप का सम्यक् निर्णय कर, भ्रमरहित हो जीव को निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

विषय–भोगरूप मायाचार– व्यक्ति; विषय–भोगों की अभिलाषा से भोले–भाले जीवों को विषय–भोगों को सुखद इष्ट निरूपित करता है। वह स्वयं के विषय–भोगों को पुष्ट करने के लिए अन्य जनों को स्वर्ग के सुखों का प्रलोभन देकर, उनकी त्यक्त सामग्रियों का सङ्ग्रह करता है। भक्तजनो! तुम अपनी भोग–सामग्रियाँ मुझे दान करोगे तो तुम्हें स्वर्ग मिलेगा। स्वर्ग में अक्षय सुख का भोग करोगे। इस प्रकार से विषय–भोगों का पोषण करना और अपने को महान् धर्मात्मा मानना; विषय–भोगरूप मायाचार है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

विषय–भोगरूप मायाचार की निवृत्ति और उत्तम आर्जवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

पाँचों इन्द्रियों के विषय–भोग सुख–स्वरूप नहीं, दु:ख–स्वरूपी और भविष्य में भी दु:ख के कारण हैं तथा वित्त (धन) और शरीर को क्षीण करने वाले, जीव के बैरी हैं, भवरोग–वर्धक हैं, भोग भोगते समय अच्छे/सुहावने/सुखद प्रतीत होते हैं किन्तु उनके फल नीरस हैं, जीव को निष्क्रिय कर देते हैं।

भोग बुरे भव रोग बढ़ावे बैरी है जग जियके।
बेरस होय विपाक समय अति सेवत लागे नीके।। वैराग्य भावना

व्यक्ति को नित्य नई–नई भोगों की लालसाएँ बढ़ती जाती हैं। भोगों का जहर चढ़ता जाता है और अन्त में मरण कर दुर्गति में चला जाता है। विषय–भोगों में सुख है ही नहीं तो मिलेगा कैसे? यदि विषय–भोगों में सुख होता तो सर्व अनुकूल विषय–भोगों की सामग्री–सम्पन्न तीर्थङ्कर परमात्मा भोगों का त्याग क्यों करते और मुनिधर्म अङ्गीकार कर मोक्ष–साधना क्यों करते?

जो संसार विषै सुख हो तो, तीर्थङ्कर क्यों त्यागे।
काहे को शिव–साधन करते, संयम सों अनुरागै।। वैराग्य भावना

अत: जीव को विषय–भोगों में सुखरूप मान्यता त्याग कर, निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

हिंसारूप मायाचार– जीव के परिणामों में रागादि की उत्पत्ति का नाम अभ्यन्तर हिंसा है और प्रमाद के योग से स्व–पर जीवों के प्राणों का वियोग करना बाह्य हिंसा है। हिंसामयी यज्ञ आदि क्रियाओं को धार्मिक अनुष्ठान बताना, उससे लौकिक–पारलौकिक सुख की सिद्धि निरूपण करना, संसार–वर्धक क्रियाएँ करने का उपदेश देना, अहिंसामयी वीतराग धर्म का उपदेश न देना; हिंसा स्वरूप है और उससे अपने को धर्मात्मा मानना–मनवाना; हिंसारूप मायाचार है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

हिंसारूप मायाचार की निवृत्ति और उत्तम आर्जवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

रागभाव हिंसा–स्वरूप है और वीतरागभाव अहिंसा–स्वरूप है। वीतराग भावों से स्व–पर जीवों को सुख–शान्ति मिलती है। हिंसात्मक अनुष्ठान धर्मरूप नहीं होता है। यज्ञादि अनुष्ठानों में बहुत आरम्भ होता है, छ: काय के जीवों की हिंसा होती है। आगम में छ: काय के जीवों की रक्षा करने का उपदेश है। मुनि भगवन्त स्थावर जीवों की रक्षार्थ और स्वयं का प्रमाद टालने को मयूर पिच्छिका रखते हैं। अत: जीव को अप्रमत्त–भावों के साथ निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

शल्यरूप मायाचार– जीव को शूल के चुभने की भाँति पीड़ादायक परिणाम शल्य है। शल्य तीन प्रकार की होती है– १. मिथ्या शल्य, २. माया शल्य, ३. निदान शल्य।

शल्य को बाह्य में प्रकट न होने देने के लिए किया गया धार्मिक अनुष्ठान एवं आचरण शल्यरूप मायाचार है।

शल्यरूप मायाचार की निवृत्ति और उत्तम आर्जवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीव को शल्य सदैव कष्टकर होती है। आत्मधर्म को विकृत करती है। व्रतों का घात कर संसार भ्रमण की ओर ले जाती है। शल्य अधिक समय तक बनी रहे तो दुर्गति गमन भी कराती है। अत: जीव को नि:शल्य भावपूर्वक निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना ही

श्रेयस्कर है।

बैररूप मायाचार– व्यक्ति का बदला लेना या अहित चाहने का क्रूर परिणाम छः माह से अधिक समय तक रह जाये तो वह बैर में परिणत हो जाता है। व्यक्ति अपने बैररूप भावों को प्रकट न होने दे और उसके प्रति मित्रवत् प्रवर्तन करता रहे ऐसा बैर अधिक दृढ़ होने पर भवान्तरों में भी साथ जाता है। जैसे कमठ को बैरभाव दश भव तक बना रहा।

बैररूप मायाचार की निवृत्ति और उत्तम आर्जवधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

बैरभाव दुर्गति का कारण है। भव–भव में दुःखदायक है। बैर रखने वाले की जगत् में निन्दा होती है। उसका कोई मित्र/साथी नहीं होता है। उसे धर्म की प्राप्ति नहीं होती है। अतः जीव को शत्रुओं के प्रति बैर भाव न रखकर निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

कुटिलतारूप मायाचार– कुटिलता का अर्थ है– झुकाव, वक्रपना, दुःखदपना। व्यक्ति को अनन्त धर्मात्मक वस्तु/आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर भी अपनी प्रशंसा और प्रसिद्धि के लिए एकान्त–स्वरूप का कथन करता है। वह किसी एक नय को मुख्य करता हुआ उसे ही सम्पूर्ण वस्तु मानता/स्वीकारता है। सर्व नयात्मक अनेकान्त स्वरूप को प्रकट नहीं करता है। अपने एकान्त पक्ष की ओर झुकाव वालों के मध्य स्वयं को महान् प्रदर्शित करता कुटिलतारूप मायाचार है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

जो व्यक्ति, किसी एक नय का पक्षपाती हो, अन्य नयों का उपहास/खण्डन करता है और नय पक्षपातियों के मध्य महान् बना रहने का भाव रखता है– यह कुटिलतारूप मायाचार है। उससे उत्तम आर्जव धर्म का घात होता है।

जो व्यक्ति सुख–स्वरूप, आत्म–हितकर, ज्ञान–वैराग्य को कष्टकर मानता है और दुःख–स्वरूप, आत्म–अहितकर कुज्ञान और विषय भोगों को सुखद मानता है। इस प्रकार विषय–भोगों में लिप्त रह अपने को महान् मानना कुटिलतारूप मायाचार है।

दूसरों शब्दों में, व्यक्ति; आत्म–वस्तु को समझने का तो प्रयास नहीं करता है। अपने को महान् दिखाने के लिए शास्त्राभ्यास और किञ्चित् त्यागरूप आचरण भी करता है; किन्तु

अभ्यन्तर में सांसारिक और शारीरिक विषय–भोगों की अभिलाषा रखता है। वह स्वार्थ की सिद्धि के लिए मधुर सम्भाषण करता है। स्वार्थ की सिद्धि होने या न होने पर अहित करने के वक्र परिणाम करता है। वक्र परिणाम से स्वयं का ही अहित करता है। दूसरों को दु:खी करने के परिणाम स्वयं के लिए दु:ख–स्वरूप और दु:ख के कारण हैं। इस प्रकार कुटिल वृत्ति–प्रवृत्ति को छिपाये रखने के लिए धर्माचरण करना; कुटिलतारूप मायाचार है। उससे उत्तम आर्जवधर्म का घात होता है।

कुटिलतारूप मायाचार की निवृत्ति और उत्तम आर्जवधर्म की प्रवृत्ति के लिऐ सदैव विचार करना चाहिए–

कुटिलता सर्व अनर्थों की जड़ है और कुटिल व्यक्ति का व्रतादि का पालन करना निष्फल है। उसका धर्माचरण टेसू (पलास) के पुष्पवत् है। टेसू का पुष्प अति सुन्दर होता है; किन्तु सुगन्धित नहीं। कुटिल व्यक्ति का धर्माचरण दिखावटी तो है; किन्तु धर्मपना नहीं। अथवा इक्षु (गन्ना) के फूल की तरह है। इक्षु का फूल श्वेत होता है; किन्तु उसमें न सुगन्ध है और न ही फल देता है। कुटिल व्यक्ति का धर्मरूप आचरण न तो निर्मल होता है और न ही उससे स्व–पर का हित होता है। कुटिलतारूप मायाचार से निज शुद्धात्म–स्वरूप प्रकट नहीं होता है। अत: जीव को कुटिलता के त्याग–पूर्वक निज उत्तम आर्जवधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

आर्जवधर्म का फल– उत्तम आर्जवधर्म के फल से मनुष्यभव की सार्थकता, व्रत, शील, संयम का पालन, लोक में समस्त देवों द्वारा पूज्यता, स्वयं में परमात्म–स्वरूप की अनुभूति, सुख की सम्वृद्धि और मोक्ष की सिद्धि होती है।

आर्जवधर्म; बाह्य में मधुर, सरल वचन बोलने और तद्रूप प्रवृत्ति करने के लिए श्रेष्ठ धर्म है। आर्जवधर्म; मैत्री–दायक, वात्सल्य–वर्धक, प्रशंसनीय, पापों का नाशक, आनन्द–दायक, अविनाशी–अतीन्द्रिय, सुखोत्पादक, कषायजयी, संसार–उद्धारक, रत्नत्रय की सम्पूर्ण एकताकारक, सकल कर्मों का क्षयकर, निर्वाण–प्रदायक है।

उत्तम आर्जवधर्म का स्वरूप समझकर सभी आत्माएँ उत्तम आर्जवधर्म–स्वरूपी निजात्मा में निमग्न रहें, ऐसी मेरी मङ्गल भावना है।

उत्तम शौचधर्म

मङ्गलाचरण

लोभ, विषय की चाह से, मलिन चेतना होय।
उत्तम शौचधर्म भाव से, अमल चेतना होय।।

उत्तम क्षमा-मार्दव-आर्जव के समान आत्मा का एक लक्षण उत्तम शौच है। क्रोध के अभाव से उत्तम क्षमाधर्म, मान के अभाव से उत्तम मार्दवधर्म, माया के अभाव से उत्तम आर्जवधर्म प्रकट होता है। उसी प्रकार लोभ के अभाव से उत्तम शौचधर्म प्रकट होता है। शौच की अप्रकटता ही लोभ है। शौचधर्म को तिरोभूत करने वाली लोभ कषाय है। लोभ कषाय के अभावपूर्वक उत्तम शौचधर्म–स्वरूपी निज शुद्धात्मा के आश्रय से संस्कारित शान्ति-स्वरूप सुखरस की जो अनुभूति होती है, वह उत्तम शौचधर्म है।

प्रकर्षता को प्राप्त लोभ की निवृत्ति उत्तम शौच है।[१] उत्तमशौच कारण है और उससे प्रकट स्वात्मसुख उत्तम शौचधर्म है।

उत्तम शौचधर्म के साथ 'उत्तम' विशेषण, प्रशंसा–वाचक और सम्यग्दर्शन का सूचक है।

शौच का शाब्दिक अर्थ है– शुद्धि, संस्कार, पवित्रता, मल का त्याग आदि अथवा लोभ की उत्पत्ति के कारणभूत सांसारिक एवं शारीरिक समस्त भोगोपभोग की सामग्रियों के प्रति वाङ्छारूप मलिन परिणामों का परित्याग कर, निज शुद्धात्म स्वभाव का भोग करना, उत्तम शौच है। प्रकर्षता को प्राप्त लोभ की निवृत्ति उत्तम शौचधर्म है।[१] उत्तम शौच कारण है और उससे प्रकट स्वात्मसुख उत्तम शौचधर्म है। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है, सम्यग्ज्ञान कारण है और सम्यक्चारित्र कार्य है, उसी प्रकार उत्तम शौच कारण है और उत्तम शौचधर्म कार्य है। कारण में कार्य का उपचार कर उत्तम शौध को उत्तम शौचधर्म प्ररूपित किया जाता है।

उत्तम शौचधर्म का अर्थ है- सम्यग्दर्शनपूर्वक समस्त प्रकार के लोभरूप मलों का त्याग कर, स्व-शुद्धात्म के संस्कारों से प्रकट पवित्र स्वात्मानुभूति–रूप सुखरस में निमग्नता।

१. **शुचेर्भावः शौचम्**[२] आत्मा के शुचि भावों को शौच कहते हैं। शुचि का अर्थ है- द्रव्य कर्म, भावकर्म, नोकर्म के संबंध से रहित शुद्ध भाव। उससे प्रकट स्वात्मानुभूति में निमग्नतारूप सुखरस आनन्द; उत्तम शौचधर्म है।
२. समस्त प्रकार के लोभों से निवृत्ति उत्तम शौच है।[३]

---

१. प्रकर्षता प्राप्त लोभनिवृत्तिः शौचम्।।रा.वा.। २. स.सि. ९/६। ३. प्रकर्षप्राप्तलोभान्निवृत्तिः शौचम् ९/६ स.सि.।

३. उत्तमता से प्राप्त विशेष पदार्थों के प्रति रागरूप लोभमल का त्याग करना; उत्तम शौच है।[1] उससे प्रकट परम विशुद्ध पवित्र स्वात्मानुभूति–रूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

४. सांसारिक-शारीरिक विषय-भोगों और भोगों की सामग्रियाँ पाने की इच्छाओं का त्याग कर, मन-वचन-काय का आत्महित में प्रवर्तन करना; उत्तम शौच है। उससे प्रकट निज शुद्धात्मा का भोगरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

५. विषय-भोगों की आशा-तृष्णारूप मलिन भावों के अभाव से साम्य भावों की प्रकटता; उत्तम शौच है। उससे प्रकट समरसी निजात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

६. धन-सम्पत्तिरूप बाह्य वैभव के प्रति विरक्ति का भाव; उत्तम शौच है। उससे प्रकट निज शुद्धात्म के ज्ञान आदि वैभव में निमग्नता का ज्ञानानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

७. बाह्य में वित्त (रुपया) आदि के सङ्ग्रह की इच्छा के अभावपूर्वक अभ्यन्तर में रत्नत्रय–धन की पूर्ण प्रकटता का भाव; उत्तम शौच है। उससे प्रकट स्व-स्वरूप में सन्तोषरूप परमानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

८. बाह्य वैभव के कारणभूत पुण्यार्जन की अरुचिपूर्वक अनन्त गुणमयी निज शुद्धात्म-स्वरस वैभव की सम्वृद्धि में रुचि; उत्तम शौच है। उससे प्रकट वीतराग-विज्ञानमयी निजात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

९. पुण्य-कर्म के विपाक में सुन्दर शरीर का मिलना, प्रशंसा एवं कीर्तिगान होना, यशका फैलना आदि में हर्ष का अभाव होना; उत्तम शौच है। उससे प्रकट अशरीरी-धर्म-स्वरूप निज शुद्धात्मा का आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

१०. अतीन्द्रिय सुख-स्वरूप ज्ञानशरीरी निज शुद्धात्मा की प्राप्ति के उपायों में दृढ़संलग्नता से प्रकट सन्तोष; उत्तम शौच है। उससे प्रकट सिद्ध–समान परमानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

११. आत्मा में कर्मों के उदय-उपशम-क्षयोशपम की मलिनता के अभाव से उत्पन्न शुद्धता; उत्तम शौच है। उससे प्रकट निष्कर्म आत्मानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

१२. बाह्य अनुष्ठानों के विकल्प-जालों से मुक्त हो निज शुद्धात्म-स्वरूप के अनुष्ठान में संयुक्त होना; उत्तम शौच है। उससे प्रकट निर्विकल्प निज शुद्धात्मानुभूति–स्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

---

१. प्रकर्षप्राप्तलोभान्निवृत्तिः शौचम्। ९/६ स.सि. त.रा.वा.।

१३. आत्मा में होने वाले समस्त विकारी भावों के त्याग करनेरूप शुद्धता; उत्तम शौच है। उससे प्रकट निर्विकार सारभूत निजात्मानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

१४. क्रोधादि चारों कषायों के अभाव से आत्मा का निष्कषाय-निजात्म-स्वरूप की प्रकटता; उत्तम शौच है। उससे प्रकट अकषायमयी परम शुद्ध निजानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

१५. समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों के प्रति अहंकार-ममकार का अभाव; उत्तम शौच है। उससे प्रकट स्व-स्वरूप से एकत्वमय परमानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

१६. आत्मा में पर द्रव्य-पर्यायों के सम्बन्ध से उत्पन्न मलिनता को संस्कारित करना; उत्तम शौच है। उससे प्रकट संस्कारित द्रव्यत्व-गुणत्व-पर्यायत्वरूप निजात्मानुभूति–स्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

१७. पराश्रय को छोड़कर निज शुद्धात्मा का आश्रय लेना; उत्तम शौच है। उससे प्रकट स्वाश्रित निज शुद्धात्मा का परमानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

१८. समस्त द्रव्य–आस्रवों एवं भाव–आस्रवों की अशुचिता के निरोधपूर्वक, निरास्रव-स्वरूप शुचिता का होना; उत्तम शौच है। उससे प्रकट संवरमयी परम पवित्र निजात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

१९. स्वर्ग-मोक्ष की अभिलाषा–रहित हो मुक्तस्वरूपी निज शुद्धात्मा में स्थिरता; उत्तम शौच है। उससे प्रकट निरभिलाष, मुक्त-स्वरूप अतीन्द्रिय निजात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

२०. जीवादि पर द्रव्यों के प्रति इष्ट-अनिष्ट भाव–विहीन परिणाम; उत्तम शौच है। उससे प्रकट साम्यभावमयी आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

२१. राग-द्वेषरहित, वीतराग भाव; उत्तम शौच है। उससे प्रकट परम शुद्ध आत्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

२२. अनन्त गुणमयी निज शुद्धात्मा को जानना-मानना; उत्तम शौच है। उससे प्रकट अनन्त सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

२३. मन-वचन-काय का व्यापार निज शुद्धात्मा के सम्मुख होना; उत्तम शौच है। उससे प्रकट अयोग स्वभावमयी निजानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

२४. निज शुद्धात्मा के आश्रय से आत्म-सुख की उत्पत्ति जानना-मानना; उत्तम शौच है।

उससे प्रकट सहज आत्म-सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

२५. निजात्मा का अबन्धरूप भाव; उत्तम शौच है। उससे प्रकट मुक्तस्वरूप आत्मा का परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

२६. पौद्‌गलिक गुण-धर्मों से भिन्न ज्ञान-चैतन्यमयी निजात्मा को जानना-मानना; उत्तम शौच है। उससे प्रकट चिदानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

२७. नवतत्त्वों की सन्तति को छोड़कर एकत्व–स्वरूप निज आत्मा की प्रतीति; उत्तम शौच है। उससे प्रकट स्वात्म-तत्त्व का परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

२८. सकल कर्मबन्ध–रहित निजात्मा की प्रतीति; उत्तम शौच है। उससे प्रकट अबन्ध-स्वरूप निज शुद्धात्म का सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

२९. समभाव और सन्तोषरूपी जल से आशा-तृष्णा और लोभरूपी मल को धोना तथा भोजन के प्रति गृद्धता का अभाव; उत्तम शौच है।[१] उससे प्रकट साम्यभावमयी अनाहार–स्वरूप परम सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

३०. परस्त्री, पर-धन की अभिलाषा से रहित, षट्‌काय के जीवों की विराधना–विहीन चित्त-वृत्ति; उत्तम शौचधर्म है।[२] उससे प्रकट स्वात्म–ज्ञानधन एवं निज शुद्ध परिणति–रूप परम सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

३१. द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मा का सहज स्वभाव तो सदा शुद्ध–स्वरूप है; किन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से शुद्ध–स्वरूप प्रकट करने का पुरुषार्थ किया जाता है। आत्मा के त्रैकालिक सहज शुद्ध–स्वरूप में अविचल रहना; उत्तम शौच है। उससे प्रकट अचल, ध्रुव, अनुपम स्वात्मा की सुखानुभूति–रस; उत्तम शौचधर्म है।

"उत्तम शौचधर्म बतलाता है कि बाह्य वस्तुओं में ममत्व परिणाम मत करो। बाह्य ठाट-बाट में परिणति रखने को ही अपवित्रता कहते हैं। आत्मा तो निर्मल ज्ञान से परिपूर्ण स्वयं शुचि है। इस श्रद्धा के बल पर ज्ञानी को राग-द्वेष आदि भाव नहीं होते हैं। इसको उत्तम शौचधर्म कहते हैं।"[३]

बाह्य में अनुकूल चेतन-अचेतन पदार्थों का जो संयोग मिला है, वह पुण्य का फल है। जीव; पुण्य और उसके फलों से सर्वथा भिन्न चेतन–स्वरूप आत्म-तत्त्व, ज्ञाता-दृष्टा चेतन–स्वरूप भगवान् आत्मा है। ऐसे भावों की सुखानुभूति–रस को उत्तम शौचधर्म कहते हैं।

---

१. का.अ.मू. ३९७। २. प.प.वि. ९४। ३. धर्म प्रवचन।

वीतराग-विज्ञानमयी निजात्म-स्वभाव के बल से पर-द्रव्य एवं परभावों में आकृष्ट न होना और प्रशस्त भावों में लिप्त न रहना; उत्तम शौच है। उससे प्रकट निर्विकल्प परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम शौचधर्म है।

यद्यपि उत्तम शौचधर्म-घातक लोभ कषाय है, तो भी रत्नत्रय के प्रति का लोभ कथञ्चित् इष्ट है। रत्नत्रय के साधन-विषयक लोभ से स्वर्ग-मोक्ष की सिद्धि देखी जाती है।[१] गृहस्थ के राग के संयोग से मिथ्यात्व, मोह-राग-द्वेष अज्ञान-नाशक और श्रुत-विषयक निज शुद्धात्मा का जो अनुभव होता है, वह परम सौख्य का कारण होता है।[२]

उत्तम शौचधर्म सबसे बड़ा निर्दोष धर्म है। उससे प्राणी शुचि होता है। उसके व्रत-शील-संयम-जप-तप-ज्ञान-ध्यान के प्रभाव से रागादि का मल धुल जाता है।

शौच सदा निर्दोष धर्म बड़ो संसार में।,
प्राणी सदा शुचि शील जप-तप- ज्ञान ध्यान प्रभावते।[३]

अब यहाँ शौचधर्म–घातक लोभकषाय के भेदों और शमन के उपायों पर विचार किया जाता है।

लोभकषाय

शौच की अप्रकटता ही लोभ है। लोभ का अर्थ- पाँचों इन्द्रियों और मन के विषय-भोगों की अभिलाषा, उन पर लुब्ध होना और उन पर लिप्त रहना है। शारीरिक अनुकूल पदार्थों के उपलब्ध होने पर उनके प्रति जो आकर्षण और आसक्ति होती है, वह लोभ है।[४] जीव को जब-तक अनुकूल भोग-सामग्रियों की उपलब्धि और उन्हें भोगने की लालसा/आशा बनी रहती है तब-तक चित्त की शुद्धि नहीं होती है, अशुद्धि बनी रहती है।[५]

दूसरे शब्दों में, सांसारिक एवं शारीरिक भोग्य–सामग्रियों की प्राप्ति की अभिलाषा और उन्हें भोगने की गृद्धता/आसक्ति तथा प्राप्त भोग्य–सामग्रियों को सञ्चित रखना; लोभ है।

भोग और भोग–सामग्रियों की उपलब्धि स्वप्नवत् है, यथार्थ नहीं। विषय-भोगों की आशा-तृष्णा अनन्त है। यह आद्यवधि किसी की भी पूर्ण नहीं हुई है। व्यक्ति; लोभ के वश असम्भव भोग्य पदार्थों की उपलब्धि और उन्हें भोगरूप आशा रखता है और प्राप्त भोग सामग्रियाँ बनी रहने की तृष्णा करता है। आशा-तृष्णारूपी लोभ जीव को अभ्यन्तर में सन्ताप कारक है।

१. तिरियणसाहणविसयं लोहादो सुग्गा पवग्गाण मुप्पन्ति दंसणादो क.पा. १/१। २. का.अ.मू. १२३। ३. दश लक्षण पूजन। ४. लाभात् लोभ: जायते (नीति वाक्य)। ५. येषामाशा तेषां कुत: चित्त शुद्धि (नीति वाक्य)।

जगत् में धन आदि का सङ्ग्रह करना और व्यय न करना तो लोभ है ही; किन्तु वीतराग-धर्म, मोक्षमार्ग के प्रचार-प्रसार और प्रभावना में धन/द्रव्य का सदुपयोग न करना; प्रबलतम लोभ है। जगत् जन विषय-भोगों में धन का अपव्यय करने को लोभ न जानते हैं न मानते हैं, जबकि विषय-भोगों के परिणाम लोभ-स्वरूप हैं। लोभ के परिणामों में उत्तम शौचधर्म का प्रवेश ही नहीं होता है।

निश्चय से समस्त भोगोपभोग सामग्रियों के प्रति आसक्ति का परित्याग जिसका लक्षण है– ऐसे निरञ्जन निज परमात्मत्व से अन्य परमाणुमात्र द्रव्य का स्वीकार करना; लोभ है।[१]

पर–द्रव्यों से अपना हित मानकर, सुख के साधन जानकर उनका सङ्ग्रह करना और अपने को उनका कर्ता-भोक्ता मानना लोभ है। लोभ; आत्मा का मैल है, जो कि अशुचि है, अपवित्र है, दुःखस्वरूप है, दुःख का कारण है। पर–द्रव्यों के संसर्ग में रहने से मनुष्य लोभी हो जाता है। जैसे मल-मूत्र अशुचि पदार्थ हैं, उनसे स्पर्शित होने वाला व्यक्ति/पदार्थ भी अपवित्र हो जाता है। सुगन्धित इत्र भी शरीर के संसर्ग से अपवित्र और दुर्गन्धित हो जाता है। अतः सांसारिक एवं शारीरिक भोग–सामग्रियों को मल की भाँति अशुचि, अपवित्र, दुःख-स्वरूप जानना चाहिए।[२]

लोभ के प्रकार- लोभ चार प्रकार का है, उसके उत्तरभेद अनेक हैं। १. जीवन का लोभ, २. आरोग्य का लोभ, ३. इन्द्रिय-विषयों का लोभ, ४. उपभोग का लोभ। ये चारों स्व-पर विषय के भेद से दो प्रकार के हैं।[३]

१०८ अमृतचन्द्राचार्यदेव लोभ चार प्रकार का लिखते हैं- १. भोग का लोभ, २. परिभोग का लोभ, ३. जीवन का लोभ, ४. इन्द्रियों के विषयों का लोभ।[४] ये चारों प्रकार के लोभ स्व-पर विषयक के भेद से दो प्रकार के हैं। उनसे निवृत्ति का नाम शौच कहा गया है।

पूर्वोक्त लोभ तारतम्यता की अपेक्षा से चार प्रकार का है। १. किरमिची रङ्ग, २. काजल, ३. कीचड़, ४. हल्दी के समान।[५]

व्यक्ति को लोभ अनेक प्रकार का होता है- सत्ता, धन, प्रेम, रूप, काम, क्रिया, साता-सम्मान, आशा-तृष्णा, गृद्धता, आसक्ति, असन्तोष आदि। यह लोभ दुःख–स्वरूप अशुचि भावों का जनक है।

१. निश्चयेन... परमाणुमात्र–द्रव्यस्वीकारो लोभः नि.सा.ता.वृ. ११२। २. चक्रवर्ती की सम्पदा, इंद्र सरीखे भोग, काग बीट सम गिनता हैं सम्यग्दृष्टि लोग। ३. त.रा.वा. ९/६। ४. परिभोगभोगत्वं जीवतेन्द्रिय भेदतः। चतुर्विधस्य लोभस्य निवृत्तिः शौचमुच्यते।।त.सा.। ५. गो.जी.का. २८६

लोभ; धन–सङ्ग्रह करना और उसे व्यय न करना मात्र नहीं है। क्योंकि लोभ तो चारों गतियों में होता है। सिद्धान्त ग्रन्थों में मनुष्य गति की अपेक्षा देव गति में लोभ की मुख्यता प्ररूपित की है। मनुष्य गति में तो मान की मुख्यता है; किन्तु मनुष्यों को धन का लोभ इसलिए प्रचलित है कि धन/द्रव्य के विनिमय से विषय-भोगों की सामग्रियाँ उलपब्ध होती हैं।

पाँचों इन्द्रियों के विषयों की लोभ-दशा का चित्रण करते हुए १०८ आचार्य योगींदुदेव लिखते हैं- हाथी स्पर्शेन्द्रिय, मछली रसनेन्द्रिय, भ्रमर घ्राणेन्द्रिय, पतङ्गा चक्षु इन्द्रिय और मृग कर्णेन्द्रिय के लोभ के वश हो अपने प्राणों का नाश कर देते हैं।[१]

लोभी व्यक्ति पेट भरने के लिए नहीं, पेटी-भरने के लिए धन आदि का सङ्ग्रह करता है। पेट भरने का तो माप है पर पेटी भरने का कोई माप नहीं होता है। लोभी व्यक्ति पेटी भरने के लिए अपने स्वामी, गुरु, बन्धु, बालक, बलहीन, वृद्ध, दीन, अनाथ आदि को निःशंक हो मारकर, उनका धन छीन लेता है।[२]

लोभी व्यक्ति; विचार किये बिना ही नरक गति के कारणभूत बहुत आरम्भ कर, बहुत परिग्रह रखता है, तो भी सन्तोष के बिना अति सङ्क्लेश भावों से क्रूर, निर्दयी हो जाता है। अर्थात् सम्यक् विचार–विहीन हो नरक गति के कारणभूत बहुत आरम्भ-परिग्रह में लिप्त रह समस्त दोषों–रूप प्रवर्तन करता है।[३] आगम में बहुत आरम्भ-परिग्रह को नरकायु के आस्रव का कारण निरूपित किया है।[४]

लोक में अत्यधिक लोभ करने पर भी पाप के फल भोगने वालों को साता की सामग्री उपलब्ध नहीं होती है। उपलब्ध साता की सामग्री भी असातारूप फलित होती है। पुण्य का फल भोगने वालों को साता की सामग्री सहज उपलब्ध हो जाती है और असाता की सामग्री भी सातारूप फलित होती है।

आगम में अप्रशस्त लोभ का तो सर्वथा निषेध किया है; किन्तु प्रशस्त लोभ का कथञ्चित् निषेध नहीं किया है। व्यवहार नय की अपेक्षा से मोक्ष, मोक्षमार्ग–प्ररूपक जिनश्रुत-श्रवण करने के अभिलाषी को धर्म का लोभी कहा है। धर्म के लोभी/धर्म के याचकों को मुनिभगवन्त रागांश के उदय और करुणा-बुद्धि से धर्मोपदेश देते हैं।[५] धर्म एवं धार्मिक ज्ञेयपदार्थों की रुचि रखने वालों को १०८ आचार्य अमृचचन्द्र स्वामी ने ज्ञेयलुब्ध कहा है।[६]

१. परमात्म प्रकाश २/१२, १३। २. स्वामी-गुरु-बन्धु-वृद्धान बलांश्च जीर्ण दीनानि। व्याद्य विगतशङ्को लोभार्तो वित्तमादन्ते॥१९/७१ ज्ञाना. ३. ये किचित्सिद्धन्ते दोषः श्वभ्रश्य साधकाः प्रोक्ताः। १९/७१ ज्ञाना. ४. त.सू. ६। ५. मो.मा.प्र.। ६. स.सागा. ११५ टीका.।

लोभ; आत्मा के अनन्त गुणों में मुख्यत: दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मलिन करता है।

उत्तम शौचधर्म–घातक अभ्यन्तर कारण लोभ कषाय का उदय है और बाह्य साधनभूत कारण अनेक हैं। यथा– १. प्रशस्तराग, २. आत्म–प्रशंसा, ३. ममत्व, ४. परिग्रह, ५. पुण्यफल, ६. पराकर्षणु, ७. राग–रुचि, ८. जीवन, ९. आरोग्य, १०. इन्द्रिय–विषय, ११. भोगोपभोग, १२. साता–सम्मान, १३. धन–सम्पत्ति, १४. विषयासक्ति, १५. आशा–तृष्णा, १६. वशीकरण, १७. मोह, १८. अभिलाषा, १९. लालच, २०. कृपणता, २१. धन, २२. यशकीर्ति, २३. नाम, २४. सुन्दरता, २५. सत्ता, २६. प्रेम, २७. क्रिया आदि अनेक साधनभूत कारणों से लोभ कषाय की उत्पत्ति होती है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

प्रशस्त–रागरूप लोभ- प्रशस्त राग या शुभोपयोग में रुचि; प्रशस्त–रागरूप लोभ है। उससे उपलब्ध/प्राप्त बाह्य इष्ट सामग्रियों में सुख-बुद्धि होती है और उन्हें सङ्ग्रह करने का लोभ होता है। शीघ्रता से मोक्षगमन के लिए घोर तपश्चरण करता है। अज्ञान-अन्धकार-हारक,मोहान्धकार-विनाशक साधनों का सङ्ग्रह करने में रुचि; शास्त्र, पिच्छि-कमण्डलु के प्रति अनुराग, शिष्य-प्रशिष्यों की वृद्धि में हर्ष का भाव; प्रशस्त-रागरूप लोभ है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

प्रशस्त-रागरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

प्रशस्त रागरूप लोभ, शुभोपयोग में रुचि मुक्ति का नहीं, आस्रव-बन्ध का कारण है। शुभोपयोगरूप लोभ के अपराध से स्वर्गादिक की सिद्धियाँ होती हैं, मोक्ष की नहीं। वीतरागी जो मुनिराज सर्वार्थसिद्धि गये हैं, वे शुभोपयोग के अपराध से गये हैं।[१] प्रशस्त राग आत्मा का औदयिक भाव है, मलिन भाव है। प्रशस्त–राग आत्मा का शौच स्वभाव नहीं है। प्रशस्त,राग, लोभ का बीज है। मोक्ष की प्राप्ति का लोभ भी, मोक्ष-प्राप्ति में बाधक है।[२] ख्याति-लाभ-पूजा-प्रतिष्ठा आदि के लोभ से किया गया श्रुत का अभ्यास, उग्र तप आदि भी मोक्ष की प्राप्ति हेतु निष्फल होते हैं। अत: जीव को प्रशस्त–रागरूप लोभ का त्याग कर मोक्ष की प्राप्ति हेतु निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

---

१. रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराध:।।२२० पु.सि. उ.।

२. स्वरूप सम्बोधन।।२१।।

आत्म-प्रशंसारूप लोभ- अपने गुणों का बढ़ा-चढ़ाकर स्वयं वर्णन करना, सामाजिक, धार्मिक कार्यों में प्रवर्तन करने से अपने को उसका कर्त्ता बनना, लौकिक जनों का किञ्चित् सहयोग कर अपने को श्रेष्ठ बताना, लोगों के मुख से अपने गुणों की सराहना सुनने की चाह; आत्म-प्रशंसारूप लोभ है।

आत्म-प्रशंसा सुनने का लोभी व्यक्ति शक्ति से अधिक तप, व्रत आदि शुभाचरण करता है। लौकिक कार्यों में सामर्थ्य से अधिक द्रव्य का व्यय करता है। मिथ्या प्रशंसा करने वालों को अपना हितैषी मानकर, उनका तन से, मन से, धन से सहयोग कर प्रशंसा सुनना चाहता है।

आत्म-प्रशंसा के लोभी को, अपनी प्रशंसा के सिवाय अन्य किसी की प्रशंसा सुनना सुहावना नहीं लगता है। दूसरों के दोषों की निन्दा करने और सुनने में हर्षित होता है। वह गणधरदेव की गद्दी पर बैठकर श्रुत के समक्ष श्रुत की, श्रुत-विज्ञ धर्मात्माओं की निन्दा करता है। उनके गुणों में दोषारोपण करता है। श्रोताओं से निन्दा-प्रस्ताव-पारित करना-कराना और करने वालों की अनुमोदना करता है। दूसरों को अपमानित देखकर या श्रवण कर प्रसन्न होता है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

आत्म-प्रशंसारूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

आत्म-प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करने से नीच गोत्र-कर्म का आस्रव होता है।[१] हमें अपने योग और उपयोग को वीतराग श्री जिनेन्द्रदेव–प्रणीत श्रुतभ्यास एवं वीतराग देव-शास्त्र-गुरु के गुणानुवाद में संलग्न रखना चाहिए। इससे परम पवित्र निजात्म-सुखरस की प्राप्ति होती है।

मुनि भगवन्त परम शौचधर्मी होते हैं। वे लोभरूप मलिनता की कारणभूत आत्म-प्रशंसा और निन्दा से पूर्णतः मुक्त रहते हैं। श्री १०८ आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने स्व-रचित ''पुरुषार्थ–सिद्धि उपाय'' ग्रन्थ के समापन में और समयसार टीका (आत्मख्याति) के समापन में स्वयं को अकर्त्ता प्ररूपित किया है।[२] अतः जीव को आचार्यदेव के अनुसार आत्म-प्रशंसा

---

१. त.सू. ६/२५।

२. वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥२२६॥ पु.सि.उ.
स्वशक्ति संसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूप– गुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः।स.सा.क. २७८

से मुक्त रह निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

लोभ; पर–द्रव्यों को इष्ट मानकर उनका सङ्ग्रह करना लोभ है। लोभ स्वयं के लिए हो या दूसरों के लिए हो, वह पवित्रता का घातक मलिन भाव है। जैसे, पिता लोभ के वश, अपनी सन्तान को सातारूप भोगों के हेतुभूत दश प्रकार के पदार्थों का सङ्ग्रह करता है, वैसे ही श्रमण यदि अपने शिष्यों का सङ्ग्रह करता है तो प्रबल लोभ है।

लोभ के अनेक रूप हैं- यथा; ममत्व, परिग्रह, पुण्य-फल में रुचि, पर के प्रति आकर्षण, राग में रुचि, धनाभिलाषा, जिजीविषा, आरोग्य, इन्द्रिय–विषय, भोगोपभोग, यश, साता-सम्मान की चाह; असन्तोष, गृद्धता, आशा-तृष्णा, वशीकरण, निन्दा, मोह, अभिलाषा, लालच, कृपणता, आदि का होना।

ममत्वरूप लोभ- पर पदार्थों में मेरापना; ममत्व है। व्यक्ति समस्त अनुकूल चेतन-अचेतन पदार्थों में मेरापना मान कर, उनसे सुख-प्राप्ति की कल्पना करता है। उन्हें अपनी इच्छानुसार परिणमित करना चाहता है। उनका ऐच्छिक परिणमित होने के प्रतिभास से ममत्व-भाव का होना और उनका संयोग सदा बना रहने का भाव; ममत्व–रूप लोभ है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

ममत्वरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

लोक में समस्त चेतन-अचेतन पदार्थ स्वतन्त्र और स्वाधीन हैं। उनका परिणमन उनकी स्वकीय योग्यतानुसार होता है, किसी अन्य की इच्छानुसार नहीं। उन पर–पदार्थों के परिणमन से जीव का हित-अहित नहीं होता है। पर–द्रव्य/पदार्थ सदैव पर ही रहते हैं। पर–द्रव्य जीव के और जीव पर–द्रव्यों का कदापि नहीं होता है। अत: पर–द्रव्य/पदार्थों का ऐच्छिक परिणमन का प्रतिभास होने पर भी, उनसे जीव को निर्ममत्व रह निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

परिग्रहरूप लोभ- पर–द्रव्य/पदार्थ के प्रति मूर्च्छा होना; परिग्रह है। अर्थात् जीव की पर–द्रव्यों के सङ्ग्रह करने में निज स्वभाव की संज्ञा–हीनता, बेहोशी/अचेतनत्व जैसी अवस्था का होना; परिग्रह है। व्यक्ति विषयभोगों के हेतु पर–द्रव्य/पदार्थों का सङ्ग्रह कर उनमें ममत्व भाव करता है। ममत्व का नाम ही परिग्रह है। परिग्रह; बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है। बाह्य परिग्रह के दश भेद हैं और अभ्यन्तर परिग्रह के चौदह भेद हैं। पर–द्रव्य/पदार्थों

से सुख-प्राप्ति की कल्पना से उनका सङ्ग्रह करना और सङ्ग्रहीत पदार्थों में ममेदम्–रूप रागांश है, यह बाह्य परिग्रह है। मिथ्यात्व, नोकषाय, क्रोधादि कषाय; अभ्यन्तर परिग्रह हैं। दोनों प्रकार के परिग्रहों में आसक्ति से लोभ अति प्रबल हो जाता है। उससे व्यक्ति पाप-क्रियाओं में लिप्त होकर पशु–समान, सन्निपात के समान अनर्गल प्रवर्तन करने लगता है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

परिग्रहरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

परिग्रहरूप लोभ रागमय है। राग हिंसा-स्वरूप है, दुःखरूप और दुःख का कारण है, सुख का नहीं। परिग्रह के सङ्ग्रह में परिणाम हमेशा आकुल-व्याकुल रहते हैं। परिग्रह से दुर्गति होती है, लोभ की वृद्धि होती है। अतः जीव को परिग्रहरूप लोभ का परित्याग कर, निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

पुण्यफलरूप लोभ- प्राप्त भोग-सामग्रियों को सुरक्षित रख भोगने की प्रबल इच्छा; पुण्यफलरूप लोभ है। जीव को पुण्य के फलरूप काम-भोग को अनुकूल सामग्रियाँ, चक्रवर्ती-सी विभूति, विद्या, ऋद्धि-सिद्धियों की प्राप्ति होती है। व्यक्ति पुण्यफलरूप भोग–सामग्रियों को भोगते हुए भी तृप्त न होकर, अधिक भोगने की चाह, भविष्य में भोगते रहने की चाह और आगामी भव में प्राप्ति हेतु निदानबन्ध कर, पुण्यरूप प्रवर्तन करता है। वर्तमान में और आगामी भव में भोगों को भोगने की प्रबल वाञ्छा पुण्यफलरूप लोभ है। पुण्य-फल की रुचि से व्यक्ति की मति भ्रमित हो जाती है और पाप का बन्ध भी करता है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

पुण्यफलरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

पुण्यफलरूप भोग की सामग्रियों की प्राप्ति जीव के प्रशस्त/शुभ भावों का फल है। पुण्य को कल्पतरु कहा जाता है। पुण्य के फल जानने-देखने के योग्य होते हैं, भोगने योग्य नहीं। यथा, तीर्थङ्कर परमात्मा को पुण्य के फलरूप तीर्थङ्कर–सा पद, समवशरण–सा वैभव प्राप्त होता है। उससे उनकी महिमावर्धक शोभा होती है; किन्तु वे भोगते नहीं हैं। अथवा वृक्ष पर फल लगते हैं, उससे वृक्ष शोभायमान होता है; किन्तु वृक्ष उन्हें भोगता/खाता नहीं है। पुण्य का प्रतिद्वन्द्वी, पाप है। दोनों ही जीव के विभाव भाव हैं। जीव पाप के फल नहीं भोगना

चाहता है तो उसी का सहोदर पुण्य का फल भी नहीं भोगना चाहिए। अतः जीव को पुण्य से रहित धर्मरूप फल भोगने हेतु निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

पराकर्षणरूप लोभ- जीव को लोभ से चेतन-अचेतन पदार्थों के प्रति जो आकर्षण होता है, वह आकर्षणरूप लोभ है। जीव पाँचों इन्द्रियों के विषयों के लोभ से, पौद्गलिक विषयों में आकृष्ट होता है। यथा, स्पर्श के लोभ से कोमल आदि पदार्थों के स्पर्श के प्रति, रस के लोभ से मिष्ट आदि रसों के प्रति, गन्ध के लोभ से सुगन्ध के प्रति, वर्ण के लोभ से सुन्दर रूप के प्रति, शब्द के लोभ से स्वर–सङ्गीत के प्रति आकृष्ट हो जाता है। वह पराकर्षणरूप लोभ है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

पराकर्षणरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

पराकर्षण समस्त दुःखों का बीज है। स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्द ये पुद्गल द्रव्य के धर्म हैं, जो कि अचेतन–स्वरूप हैं। जीव तो पौद्गलिक धर्मों से सर्वथा भिन्न चेतन–स्वरूप ज्ञानमयी है। जीव का पौद्गलिक धर्मों के प्रति आकर्षण मानसिक और सामयिक है। जीव; उनके प्रति कभी आकृष्ट होता है तो कभी नहीं भी होता है। जीव का मन प्रसन्न हो तो आकृष्ट होता है, मन अप्रसन्न हो तो नहीं होता है। सुखद समय में आकृष्ट होता है, दुःखद समय में नहीं होता है। यथा; मञ्चासीन के गले में मालाएँ, शॉल-श्रीफल शोभायमान होती है किन्तु, चेतना–रहित शरीर पर नहीं। अतः जीव को पौद्गलिक धर्मों के प्रति उदासीन रह, निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

राग की रूचिरूप लोभ- राग; स्वयं के विषय-भोगोंमात्र का हो या दूसरों के प्रति का हो– यह राग की रूचिरूप लोभ है। राग; शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। शुभ राग का फल स्वर्गादिक और अशुभ राग का फल नरकादिक है। स्वर्गादिक के फल पाने की रुचि लोभ है, जो कि राग की रुचिरूप लोभ है, मलिन भाव है, अन्यथा श्रद्धान है। राग के फल की रुचि से किया गया शुभाचरण/व्रतादि का पालन करना मोक्षमार्ग में निष्फल है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

राग की रुचिरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

राग के प्रति रुचि, उसे हितकर–धर्म मानने से होती है। राग को धर्म मानना, जिनागम

में अन्यथा श्रद्धान प्ररूपित किया गया है। यह अनन्त संसार-भ्रमण का कारण होने से सर्वथा त्याज्य है। वीतरागभाव मोक्ष का कारण है और मोक्ष-स्वरूप है। वीतरागता के साथ चमकने वाला राग भी स्वर्गादिक का कारण तो है; किन्तु मोक्ष का नहीं। अत: जीव को वीतराग-विज्ञानमयी निज शुद्धात्मा के आश्रय से निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

जीवनरूप लोभ- जीव को जीवित बने रहने का भाव जिजीविषारूप/ जीने की इच्छारूप लोभ है। जीव को स्व-परिणामों से प्राप्त इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छवास का बना रहना जीवन है। जीवन को सुखद एवं दीर्घ बनाये रखने की उद्यमरूप वृत्ति-प्रवृत्ति जीवनरूप लोभ है। लोक में नारकियों के सिवाय सभी गतियों के जीवों को जीवनरूप लोभ व्याप्त है। मनुष्य, देव, तिर्यञ्च गति के जीव प्राप्त भवरूप पर्याय में सुख मानकर जीवित रहना चाहते हैं। कोई भी जीव प्राप्त पर्याय को छोड़ना नहीं चाहता है। पर्याय छूटने के कारण उपस्थित होने पर उनको दूर करना चाहता है। मनुष्य तो जीवित रहने के लोभवश रस-रसायनों का सेवन करता है और जीवन छूटने के भय से सञ्चित धन-सम्पत्ति को भी व्यय कर देता है। तिर्यञ्च; गोबर का कीड़ा भी गोबर में ही जीना चाहता है। यह जीवन का लोभ है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

जीवनरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

स्व परणामों से प्राप्त इन्द्रिय-बल-आयु और श्वासोच्छ्वास का कारणवश क्षय होने पर जीवन समाप्त हो जाता है। अर्थात् मरण हो जाता है। अद्यावधि किसी का भी जीवन शाश्वत नहीं है। शाश्वत जीवन तो मात्र सिद्ध-पर्याय में है। अत: जीव को सुख-सत्ता-चैतन्य-बोध प्राणयुक्त जीवन जीने के लिए निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

आरोग्यरूप लोभ- मनुष्य; जीवन–पर्यन्त आरोग्य रहना चाहता है। रूग्ण रहकर कोई भी जीना नहीं चाहता है। लोक में प्रचलित है ''पहला सुख निरोगी काया''। मनुष्य आरोग्य रहने के लिए भक्ष्य–अभक्ष्य, हित–अहित का विवेक नहीं रखता है। ऋतु के अनुरूप वृष्य–इष्ट पदार्थों एवं रस–रसायनों का सेवन करता है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

आरोग्यरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

औदारिक शरीर तो रोगों का घर है। इसके एक अङ्गुल प्रमाण में छ्यानवें हजार रोग

होते हैं, पूर्णतः निरोग तो होता ही नहीं है। पूर्व में महाव्रतियों का शरीर भी रोगों से ग्रसित हुआ है। जैसे; १०८ सनतकुमार महाराज, १०८ वादिराज महाराज आदि। सम्पूर्ण आरोग्य शरीर तो परमौदारिक अरहन्त परमात्मा का होता है। आरोग्यता; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकरूपता है। इनकी हीनाधिकता और विरूपता आत्मा की रूग्णता है। ज्ञानशरीरी ही सम्पूर्ण आरोग्य रहता है। अतः जीव को सम्पूर्ण आरोग्य होने के लिए निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

इन्द्रिय–विषयरूप लोभ- संसारी जीव पाँचों इन्द्रियों के विषय-भोगों में भ्रम से सुख मानकर, उनमें आसक्त हो रहे हैं, जो कि इन्द्रिय–विषयरूप लोभ है। प्रत्येक इन्द्रिय के विषय अनेक भेदरूप हैं। स्पर्शेन्द्रिय के विषय आठ, रसनेन्द्रिय के पाँच, घ्राणेन्द्रिय के दो, चक्षु–इन्द्रिय के पाँच, कर्णेन्द्रिय के सात और मन का एक। इस प्रकार अट्ठाईस भेदरूप इन्द्रिय–विषयों को युगपद् भोगने की प्रबल इच्छा/चाह; इन्द्रिय–विषयरूप लोभ है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

इन्द्रिय विषयरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

इन्द्रियों के विषय बाधा–सहित, विनश्वर, दुःखरूप, दुःख के कारण हैं। इन्द्रिय विषय–सेवन के उपरान्त शरीर शिथिल हो थक जाता है। प्रमाद उत्पन्न होता है। चक्रवर्ती, सुरेन्द्र, असुरेन्द्र भी इन्द्रिय विषयों की असह्य पीड़ा से पीड़ित हो, पीड़ा के शमनार्थ रम्य विषयों को भोगते हैं। इन्द्रियों के विषय–सेवन से पीड़ा में किञ्चित् शमन होता है, पीड़ा शान्त नहीं होती है। इन्द्रिय–विषयसेवन; कल्पित सुख होने से वह सुखाभास है, पारमार्थिक दृष्टि से दुःख ही है। अतः जीव को इन्द्रिय–विषयसेवन के त्यागपूर्वक सम्पूर्ण अतीन्द्रिय सुख प्रकट करने के लिए निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

भोगोपभोगरूप लोभ- व्यक्ति को जो एक बार भोगने में आयें– ऐसे आहार आदि भोग हैं और जो पुनः-पुनः भोगने में आयें– ऐसे वस्त्राभूषण आदि उपभोग हैं। व्यक्ति; भोगोपभोग की तीव्र लालसा से विदेशों से भोगोपभोग की सामग्रियों को मँगवा कर उनका सङ्ग्रह करता है। उससे सन्तप्त हृदय इन्द्रिय–विषयों में अनर्गल प्रवर्तन करता है जो कि आत्मा का अहित करते हैं। भोगोपभोग में सुख मानकर उन्हें सेवन करने की प्रबल इच्छा; भोगोपभोगरूप लोभ है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

भोगोपभोगरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

व्यक्ति को भोगोपभोग एवं उनकी सामग्रियाँ कभी भी सुख नहीं देती हैं। यदि भोगोपभोग एवं सामग्रियों से सुख मिलता होता तो उनका सेवन निरन्तर किया जाना चाहिए; किन्तु भोगोपभोग के उपरान्त सामग्रियों को छोड़ दिया जाता है। भोगोपभोग दुःख-स्वरूप, दुःख के कारण, वैरी और भवरोगवर्धक हैं जो कि सेवन के समय सरस, सुहावने, सुखद लगते हैं पश्चात् नीरस लगते हैं।[१] अतः जीव को उनका सेवन यथायोग्य यथाकाल त्याग कर, निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

साता-सम्मानरूप लोभ- मनुष्य; किञ्चित् साता-सम्मान मिलने पर उसकी अधिक प्राप्ति के लिए न्याय-अन्याय, कृत्य-अकृत्य को भूलकर उन्मत्त हो जाता है, उसकी मति भ्रमित हो जाती है। वह उन्हीं कार्यों को करता है और उन्हीं लोगों से सम्पर्क रखता है, जिनसे साता-सम्मान मिला है और भविष्य में मिलेगा। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

साता-सम्मानरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

साता, सम्मान का मिलना तो पुण्यकर्म के उदयानुसार है। व्यक्ति को सम्मान तो अकृत्य/अनुचित कार्यों के करने पर भी अपने पक्ष के लोगों से मिल जाता है। साता, विनश्वर है और सम्मान, उन्मत्त होने का हेतु है। अतः जीव को साता-सम्मान की कामना रहित उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

धन-सम्पत्तिरूप लोभ- व्यक्ति को प्रचुर मात्रा में धन-सम्पत्ति मिलने पर भी संतोष न होना, असन्तोष बना रहना, प्राप्त धन-सम्पत्ति का उपयोग न करना; धन-सम्पत्ति का लोभ है। उसके कारण लोभी व्यक्ति; धन-सम्पत्ति की प्राप्ति और उसकी वृद्धि करने के लिए आकुल-व्याकुल होता रहता है। वह बालमति की भाँति धन-सम्पत्ति का सङ्ग्रह करना चाहता है। सङ्ग्रह न कर पाने पर अत्यन्त दुःखी होता है। वह सञ्चित धन का उपयोग सत्कार्यों में नहीं करता है, दान-धर्म के कार्य भी नहीं करता है। यदि कोई धार्मिक अनुष्ठान हेतु दान की प्रेरणा भी करे तो उसे सुहाता नहीं है। दान की प्रेरणा देने वाले के प्रति अमित्रवत् व्यवहार करता है, दुःखी होता है; यह धन-सम्पत्तिरूप लोभ है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

१. भोग बुरे भवरोग बढ़ावें वैरी हैं जग जिय के।
वेरस होय विपाक समय अरु सेवत लागे नीके। -वै.भा.

धन-सम्पत्तिरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

धन-सम्पत्ति; चञ्चल है, विनश्वर है और नगर-वधू की भाँति पुण्यवान के साथ रहती है। उपलब्ध धन-सम्पत्ति में सन्तोष धारण करना चाहिए; क्योंकि सन्तोष सबसे बड़ा धन है। लौकिक में किसी कवि ने कहा है- **''गौधन-गज-धन-बाज-धन और रतन-धन खान। जब आवे सन्तोष-धन, सब धन धूल समान''** अर्थात् सन्तोषरूप धन के प्रकट होने पर लौकिक जड़रूप-धन मिट्टी तुल्य है। सन्तोषी सदा सुखी रहता है। जीव का वास्तविक धन तो वीतराग-विज्ञानमयी आत्मधर्म है। उसकी प्रकटता वीतराग सर्वज्ञदेव–प्रणीत मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करने से होती है। अतः जीव को वीतराग-विज्ञानमयी निज शुद्धात्मा के आश्रय से निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

विषयासक्तिरूप लोभ- मनुष्य का, आत्म-हितकर अलौकिक विषयों को विस्मृत कर, लौकिक, सांसारिक, शारीरिक विषयों और उनके साधनों में सुखरूप बुद्धि का होना, अनुरक्त रहना, प्रवर्तन करना; विषयासक्तिरूप लोभ है। इन्द्रिय–विषयों में आसक्त लोभी पुरुष, आत्म-हितकर कार्य; समता आदि छह आवश्यकों, देव-पूजा आदि छह कर्मों के करने का अमूल्य समय भी सांसारिक विषयों के सेवन करने में और उनके साधन जुटाने में व्यतीत करता है। धार्मिक कार्यों को यथायोग्य, यथाकाल नहीं करता है तथा उनके करने का जो समय था वह कार्य करना ही भूल जाता है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

विषयासक्तिरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

सांसारिक-शारीरिक कार्यों और विषय-सेवन की आसक्ति आत्म–हितकर नहीं, अहितकर है। सांसारिक, राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक कार्य पापरूप, बन्धकारक और वैरवर्धक हैं।[१] लौकिक कार्य शहद से लिप्त तलवार की धार को चाटने के समान अतिशय दुःखकारी है। आसक्तिरूप लोभ गुड़ में फँसी मक्खी के समान है जो कि लोभवश उड़ नहीं सकती है और अन्त में प्राणान्त हो जाता है। अतः जीव को विषयासक्तिरूप लोभ को छोड़कर, निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

आशा-तृष्णारूप लोभ- लौकिक बाह्य अनुपलब्ध सामग्री को उपलब्ध (प्राप्त) करने की चाह; आशा है और उपलब्ध सामग्री का व्यय न हो, संयोग में बनी रहे, यह तृष्णा है। आशा-तृष्णा में ग्रसित रहना आशा-तृष्णारूप लोभ है। आशा-तृष्णारूप लोभ के गर्त की

१. राज समाज महा अघ कारन, बन्ध बढ़ावन हारे। -वै.भा.

गहराई, गोलाई का विस्तार असीम है। यह गर्त आद्यवधि किसी का भी भरा नहीं है। इसके भरने के उपायों से दु:खों की ज्वाला में जलना पड़ता है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

प्राप्त विषय-भोगों को भोगने पर, उससे अधिक भोगने की आशा और भोगते रहने की तृष्णा बढ़ जाती है। आशा-तृष्णावान व्यक्ति की दीन-हीन वृत्ति-प्रवृत्ति हो जाती है। वह दूसरों से याचना करता है। वह अपना गौरव, प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा को भूल जाता है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

आशा-तृष्णारूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

आशा-तृष्णा अग्निरूप है, जो स्वयं कभी राखरूप नहीं हुई; अपितु आशा-तृष्णावान को ही राखरूप कर देती है। आशा-तृष्णावान व्यक्ति ऐच्छिक भोगों को भोगने से भोगासक्त हो, विष के समान प्राण–घातक आशा–तृष्णारूप लोभ को बढ़ाता जाता है।

यथा; गुरु अपने शिष्य आदि को सांसारिक–शारीरिक विषयों को प्रलोभन देकर उन्हें अपने वश में रखता है। शिष्यादि अपने गुरु की सेवा/वैयावृत्ति, आज्ञा का पालन कर या गुरु के कतिपय दोषोंको प्रकट नहीं करते, आश्वासन देकर गुरु को वश में रखना चाहता है। चक्रवर्ती भी भोगों को भोगते हुए तृप्त नहीं हो पाता है।[1] अत: जीव को आशा-तृष्णा का परित्याग कर, निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

वशीकरणरूप लोभ- अपने ऐच्छिक कार्यों को पूर्ण करने के लिए देवी-देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों को वश में करना वशीकरण है। उन्हें वश में कर स्वार्थ-सिद्धि के लिए अपने अधीन रखे-रखना; वशीकरणरूप लोभ है। लोभी व्यक्ति; बल-हीन, दीनों पर भी बल प्रयोग कर अपना कार्य सिद्ध करवाता है। कार्य की सिद्धि के लिए हित-अहित का विवेक नहीं रखता है। वह निर्बलों को दीन-हीन और अपने को महान् समझता है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

---

१. ज्यों-ज्यों भोग-संजोग मनोहर मन वाञ्छित जन पावें।
तृष्णा नागिन त्यों-त्यों डंके लहर लोभविष आवे।।
मैं चक्री पद पाय निरंतर भोगे-भोग घनेरे।
तो भी तनिक भये न पूरण भोग मनोरथ मेरे।। वै.भा.

वशीकरणरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

वशीकरण करने वालों का अन्त समय अच्छा नहीं होता है। अपने ऐच्छिक कार्यों का होना स्वयं के पुण्यकर्म के अधीन है। स्वयं के पुण्योदय के बिना कोई भी अपना भला करने में असमर्थ है। अत: जीव को अवशता-रूप भावों से स्वतन्त्र और स्वावलम्बन से प्रवर्तन करते हुए निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

मोहरूप लोभ- पर–द्रव्यों में एकत्व; मोह है। पर–द्रव्यों को सुख का कारण जानकर उन्हें अपना मानना; मोह है। मोह से ग्रसित व्यक्ति पर–द्रव्यों के अनुकूल संयोगों से सुखरूप लोभ और प्रतिकूल संयोगों से दु:ख मानता है। सुखरूप संयोगी द्रव्य-पदार्थों में एकत्व-ममत्व करता है। मोह से उन्मत्त हो स्वयं के स्वरूप को भूल जाता है।[१] मोहरूप लोभमद्य की मादकता से शास्त्रविज्ञ, तपस्वी स्वयं के स्वरूप को यद्वा-तद्वा जानने-मानने लगते हैं। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

मोहरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

पर–द्रव्यों से मेरा अन्यत्व है, एकत्व नहीं। पर–द्रव्य अनुकूल-प्रतिकूल नहीं होते हैं। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र और स्वाधीन परिणमन करते हैं। अनादि–निधन वस्तुएँ अपनी-अपनी मर्यादा लिए स्वयमेव परिणमन करती हैं।[२] उनके स्वतन्त्र परिणमन को अनुकूल–प्रतिकूल मानना संसार-भ्रमण का कारण है। आत्म-हित के लिए मोह का समूल नाश करना चाहिए। तत्व-ज्ञान-पूर्वक महाव्रतादि का पालन कर, मोह का समूल क्षय करना ही परम उत्तम कार्य है। अत: जीव को मोह–क्षयार्थ निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

अभिलाषारूप लोभ- अप्राप्य भोगोपभोग के पदार्थ और प्रिय/स्नेही से मिलने की उत्कण्ठा; अभिलाषारूप लोभ है। व्यक्ति अभिलषित को प्राप्त करने या उनसे मिलने के लिए समस्त प्रकार से प्रयत्नरत रहता है। अभिलषित की प्राप्ति के लिए अपना मान-सम्मान भी खो देता है, प्राणों तक की आहुति दे देता है; फिर भी व्यक्ति की अभिलाषा समाप्त नहीं होती है। यदि अभिलषित एक पदार्थ की प्राप्ति हो जाये तो तत्क्षण अन्य पदार्थ– प्राप्ति की अभिलाषा

१. मोह महामद पियो अनादि भूल आपको भरमत वादी।।छ.ढा.

२. मो.मा.प्र.

हो जाती है। विषय-भोगों के अभिलाषी व्यक्ति को अभिलषित पदार्थ प्राप्ति के लिए मरण करने और कराने का भी भय नहीं लगता है। अभिलषित स्नेहीजनों के स्नेहवश, न्याय-नीति को भी छोड़कर, अन्याय-अनीति–रूप प्रवर्तन करता है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

अभिलाषारूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

व्यक्ति को अभिलषित हितकर उत्तम पदार्थ की प्राप्ति पुण्योदय के फलरूप में होती है। पर पदार्थों के प्राप्ति की अभिलाषा करना व्यर्थ है। जिनागम में तो मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करने का भी निषेध है। मोक्ष प्राप्ति के लिए मोक्ष की इच्छा करना भी बाधक है। मोक्ष की इच्छा करने से मोक्ष नहीं होता है। पुरुषार्थपूर्वक शुद्धात्म–स्वरूप में उपयोग की स्थिरता से होता है।

व्यक्ति को अभिलाषा अन्धकार देती है। उसे हित-अहित दिखाई नहीं देता है। वह सम्यक् पुरुषार्थ को छोड़कर मिथ्या पुरुषार्थ करता है। उससे उसे प्राप्त ऋद्धि-सिद्धियाँ भी नष्ट हो जाती हैं। उसका सर्वस्व नष्ट हो जाता है। यथा; सीताजी को पाने की अभिलाषा से रावण को प्राप्त सिद्धियाँ नष्ट हो गयीं और उसका अन्त हो गया, नर्क चला गया। अत: जीव को जगत् के पदार्थों के पाने की अभिलाषा–रहित हो निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

लालचरूप लोभ- प्रचुर भोग सामग्रियों की अति आसक्ति से भोगना और भोगते रहने की चाह लालचरूप लोभ है। लालच में व्यक्ति अपना हित भूलकर विषय-भोगों की प्राप्ति करना चाहता है। वह योग्य-अयोग्य को भूल कर विषय-सेवन की ओर बढ़ता जाता है। वह अपना मरण जानकर भी लालच नहीं छोड़ता है। अन्याय-अनीतिपूर्वक द्रव्य का उपार्जन करना; लालच है। अल्प मूल्य की वस्तुओं को अधिक मूल्य में बेचना; लालच है। लालच से अपना श्रद्धान-ज्ञान-आचरण नष्ट हो जाता है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात है।

लालचरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

व्यक्ति लालचरूप लोभ से प्राप्त सामग्रियाँ भी खो देता है और नर्क तक चला जाता है। लालच के वश सुभौम चक्रवर्ती नर्क चला गया। ठग; धन को दो गुना करने का लालच देकर उसका धन हरण कर लेता है। लालची की दशा गीले गुड़ में फँसी मक्खी के समान होती है। लोक में प्रचलित है– **''आधी छोड़ पूरी को धावे, आधी मिले न पूरी पावे।''** अत: जीव को लालच को छोड़कर निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

कृपणतारूप लोभ- बाह्य-अभ्यन्तर वैभव प्राप्त होने पर उसका भोग/उपयोग न करना कृपणतारूप लोभ है। व्यक्ति बाह्य-वैभव सम्पन्न होने पर भी उसका न तो स्वयं भोग करता है और न ही दूसरों को करने देता है। वह दूसरों के वैभव का भोग करना चाहता है। वह दूसरों के सम्मुख अपने को हीन समझकर, उनसे सुख पाने की याचना करता है अथवा दूसरों के वैभव की मृषा प्रशंसा कर उसे प्राप्त भोग–सामग्रियों को भोग कर हर्षित होता है। अपनी स्वार्थ–सिद्धि के लिए झूठ बोलता है। स्व–पर के विषयों के पोषणार्थ धनादि की याचना करने लग जाता है। दातारों की झूठी प्रशंसा करता है। अभ्यन्तर में ज्ञानादि अनन्त गुणों के वैभव से सम्पन्न होने पर भी ज्ञान-पुरुषार्थ करने में भी कृपण रहता है। वह भगवान् से याचना करता है- हे भगवन्! आप मुझे सुखी कर दो। यदि किञ्चित् पुरुषार्थ भी करता है तो वह सांसारिक या शारीरिक सुख पाने का करता है। ज्ञान-वैराग्य की साधना करता है; किन्तु विवेक–शून्य करता है; ख्याति, लाभ, पूजादि पाने को करता है। आत्म–हितकर सम्यक् ज्ञान-वैराग्य नहीं करता है। अपना ज्ञान, आने वाली पीढ़ी को नहीं देता है। स्वयं को महाज्ञानी मनवाता है। अपने ज्ञान-वैराग्य का उपयोग आत्महित/मोक्ष के प्रति न करना; कृपणतारूप लोभ है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

कृपणतारूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीव बाह्य-अभ्यन्तर सर्व प्रकार के वैभव से सम्पन्न है। उसका बाह्य वैभव समीचीन व्रत, शील, संयम, तप आदि हैं और अभ्यन्तर वैभव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी शुद्धात्मा है। जीव को बाह्य वैभव के साधन से अभ्यन्तर वैभव की पूर्णता कर, परम सुखी होना श्रेयस्कर है। बाह्याभ्यन्तर वैभव का उपयोग न करने से, वैभव की प्राप्ति निष्फल है और भविष्य में मिलना दुर्लभ हो जाता है। अत: जीव को बाह्य-अभ्यन्तर वैभव का उपयोग करते हुए निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

धनरूप लोभ- पूर्वोपार्जित पुण्य के फल में उपलब्ध धन/वित्त का उपयोग हित-प्राप्ति और अहित के परिहार के लिए न करना; धनरूप लोभ है। पाँचों इन्द्रियों के खोटे विषयों में, सप्त व्यवसनों में अपनी उच्चता प्रदर्शित करने में धन का अपव्यय करना भी; धनरूप लोभ है। अर्थात् धन का उपयोग शुभ कार्यों में न कर, अशुभ कार्यों में करना; धनरूप लोभ है। धन का लोभी वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु-धर्म को छोड़कर, दूर-देशान्तरों में जाकर धनार्जन

करता है। वह स्वयं का और अपने परिवारजनों के सुख-दु:ख का विचार नहीं करता है। धनार्जन करने के लिए न्याय-नीति, विवेक नहीं रखता है। पूज्य, धर्मात्मा पुरुषों को भी भ्रमित रख उनसे भी धनार्जन करता है। लोभ की प्रवृत्ति अग्नि में घृत डालने की भाँति प्रचण्ड वृद्धिंगत होती जाती है। विद्वान् पुरुष भी धन के लोभ–वश अप्रतिष्ठेय प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा असमय में भी करता है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

धनरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

धनार्जन तो पुण्य के फलरूप होता है। पुण्यवान् के पास विपुल/बहुत धन सञ्चित रहता है। पुण्य क्षीण होने पर वही धन किसी अन्य पुण्यवान् के पास चला जाता है। धन का उपयोग स्व-पर के धर्म–साधनार्थ एवं धर्म-प्रभावनार्थ करना चाहिए। धन की वृद्धि वर्षा ऋतु में कूप (कुआँ) में बढ़ते हुए जल के समान है। उसका उपयोग धार्मिक कार्यों में निरन्तर करते रहना चाहिए। धर्ममार्ग से च्युत होने वाले धर्मीजनों को अपना धन देकर, उसका धर्म–मार्ग में स्थितिकरण करना चाहिए। यदि धार्मिक कार्यों में स्व-पर के उपकारार्थ धन का उपयोग न हुआ तो उसका विषय-कषायों में दुरुपयोग होता है। अत: धन का सदुपयोग करते हुए निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

यश:कीर्तिरूप लोभ- व्यक्ति के सत्कार्यों की प्रशंसा, कीर्तिगान होना यश:कीर्ति नामकर्म का उदय है। व्यक्ति अपने यश:कीर्ति के लिए लौकिक में सत्कार्यों को करता है। वह चाहता है लोक में मेरा नाम रहे, मेरे कार्यों की प्रशंसा हो, कीर्तिगान हो, लोग मुझे जानें,मेरी अनेक पीढ़ियाँ यशोगान करती रहें। यश:कीर्तिरूप लोभी धार्मिक क्षेत्र में धर्मायतन बनवाना, धर्म-प्रवचन करवाना/करना, व्रतादि का पालन करना आदि क्रियाओं में प्रवर्तन करता है। यह यश:कीर्तिरूप लोभ है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

यशरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

लौकिक सत्कार्यों और धार्मिक अनुष्ठानों रूप प्रवर्तन यश:कीर्ति के लिए नहीं, आत्म-हित के लिए किया जाता है। सत्कार्यों के करने से यश तो सहज ही फैलता है, कीर्तिगान भी होता है। व्यक्ति का यश तो दूसरों को सत्कार्य करने का प्रेरक है। यश: कीर्ति में लिप्त रहने से आत्मा का हित नहीं होता है। अत: आत्मा-हित के लिए निज उत्तम शौचधर्म में

निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

दूसरे शब्दों में, व्यक्ति; सत्कार्यों को कर, अपने को जगत् में विख्यात और कीर्तिगान करवाना चाहता है, यह यश-कीर्तिरूप लोभ है। यश फैलता है और कीर्ति का गान होता है। यश-कीर्ति का लोभी व्यक्ति अपना यश और कीर्ति गान (गुणानुवाद) के लिए पाठशाला, औषधालय खुलवाता है, मन्दिर-धर्मशाला बनवाता है, बाग-बगीचा लगवाता है, अपना बुत (मूर्ति) बनवाकर चौराहे पर लगवाता है इत्यादि कार्यों से मरणोपरान्त भी यश और कीर्तिगान होता रहे ऐसी कामना रखता है। यहाँ तक कि समाज से धन-सङ्ग्रह करता है और सत्कार्यों में व्यय कर भी अपना यश और कीर्ति चाहता है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

यश-कीर्ति–रूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

यश का फैलना यशनामकर्म और कीर्ति–गान होना कीर्तिनामकर्म के उदय से होता है। मेरे द्वारा किये गये सत्कार्यों का सम्बन्ध मात्र इसी भव से है, आगामी भव से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। जगत् में भव्यजनों द्वारा सिद्ध परमेष्ठी का गुणानुवाद करने से भव्यों का यश-कीर्ति तो है; किन्तु सिद्ध परमेष्ठी का नहीं है। उनके तो यशःकीर्ति नामकर्म का ही अभाव है। यश-कीर्ति के कार्य दूसरों के लिए हैं, पराश्रित हैं। यश-कीर्ति के कार्य मात्र परिचितजनों को है। आपसे अपरिचितजनों को तो कोई प्रयोजन नहीं है। सत्कार्यों के करने से यशःकीर्ति होने का भ्रम छोड़ कर, अतः जीव को निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

नामरूप लोभ- व्यक्ति के द्वारा प्राप्त शरीर के सम्बोधन वाले नाम को अपना नाम मानकर, उसे अमर करने का भाव रखना; नामरूप लोभ है। लोभी अपना नाम सदा अमर रखने के लिए विवेक/विचार–विहीन होकर, सञ्चित धन का उपयोग-अनायतनों, अयोग्य स्थानों, अयोग्य कार्यों में व्यय करता है। वह सोचता है, इन कार्यों के करने से मेरे नाम की प्रशंसा होगी, नाम अमर रहेगा, लोग मेरा नाम याद करेंगे और कहेंगे– सेठजी ने धर्म-सम्प्रदाय से हटकर कार्य किये हैं। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

व्यक्ति; धार्मिक क्षेत्र में अपना नाम अमर रखने के लिए व्रत आदि का पालन, बहुत उपवास, घोर-तपस्चरण, प्रवचन, शास्त्र-लेखन, पूजन-विधान करना और कराना, पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठादि कार्यों से मन्दिर, प्रतिमाओं पर नाम लिखवाने से अपना नाम अमर करना चाहता है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

नामरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

नाम तो अमर ही होता हैं, वह काल के गर्त में समाता/नष्ट नहीं होता है। जगत् में जिस नाम की प्रशंसा-कीर्ति-गान हो रहा है, उस नाम के अनेक व्यक्ति मिलेंगे। नाम तो व्यक्ति मात्र के सम्बोधन के लिए है। नाम; भले-बुरे लोगों के, अच्छे-बुरे भी रख लिए जाते हैं। जिस नाम की प्रशंसा हो रही है, उसी नाम के किसी अन्य की निन्दा भी हो रही है। जगत् में तीर्थङ्करों के नाम की प्रशंसा और कीर्ति–गान हो रहा है तो उन्हीं के नाम के व्यक्ति चोर, दुराचारी, जुआँरी आदि दुष्कर्मी भी होंगे। तीर्थङ्करों के नाम पर वस्त्र-भण्डार, किराना-भण्डार और जूते-चप्पल की दुकानें भी हैं। जो कि तीर्थङ्करों की मार्ग-परम्परा के सर्वथा विरूद्ध है। सिद्ध परमात्माओं के अकृत्रिम चैत्य–चैत्यालयों के व्यक्ति-विशेषरूप नाम नहीं है। अत: जीव को नामरूप लोभ–विहीन निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

सुन्दरतारूप लोभ- व्यक्ति; के शरीर का सौंदर्य; रूप है। रूप; चर्म से आवरित शरीर का है जो कि यौवन अवस्था पर्यन्त ही रहता है। उसे सुन्दर लुभावना बनाये रखने का परिणाम; रूप का लोभ है। रूप का लोभी दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट करने और अपने सुन्दर रूप की प्रशंसा सुनना चाहता है। सुन्दर रूप की वृद्धि करने के लिए भोजन-पान, नाना प्रकार के पौष्टिक सुमधुर व्यञ्जनों का सेवन नियन्त्रण-पूर्वक करता है। शरीर पर, मुख पर नाना प्रकार के उबटन, लेपन, विलेपन करता है। शरीर को वस्त्राभूषणों से शृङ्गारित करता है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

सुन्दरतारूप लोभ की निवत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

अपना सुन्दर रूप तो ज्ञान-विज्ञानमय लज्जा–सहित उत्तम कर्म करना है। आत्मा अमूर्तिक होने से शरीर से भिन्न, भगवान् आत्मा है। मुनिराज के दर्शन शारीरिक सुन्दरता से नहीं; अपितु रत्नत्रय की सुन्दरता से किये जाते हैं।

शारीरिक सुन्दर रूप तो पुद्गल स्कन्धों का है, जो कि अनित्य है। पौद्गलिक शरीर स्वभावत: अशुचि, अपवित्र होने से सुन्दर रूपवान कैसे हो सकता है? सुन्दर रूपवान देखना तो देखने वाले की दृष्टि पर आधारित है। माता को धूल से लिप्त पुत्र भी सुन्दर रूपवान प्रतीत होता है/दिखता है। हाथी को हथिनी, शूकर को शूकरी रूपवान दिखती है। शरीर का

सुन्दर रूप स्वयमेव ही विनश्वर है। यौवन ढलने पर, रोगादि होने पर, आहार आदि न मिलने पर शरीर के अङ्गों का विकृत हो जाने पर सुन्दर रूप नष्ट हो जाता है। छहढाला में लिखा है– **''पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादि तैं मैली। नव द्वार बहें घिनकारी, असि देह करे किम यारी।''** अत: जीव को पुद्गल के गुणों से सर्वथा भिन्न निज शुद्धात्म–स्वरूप ही मेरा सुन्दर रूप है– ऐसा समझकर निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

सत्तारूप लोभ- व्यक्ति को धन, शक्ति, संगठन एवं ज्ञान के बल से सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक क्षेत्र में अपना अस्तित्व पाने या बनाये रखने का प्रबल भाव; सत्तारूप लोभ है। व्यक्ति; सत्ता पाकर अपनों को, अपने शुभचिन्तकों को भी भूल जाता है। वह सत्ता की शक्ति से अपनी हस्ती प्रदर्शित करने लगता है। वह सत्ता के लोभ में न्याय-अन्याय, नीति-अनीति को भूल जाता है। वह सत्ता को बनाये रखने के लिए अन्याय-अनीतिरूप प्रवर्तन को भी न्याय-नीति बताता है। सत्ता छूटने के भय से या पाने के लोभ से पिता अपने पुत्र को, पुत्र अपने पिता को, यहाँ तक कि इष्ट और पूज्य पुरुषों को भी मार देता है। सत्ता के लोभवश झूठ-भ्रमित-अशिष्ट वचन बोलता है। उसका हृदय मायाचारी और अत्याचारों का गढ़ बन जाता है। धार्मिक क्षेत्र में अपना अस्तित्व रखने हेतु अपने शिष्यों को भी यथार्थ ज्ञान नहीं कराता है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

सत्तारूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

लौकिक सत्ता वाराङ्गना समान होती है। यह किसी के भी स्थायी नहीं रही है। अलौकिक सत्ता सदा शाश्वत रहती है। अपने और अपने हितैषी वे पुरुष हैं जो हमें वीतराग, निर्ग्रन्थ, मोक्षमार्ग में प्रोत्साहित एवं स्थिर करें। अलौकिक आत्म-सत्ता आत्मीक होने से सभी भव्य आत्माएँ उसे पाकर शाश्वत रख सकती हैं। आत्म-सत्ता में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित तप की मुख्यता होती है। अत: जीव को लौकिक सत्ता के त्यागपूर्वक अलौकिक शुद्ध आत्म-सत्ता को शाश्वत रखने के लिए निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

प्रेमरूप लोभ- निज शुद्धात्म-तत्त्व को छोड़कर अन्य चेतन के प्रति अपनत्व का भाव; प्रेम है। उसका स्थायित्व का भाव; प्रेमरूप लोभ है। व्यक्ति स्वार्थवश प्रेम के लोभ से अपने से छोटों के प्रति स्नेह, बड़ों और समान उम्र वालों से प्यार, दीन-दुखियों के दु:ख दूर करने का सहयोग, अनुकम्पा; अपने घर या अपने आयोजनों में महापुरुषों, स्नेहीजनों के आगमन से उपकृत होना, अनुग्रह मानना; धार्मिक, सामाजिक या पारिवारिक शुभ समाचार श्रवण से प्रफुल्लित

होना, हर्षित होना, सत्कार्यों के कृत-कारित-अनुमोदना से उल्लसित होना, प्रसन्नता का होना; धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक आयोजनों में जन-रञ्जन, मन-रञ्जन, कल-रञ्जन करना; आमोद-प्रमोद आदि पूर्वोक्त विषयों में लिप्त रहना; प्रेमरूप लोभ है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

प्रेमरूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

लौकिक स्वार्थ की सिद्धि के लिए अन्य चेतन तत्त्वों से किया गया प्रेम– अन्यथा श्रद्धान और राग की वृद्धि का कारण है। एक जीव से अन्य जीव का कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है किन्तु, परस्पर में उपकार होता है।[१] लौकिक कार्यों में एवं व्यावहारिक कार्यों, आयोजन में हर्षित होना, रञ्जायमान रहना; काषायिक मलिन भाव है, आत्मा को दु:ख का कारण है। अत: जीव को निजात्म–कल्याण की दृष्टि को मुख्य कर, प्रेम–रहित निरञ्जन स्वरूप निज शुद्धात्मस्वरूप की पूर्णता के लिए निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

क्रियारूप लोभ- व्यक्ति का निष्क्रिय न रहकर सक्रिय बने रहने की कामना करना; क्रियारूप लोभ है। क्रियाएँ शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार की हैं। दोनों प्रकार की क्रियाओं में आसक्त रहना; क्रियारूप लोभ है। शुभ क्रियाएँ हैं- तत्त्वज्ञान का शिक्षण-प्रशिक्षण, जिनश्रुत का सृजन, जिनेन्द्र–पूजन, विधान, व्रत आदि। अशुभ क्रियाएँ हैं– व्यापार, उद्यम, परिश्रम, चिकित्सा आदि। इन क्रियाओं के करने में लिप्त रहना; क्रियारूप लोभ है। उससे उत्तम शौचधर्म का घात होता है।

क्रियारूप लोभ की निवृत्ति और उत्तम शौचधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

समस्त शुभ-अशुभ क्रियाओं से निवृत्तिपूर्वक निष्क्रिय निज शुद्धात्म–स्वरूप में निमग्न रहना हितकर है। शुभ-अशुभ क्रियाएँ आस्रव-बन्ध का कारण हैं। उनका फल भी सांसारिक है, शारीरिक है। शुभ क्रियाओं का फल स्वर्गादिक के विषय-भोग और अशुभ क्रियाओं का फल नरक आदि के दु:ख हैं। किसी भी क्रिया का फल अतीन्द्रिय, धर्म–स्वरूप सुख नहीं है। अत: जीव को क्रियाओं में लिप्त न रहकर, निष्क्रिय निज उत्तम शौचधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

१. परस्परो–पग्रहो जीवानाम् ५/२१ त.सू.

शौचधर्म का फल पारमार्थिक और लौकिक दो प्रकार का है। पारमार्थिक फल है– सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता और लौकिक फल है– मोक्ष के साधनाभूत व्रत-तप आदि का निरतिचार प्रवर्तन करना।

पारमार्थिक आचरण है– क्रोधादि चार कषाय और हास्य आदि नौ नोकषाय के त्याग-पूर्वक रत्नत्रय की पूर्ण एकता की प्रकटता के साथ सुख आदि अनन्त आत्मीक गुणों की शुद्धता। शुद्धात्म गुणों की महिमा अवक्तव्य है। अर्थात् वाणी का विषय नहीं है।

शौचधर्म समस्त शुभाशुभ विकल्प-जालों से रहित निर्विकल्प, स्वतन्त्र, सहज प्रकट करना शुद्धात्मानुभूति-मय है। उससे जीव संसार के आतापों से मुक्त, जन्म-मरण के दु:खों से विमुक्त रहता है। व्यक्ति; विषय-कषायों के निरोधपूर्वक रत्नत्रय–स्वरूप रत्नों का रत्नाकर और साम्य भावों की सरिता हो जाता है। पारमार्थिक शौच से लौकिक शौच स्वयमेव सहज ही पवित्र हो जाता है।

शौचधर्म से व्यक्ति पर–द्रव्यों की चाह–रहित, पञ्चेन्द्रियों के विषयों से विरक्त और काषायिक भावों से विमुक्त हो जाता है। शौचधर्म प्रखर होने पर मोक्ष-प्राप्ति की भी इच्छा का विलय हो जाता है और मोक्ष एवं मोक्ष के साधनभूत व्रत-तप-ध्यान आदि का पालन गुणस्थान के योग्य सहज होते जाते हैं।

लौकिक शौच; परमार्थ शौच को सुरक्षित रखता है। उससे व्यक्ति का जीवन पवित्र हो जाता है। वह जगत्‌जनों के विश्वास का पात्र और स्वयं जगत् पूज्य, निर्वाण का पात्र बन जाता है।

शौचधर्म, साम्यभाव-मयी जल है जो समस्त प्रकार के लोभ–मलों को धोता है और अमल–स्वरूप निज शुद्धात्मा में निमज्जित रखता है। शौचधर्मी जिस स्थान/क्षेत्र में स्थित रह निज शुद्धात्म-ध्यान करता है, वह क्षेत्र तीर्थ बन जाता है। शौचधर्म श्रुताभ्यास एवं तपश्चरण आदि को सफल बनाता है। शौचधर्म में निश्चय-व्यवहार की, मुख्यता-गौणता की स्याद्वाद नीति शाश्वत बनी रहती है।

उत्तम शौचधर्म का स्वरूप समझकर सभी आत्माएँ उत्तम शौचधर्म स्वभावी निजात्मा में निमग्न रहें, ऐसी मेरी मंगल भावना है।

उत्तम सत्यधर्म

मङ्गलाचरण

मोक्षमार्ग–उपदेश का, श्रवण प्रीति से होय।
स्व उत्तम सत्यधर्म से, सत्स्वरूप सुख होय।।

क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय के अभाव से क्रमश: उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौचधर्म प्रकट होता है। शौचधर्मी, सत् स्व-भावी निज शुद्धात्मा के आश्रय से सुख-शान्ति-स्वरूप सत्य–वचन बोलता है। उससे परम सुखमयी सत्यधर्म प्रकट होता है।

चेतन–अचेतन समस्त द्रव्यों की यथार्थ, पारमार्थिक सत्ता ही सत्य है। अर्थात् वस्तु का सत्स्वरूप (उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य स्वरूप) ही सत्य है।

सत्य दो प्रकार का होता है– लौकिक सत्य और अलौकिक सत्य। लौकिक सत्य; हितमित, प्रिय और जगत्–हितकर होता है। अलौकिक सत्य; हित-मित-प्रिय, वीतरागता का सम्पोषक, कल्याणकारक, मोक्ष–प्रदायक होता है।

'सत्य' विशेषण है। जो कि 'वचन' क्रिया के साथ संयुक्त होकर सत्य-वचन कहलाता है। उत्तम सत्य-वचन के आश्रय से सत्-स्वरूप निज शुद्धात्मा का सुखमयी अनुभवरस; उत्तम सत्यधर्म है।

सत् का अर्थ है- स्वत: सिद्ध अस्तित्व/सत्य[१]। 'सत्' शब्द सुन्दर अर्थ का वाचक भी है।

सत्य वचन के एकार्यवाची नाम हैं– सम्यक्, अमोघ, सत्, नि:सन्देह, निरधार, निर्णयात्मक, यथार्थ, उचित, तथ्यात्मक, ठीक, सत्ता, सत्त्व, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ, विधि, द्रव्य, वास्तविक, परमार्थ। इन्हीं नामों में 'अ' जोड़ने से असत्य के नाम हो जाते हैं।

सत्य-वचन का अर्थ है– ''स्व-परहितं सत्यं'', अर्थात् स्व एवं पर के लिए अमृत–समान हित-मित-प्रिय वचन बोलना; सत्य-वचन है। अर्थात् मोह-राग-द्वेष, क्रोधादि कषाय और हास्य आदि नो–कषाय से रहित स्व-पर के उपकारार्थ जो वचन बोला जाता है, वह उत्तम सत्य-वचन है। उससे सुख-स्वरूप निजात्मानुभूति की प्रकटता उत्तम सत्यधर्म है।

१. स.सि.–१/८।

लौकिक व्यवहार में सत्य-वचन के अनेक प्रकार हैं-

देशसत्य- भिन्न-भिन्न देशों में एक–ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न नाम प्रचलित हैं– यथा, गुजरात में चावल को चोखा, नमक को मीठू नाम से कहना; देशसत्य है।

सम्मत सत्य- बहुत जनों के द्वारा माना गया नाम; सम्मत सत्य है। यथा; राजा की पत्नी को रानी कहना।

स्थापना सत्य- धातु, पाषाण या काष्ठ में तदाकार की स्थापना करना; स्थापना सत्य है। यथा; मूर्ति में मन्त्रों के द्वारा विधिपूर्वक मूर्तिमान अर्हन्तादि की स्थापना करना।

नाम सत्य- गुणों की अपेक्षा न रखकर किसी व्यक्ति का नाम रखना; नाम-सत्य है। यथा; सुरेन्द्र, रमेश, देवदत्त आदि।

रूप सत्य- रूप को बहुतपने से श्वेत, पीत आदि कहना; रूप सत्य है। यथा; बगलों की पङ्क्ति श्वेत होती है।

प्रतीत्य सत्य- किसी वस्तु को किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा से कहा जाये; प्रतीत्य सत्य है। यथा; यह दीर्घ है, यह ह्रस्व है।

व्यवहार सत्य- कारण में ही कार्य को कहना; व्यवहार सत्य है। यथा; भात पकता है।

सम्भावना सत्य- क्षमता के अनुरूप कार्य कर सके वैसी इच्छा रखना; सम्भावना सत्य है। यथा; इच्छा रखूँ तो मुनि बन सकता हूँ।

भाव सत्य- हिंसा आदि दोषों से रहित अयोग्य वचन भी हो तो भी वह भाव सत्य है। यथा; किसी ने पूछा कि चोर देखा; उसने कहा कि नहीं देखा। अथवा छद्मस्थ ज्ञानी को द्रव्य के स्वरूप का यथार्थ दर्शन होने पर भी संयत या संयतासंयत के अपने गुणों का पालन करने के लिए वस्तु का ज्ञान कराना; भाव सत्य है। यथा; यह प्रासुक है, यह अप्रासुक है।

उपमा सत्य- उपमा–सहित वचन; उपमा सत्य है। यथा; पल्योपम, चन्द्रमुखी।

संवृत्ति सत्य- रूढ़ि में सुना जाने वाला वचन; संवृत्ति सत्य है। यथा; पृथ्वी आदि अनेक कारणों के होने पर भी पङ्क में (कीचड़) उत्पन्न होने से कमल को पङ्कज कहना।

संयोजना सत्य- अनेक द्रव्यों के संयोग को प्रकट करने वाला वचन; संयोजना सत्य है। यथा; त्रिफला, अमृतधारा, उबटन आदि।

जनपद सत्य- आर्य-अनार्य के भेद से युक्त बत्तीस जनपदों में एक प्रयोजनार्थ बोले जाने वाला वचन; जनपद सत्य है। यथा; धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का प्ररूपक वचन।

समय सत्य- आगम–गम्य प्रतिनियत वचन; समय सत्य है। यथा; छः द्रव्य व उनकी पर्यायों की यथार्थता को प्रकट करने वाला वचन।[१]

इस प्रकार अनेक भेदरूप वचन उत्तम सत्यवचन हैं। उन सभी के आश्रय से प्रकट आत्म–स्वरूप का परम आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम सत्य धर्म है।

''सत् स्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मा में जो शान्ति–स्वरूप वीतराग–स्वरूप सुखरस परिणति उत्पन्न होती है, उसे निश्चय से सत्यधर्म कहते हैं।[२]

सत्य के एकार्थवाची नामों का स्वरूप और उससे सत्य-स्वरूप का परम सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।

सम्यक्– निज शुद्धात्म–स्वरूप के प्रतिपादक वचन; उत्तम सम्यक् सत्यवचन है।

अमोघ– सर्व सङ्कल्प-विकल्पों से परे वीतराग निर्विकल्प–स्वरूप वचन; उत्तम अमोघ सत्यवचन है।

निरधार– शुद्ध चैतन्य–स्वरूप निजात्मा का निर्णयात्मक निरधार करना; उत्तम निरधार सत्यवचन है।

यथार्थ– आगम में आत्मा का विवेचन जिस नय की विवक्षा से जहाँ जैसा निरूपण किया गया है, वहाँ उसी नय की विवक्षा से वैसा ही समझ कर, निरूपण करना; उत्तम यथार्थ सत्यवचन है।

लीक– आगम के अनुयोगों में प्रमाण-नय-निक्षेप के विकल्पों से और शास्त्र के अर्थ करने की लीक (पद्धति) के अनुसार वस्तुस्वरूप का निरूपण करना; उत्तम लीक सत्यवचन है।

अभेद– आत्मा के गुण-गुणी के अभेद स्वरूप को काल-निरपेक्ष शुद्ध स्वरूप समझना; उत्तम अभेद सत्यवचन है।

सत्यवचन कारण है, सत्यधर्म कार्य है। अतः पूर्वोक्त अष्ट प्रकार के उत्तम सत्य वचनों के आश्रय से निजात्म–स्वरूप में सम्यग्दर्शन के साथ दृढ़ निर्विकल्प शुद्धात्मानुभूतिमयी परम आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।

इस प्रकार अनेक भेद-प्रभेदरूप उत्तम सत्यवचन हैं और उनके अनुसार निज शुद्धात्मा का आनन्दमयी सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।

---

१. सत्य के सभी भेद- त.रा.वा.। २. धर्म के दश लक्षण।

सत्य वचन में 'सत्य' विशेषण है, जो वचन–क्रिया के आश्रय से वस्तु के सत् स्वरूप को बोलना; उत्तम सत्य है। उससे प्रकट सत्स्वरूप स्वात्मा का सुखरस उत्तम सत्यधर्म है। अर्थात् सज्जनों के साथ साधु–वचन बोलना; उत्तम सत्य है।[१]

कारण में कार्य का उपचार कर सत्यवचन द्वारा सत्यधर्म का निरूपण किया जाता है। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है; सम्यग्ज्ञान कारण है और सम्यकचारित्र कार्य है, उसी प्रकार उत्तम सत्य कारण है और उत्तम सत्यधर्म कार्य है।

१. वस्तु-स्वरूप को सम्यक् जानते-मानते हुए यथार्थ निरूपण करना; उत्तम सत्यवचन है। उससे प्रकट सम्यक्त्व–सहित निज शुद्धात्मानुभूति–स्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।
२. वस्तु-स्वरूप को नय-सापेक्ष कहना; उत्तम सत्यवचन है। उससे प्रकट नयातीत अनन्त गुणात्मक सुख-शान्तिस्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।
३. आत्म-वस्तु के स्वरूप को राग-द्वेष के वश न होकर, वीतराग भाव से विज्ञानतापूर्वक कहना; उत्तम सत्यवचन है। उससे प्रकट वीतराग, विज्ञानमयी निजात्मा की सुखानुभूतिस्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।
४. जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों के स्वरूप का प्रयोजनभूत अर्थ प्रतिपादन करना; उत्तम सत्यवचन है। उससे प्रकट अतीन्द्रिय आत्म–सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।
५. आत्मा के सत्-स्वरूप का सम्यक् निरूपण करने वाले वचन; उत्तम सत्यवचन हैं। उससे प्रकट शुद्धात्म-स्वरूप का परम आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।
६. अतीन्द्रिय आनन्द स्वभावी आत्म-तत्त्व को विख्यात करने वाले वचन; उत्तम सत्यवचन हैं। उससे प्रकट इन्द्रियातीत आत्म–सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।
७. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतामयी मोक्षमार्ग एवं मोक्ष का स्वरूप प्रतिपादन करने वाले वचन; उत्तम सत्यवचन हैं। उससे प्रकट परिपूर्ण मुक्त–स्वरूप परम आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।
८. सभी द्रव्यों का जो स्वरूप है, उसे ज्यों–का–त्यों हितकर निरूपण करना; उत्तम सत्यवचन है। उससे प्रकट आत्म–द्रव्य के शुद्ध स्वभाव का आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।

१. सत् सु साधुवचनं सत्यं। रा.वा.

९. चेतन–स्वरूप निज भगवान् आत्मा में निमग्न रहने के प्रेरक वचन; उत्तम सत्यवचन हैं। उससे प्रकट निज शुद्धात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।

१०. निज शुद्धात्मानुभूति प्रकट करने के उपायात्मक वचन; उत्तम सत्यवचन है। उससे प्रकट निज शुद्धात्मानुभूतिपरक परम आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।

११. ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मों से विमुक्त, सम्यक्त्व आदि अष्ट गुण संयुक्त निज शुद्धात्मा की प्रकटता के हेतुभूत वचन; उत्तम सत्यवचन है। उससे प्रकट सिद्ध-स्वरूप अष्ट गुणमयी आत्मानुभूति-मयी आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।

१२. मिथ्यात्व आदि समस्त विकल्प-जालों के परिहारपूर्वक स्व-स्वरूप में अनुष्ठान कराने वाले वचन; उत्तम सत्यवचन हैं। उससे प्रकट अध्यात्म-स्वरूप परम आत्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म हैं।

१३. राग-द्वेष–वर्धक, आत्म-अहितकर वचनों की निवृत्तिपूर्वक वीतरागता के संपोषक, स्व-पर हितकर, प्रशस्त, कल्याणप्रद, आनन्ददायक, हित-मित-प्रिय, सुखवर्धक वचन; उत्तम सत्यवचन हैं। उससे प्रकट अवक्तव्य अतीन्द्रिय आत्मा का परम सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।

१४. सत् स्वभाव की आराधना; उत्तम सत्य है। उससे प्रकट सत्-स्वरूप परम आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।

१५. सांसारिक-शारीरिक सर्व विकल्पों का अभाव; उत्तम सत्य है। उससे प्रकट निर्विकल्प सिद्ध-स्वरूप परम सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।

१६. मोह-राग-द्वेषरूप मल से रहित निर्मल आत्म-स्वभाव; उत्तम सत्य है। उससे प्रकट अमल–स्वरूप परम आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।

१७. पाँच इन्द्रियाँ, चार कषायों का जय करना; उत्तम सत्य है। उससे प्रकट अतीन्द्रिय, अकषाय–स्वरूप परम आत्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।

१८. मन-वचन-काय का अपरिस्पन्दन; उत्तम सत्य है। उससे प्रकट अयोग–स्वरूप निज शुद्धात्मा में विश्राममयी परम आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।

१९. स्व-पर के उपकार–स्वरूप निज चैतन्यमयी आत्मध्यान; उत्तम सत्य है। उससे प्रकट शुद्ध चिदानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।

२०. समस्त पर–भावों से भिन्न, निज शुद्ध भावों से अभिन्न आत्मस्वभाव; उत्तम सत्य है।

उससे प्रकट सर्वकालिक, परिपूर्ण शुद्ध आत्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।

२१. दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी निज शुद्धात्मा; उत्तम सत्य है। उससे प्रकट शुद्ध ज्ञानानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।

उत्तम सत्यवचन हित-मित-प्रिय होते हैं और उत्तम सत्यधर्म वचन से अग्राह्य और सुख-शान्ति–स्वरूप है। उत्तम सत्यधर्म की प्रकटता, सहज ज्ञान-दर्शनमयी निज शुद्धात्म–स्वरूप में उपयोग की स्थिरता से होती है।

उत्तम सत्यधर्म सहज ज्ञान-दर्शनमयी आत्मा में पुद्गल के धर्मों का अभाव होने से इन्द्रियों के अगोचर, शब्द–रहित, अलिङ्ग–ग्रहण और अनुमान ज्ञान से अग्राह्य है।[१] वह अमूर्तिक ज्ञान-प्रमाण, स्वदेह प्रमाण, निज शुद्ध स्वभाव का कर्ता-भोक्ता और अनादि–निधन है।[२]

सत्स्वरूपी आत्मा; इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास– इन चारों प्राणों से विमुक्त, सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध– इन चारों प्राणों से संयुक्त, स्वतः सिद्ध, नित्य, तर्क के अगोचर, स्वयं परिपूर्ण अनादि-अनन्त, समस्त पर–द्रव्यों से भिन्न है। उसकी सुख-स्वरूप सुखगुण की प्रकट पर्याय की अनुभूति–स्वरूप सुखरस; उत्तम सत्यधर्म है।

यद्यपि आत्मा का सत्यधर्म अवक्तव्य है (वाणी का विषय नहीं बनता) तो भी उसे समझने और पर्याय में प्रकट करने के हेतुभूत वचनों का प्रयोग चार प्रकार से होता है– १. सत्याणुव्रत, २. सत्यमहाव्रत, ३. भाषा समिति, ४. वचनगुप्ति।

''मुख्यरूप से स्थूल झूठ नहीं बोलना; सत्याणुव्रत है। सूक्ष्म भी झूठ नहीं बोलना, सत्य ही बोलना; सत्य महाव्रत है। सत्य भी कठोर, अप्रिय, असीमित न बोलकर हित-मित एवं प्रिय वचन बोलना; भाषा समिति है और वचन बोलना ही नहीं अर्थात् बोलने के भाव न होना; वचन गुप्ति है।[३]

सत्यधर्म; आत्मा के त्रैकालिक सहज शुद्ध चेतनत्व से प्रकट होता है। सत्यधर्म का सम्बन्ध शरीर और वचन से नहीं है क्योंकि सत्यधर्म–प्ररूपक वचनों का सम्बन्ध शरीर के अवयव—ओष्ठ, तालू, कण्ठ, जिह्वा और दन्त से है। सिद्ध भगवन्तों के शरीर और वचन नहीं हैं तो भी सत्यधर्म है।

---

१. स.सा.गा. १४९। २. भा.पा.गा. १४८। ३. ध.द.ल.। ४. स्थानाच्चतुर्थ खलु शान्ति रूपं..स्वभावात् भा.त्र.फ.द. २२५, २६

सत्यधर्म की प्रकटता के लिए श्री जिनेन्द्रदेव की अविकल परम्परा के अनुसार वीतराग निर्ग्रन्थ आचार्यों द्वारा निरूपित श्रुतभ्यास करना चाहिए। शुद्धोपयोग–स्वरूप सत्यधर्म का प्रारम्भ चतुर्थ गुणस्थान से होता है और पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में होती है।[४] जो कि गुणस्थानातीत सिद्ध पर्याय (सिद्धों) में शाश्वत रहता है।

सत्यधर्म–धारक का प्रवर्तन– सत्यधर्म; सत्यधर्मी के भावानुरूप प्रवर्तन से समझा जाता है। सत्यधर्मी के परिणाम स्व एवं पर को अतीन्द्रिय सुख के उत्पादक, नि:स्वार्थ,परोपकार के होते हैं। वह वीतरागमार्ग के पोषक हित-मित-प्रिय वचन बोलता है। स्वयं के वीतराग-भावों के संरक्षण और सम्वर्धन हेतु श्रावक; पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रतों का और महाव्रती; पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति का स्वयं पालन करते हैं और समागतजनों से पालन करवाते हैं।

अणुव्रती, सत्यधर्मी का लौकिक व्यवहार; न्याय–प्रिय, सत्यनिष्ठ होता है। वह वीतराग मोक्षमार्ग के अनुरूप अहिंसाप्रद, अप्रमत्त चर्यासहित जिनश्रुत का अभ्यास स्वयं करता है और अन्यजनों से करवाता है। वह सांसारिक एवं शारीरिक विषयों से अलिप्त रह, दूसरों को अलिप्त रहने का उपदेश देता है। ज्ञान-वैराग्य के संवर्धन हेतु द्वादश अनुप्रेक्षाओं का अनुचिन्तन-मनन-अनुशरण करता है। यथासमय देवपूजा आदि छह कर्मों और सामायिक आदि छ: आवश्यकों का प्रतिदिन पालन यथापद के योग्य यथाशक्ति करता है।

अभ्यन्तर में तो देहादि पर–द्रव्यों से अहंकार-ममकार–रहित होता है। बाह्य में ममकार की क्षीणतार्थ एवं अभ्यन्तर में कर्मों की संवरपूर्वक निर्जरार्थ अनशन आदि बाह्य तप और प्रायश्चित्त आदि तपों का तपस्चरण एवं धर्म्य-ध्यानमय ध्यान करता है। उससे सत् स्वरूप निज शुद्धात्मा में रमणता, स्थिरता बढ़ती जाती है। वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप आराधनाओं को सुख-स्वरूप प्ररूपित कर, उसी में स्थित रहने की अन्य जनों को प्रेरणा देता है और परम सुख–स्वरूप निजात्म-सिद्धि का दिग्दर्शन कराता है।

सत्यधर्मी विचार करता है— प्रत्येक आत्मा अमृतमयी दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुणोंरूप अमृतरस का कूप है। वह अमृतरस का आस्वादन करता-कराता हुआ निजात्मा को अमर बनाता है।

वह भव्यजनों को, सर्व विभाव परिणति से विमुक्त और शुद्ध स्वभाव परिणति प्रकट करने का पुरुषार्थ जागृत करता-कराता है।

वह विषयासक्त जनों को विषय-भोगों का सम्यक् स्वरूप दिखा कर, उन्हें विषय–भोगों से विरक्त और निज शुद्धात्म सुख में निमग्न रहने की साधना पूर्ण करने एवं आत्मा को परमात्मा बनने का पुरुषार्थ जागृत करता है।

सत्यधर्मी महापुरुष; जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों का अन्वेषण कर, वस्तु-तत्त्व को नित्य-अनित्य, एक-अनेक, शुद्ध-अशुद्ध आदि धर्मों का उपदेशक होता है। वस्तु-तत्त्व; उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है। इसलिए अनित्य आदि द्वादश अनुप्रेक्षाओं का मनन-चिन्तवन करता हुआ वैराग्य की पराकाष्ठा पाकर मुनिधर्म अङ्गीकार करता है।

सत्यधर्म की प्रकटता मुनिधर्म में सर्वदेश और श्रावकधर्म में एकदेश होती है।

सत्यधर्मी लौकिक और अलौकिक विषयों में कभी भी क्रोधादि, हास्य आदि कषाय से युक्त, मिथ्यात्व के पोषक सम्भाषण नहीं करता है। किसी व्यक्ति विशेष के समाज, धर्म आदि के प्रति अहितकर, दु:ख-कारक, संसार-वर्धक, कलह-कारक, भ्रम–कारक, निन्दापरक आलेख नहीं लिखता है और न दूसरों के दोषों को प्रकट करता है। अपने सम्भाषण में उभयअर्थी, संशयात्मक, भ्रमोत्पादक वचन को नहीं बोलता है एवं पृच्छक को आगमानुकूल समाधान करता है, उसकी इच्छानुकूल नहीं।

सत्यधर्मी का हित-मित-प्रिय वचन बोलना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का नम्रतापूर्वक सम्भाषण करना; आभूषण है।

सत्यधर्मी को अग्नि जला नहीं सकती, पानी डुबाने में असमर्थ है, नदी बहा नहीं सकती, तलवार काट नहीं सकती, सिंह भक्षण नहीं करता, सर्प डसता नहीं। देवता रक्षा एवं वन्दन करते हैं एवं उसकी सर्व प्रकार से रक्षा करते हैं।[१]

सत्य; श्रुत और यमों का स्थान है; विद्या, विनय का भूषण और ज्ञान-चारित्र की वृद्धि का कारण है।[२] तीनों लोकों में द्वितीया के चन्द्रमा के समान आनन्द की वृद्धिकारक है। सत्य की कीर्ति को देवता भी मस्तक पर धारण करते हैं।[३]

अब यहाँ उत्तम सत्यधर्म–घातक असत्य का स्वरूप, भेदों और शमन के उपायों पर विचार करते हैं।

---

१. भ.आ.मू. ८३९। २. ज्ञाना. ९/२७। ३. ज्ञाना. ९/२९।

असत्य

सत्य के एकार्थवाची नामों के आगे 'अ' जोड़ने से असत्य के नाम हो जाते हैं। वस्तुस्वरूप की यथार्थ सत्–स्वभाव को नय–विभाग से न जानना–मानना असत्य है। असत्य के अनेक भेद हैं किन्तु; विस्तार-भय से सभी असत्यों का नहीं, कतिपय मुख्य असत्यों का विवेचन किया जा रहा है।

आत्मा की सहज, स्वाभाविक सत्ता में पर–द्रव्य एवं पर–भावों का अभाव होने पर भी, आत्मा से भिन्न औदयिक आदि कर्म-जन्य भावों का आत्म-स्वभावरूप संवेदन करना; असत्य भाव है। असत्य भावों के पोषक वचन; असत्य वचन हैं। अर्थात् पर के अस्तित्व में होने वाले मलिन भाव असत् हैं। असत् के संपोषक वचन; असत्य वचन हैं। जो कि जगत् के जीवों को अहितकर, अप्रिय, प्रलापयुक्त होते हैं। मोक्षमार्ग के घातक होते हैं।

असत्य वचन; संसार, शरीर से सम्बन्धित विषयों के पोषक, राग-वर्धक होते हैं। उससे जीव भोगासक्त होकर सत्य से पराङ्मुख हो स्वयं का संसार–भ्रमण बढ़ाता है।

असत् का अर्थ है- अविद्यमान।[१] आत्मा के शुद्ध स्वभाव में जो चिद्विकार हैं; वे सभी असत् भाव हैं। आत्मा में चिद्विकारों का सम्बन्ध व्यापक–व्याप्य नहीं है। वे आत्म-स्वभाव से सर्वथा भिन्न हैं। उन्हें आत्म-स्वभाव जानना-मानना; असत्य है। अत: असत्य के प्ररूपक वचन; असत्य वचन हैं। असत् के आश्रय से उत्पन्न भाव सत्यधर्म के घातक और संसार–भ्रमण के हेतु हैं।

जीव असत् के आश्रय से कर्म-फल चेतना का अनुभवन करता है। वह ऐसा जानता-मानता है कि मैं पर–द्रव्यों का कर्ता-भोक्ता हूँ। पर–द्रव्य मुझे सुखी-दु:खी करते हैं। यह असत्य परिणति; भव का बीज है।

जीव को शरीर और शरीर को जीव मानकर, उसे जीवन-मरणधर्मी जानना-मानना और शुभाशुभ क्रियारूप प्रवर्तन करने का संवेदन करना; असत् है।

निज आत्मज्ञान से शून्य रह, अनात्मज्ञान से जीवादि नौ पदार्थों के स्वरूप का अन्यथा श्रद्धान-ज्ञान-आचरणपूर्वक, व्रत-शील-संयम का पालन करना; असत् है। उससे चेतन-अचेतन

१. असदविद्यमानमित्यर्थ:। १/३२ स.सि.

पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट माननेरूप मृषा कल्पना होती है जो कि राग-द्वेषरूप होने से असत् है, पापरूप है, दु:ख का बीज है।

निज शुद्धात्मा के ज्ञान–विहीन रहकर, शारीरिक प्रशस्त क्रियाओं को आत्म–हितकर मानना और उन्हीं में संलग्न रहना तथा उनका पोषण करना; असत् है। उससे असत्य पल्लवित रहता है।

व्यक्ति; असत् के आश्रय से कर्म–क्षयार्थ समीचीन व्रतादि का पालन नहीं कर पाता है। उससे उसकी पापरूप, पतन-कारक प्रवृत्तियाँ होती हैं। उसका श्रद्धान-ज्ञान-आचरण मिथ्या हो जाता है। वह उन्हें ही धर्म मानकर प्रवर्तन करता हुआ संसार को ही बढ़ाता है।

व्यक्ति; असत् के आश्रय से प्राप्त सत्-गुणों को नष्ट कर लेता है। वह आधि-व्याधि और उपाधियों से ग्रसित हो अनन्त दु:खों का पात्र बन जाता है। उसे पूर्वोपार्जित पुण्य के फलरूप वैभव आत्म-हित में साधक न होकर बाधक बन जाता है।

असत्य वचन का अर्थ है- प्रमाद–सहित योग से बोला गया वचन; असत्य वचन है। असत्य के चार भेद हैं[१]- १. अस्ति वस्तु को नास्तिरूप कहना। २. नास्ति वस्तु को अस्तिरूप कहना। ३. अस्ति वस्तु को अन्यथारूप कहना। ४. गर्हित वचन कहना। गर्हित वचन तीन प्रकार के हैं- १. निंद्य वचन। २. सावद्य वचन। ३ अप्रिय वचन। ये सभी प्रकार के वचन सत्य के घातक हैं। सभी प्रकार के वचनों का विस्तार १०८ श्री अमृतचन्द्र आचार्यदेव ने पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय में किया है। उसी के अनुसार संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

उत्तम सत्यधर्म–घातक अभ्यन्तर कारण असत्– स्वरूप का आश्रय है। असत् की उत्पत्ति के बाह्य साधनभूत कारण अनेक हैं। यथा— १. अस्ति को नास्तिरूप, २. नास्ति को अस्तिरूप, ३. पदार्थ को अन्यथारूप, ४. निन्दारूप, सावद्यरूप, अप्रिय, असत् प्रतिपादक, योग–कषायरूप, प्रमादरूप, कल्पित–तत्वरूप, निरर्थक वचन, जीव–देह के एकत्वरूप, रागरूप, प्रशस्तरूप, अनियमरूप, अतत्त्वरूप, कुसङ्गतिरूप आदि बाह्य साधनभूत कारणों से असत्य की उत्पत्ति होती है। उससे उत्तम सत्य धर्म का घात होता है।

अस्ति पदार्थ को नास्तिरूप असत्य–वचन– जिस वचन में स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से विद्यमान वस्तु का निषेध कर, अविद्यमान वस्तु को कहना। यथा; भवलीन संसारी जीव

१. यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदा: सन्ति चत्वारा: ॥९१॥पु.सि.उ.

को प्रकटरूप से भगवान् कहना। अर्थात् वस्तु के चतुष्टय से वस्तु के विद्यमान धर्म का निषेध कर पर–चतुष्टयरूप धर्म को कहना। यथा; अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव से एकदेश चारित्र होता है; किन्तु उसका निषेधकर अचारित्र कहना; नास्तिरूप असत्य वचन है।[1]

नास्ति पदार्थ को अस्तिरूप असत्य–वचन- जिस वचन में स्व द्रव्य-क्षेत्र- काल-भाव से अविद्यमान पदार्थ को विद्यमान कहना और विद्यमान पदार्थ का निषेध कर कहना। यथा– निर्ग्रन्थ महा-मुनिराज के चौबीस प्रकार के परिग्रह नहीं हैं, उनको परिग्रह युक्त निर्ग्रन्थ कहना। पर–चतुष्टय से अविद्यमान धर्म को कहना और स्व चतुष्टय से विद्यमान धर्म का निषेध कर कहना। यथा; आत्मा के स्व चतुष्टय में पुद्गल के धर्म अविद्यमान हैं; किन्तु उन्हें आत्मा के स्व चतुष्टय में विद्यमान कहना; अस्तिरूप असत्य–वचन है।

पदार्थ को अन्यथारूप असत्य–वचन- अर्थात् जो वस्तु स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से विद्यमान है, उसे न कहकर, उससे सर्वथा विपरीत अविद्यमान को कहना। यथा; विद्यमान पुरुष को पुरुष न कह कर उसे स्त्री कहना। स्व–चतुष्टय से विद्यमान धर्म को न कहकर उससे विपरीत पर–चतुष्टय धर्म को कहना। यथा; जीव को ही शरीर या शरीर को ही जीव कहना; अन्यथारूप असत्य–वचन है।

नास्तिरूप असत्य, अस्तिरूप असत्य और अन्यथारूप असत्य बोलने से उत्तम सत्यधर्म का घात होता है।

नास्तिरूप असत्य, अस्तिरूप असत्य और अन्यथारूप असत्य की निवृत्ति और उत्तम सत्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

नास्ति वस्तु का नास्तिरूप, अस्तिवस्तु का अस्ति रूप और जो वस्तु है, उसका ही यथार्थ कथन करना चाहिए। वस्तुस्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन करते हुए जीव को निज उत्तम सत्य धर्म से निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

निन्दारूप असत्य–वचन- जो वचन जीवों को दुःख-दायक, रौद्रध्यान-कारक, प्रमाद-जनक, हास्य-गर्भित, असमञ्जस युक्त, कर्कश, मिथ्या, शास्त्र-विरूद्ध हों ऐसे वचन बोलना; निन्दारूप असत्य–वचन है। ऐसे वचनों से जीव/मनुष्य की निन्दा होती है। इस प्रकार के समस्त निंद्यरूप असत्य वचनों में से उत्तम सत्यधर्म का घात होता है।

---

१. पु.सि.उ. श्लोक ९२ से ९८ तक।

निन्द्य असत्य वचनों की निवृत्ति और उत्तम सत्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जिस वस्तु का जैसा स्वरूप है, उसे उसीरूप से कहना,अन्यथारूप से नहीं कहना चाहिए। व्यक्ति को जिनश्रुतानुसार संशय-विभ्रमरहित सदा सुखदायक, मधुर, धर्म्य-ध्यानवर्धक, रत्नत्रय-पोषक, साम्यभावमयी, अप्रमत्त-जनक वचन बोलना चाहिए, निन्द्य वचन नहीं। अत: जीव को अनिन्द्य–स्वरूप निज उत्तम सत्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

सावद्यरूप असत्य–वचन- अवद्य अर्थात् पाप। सावद्य का अर्थ है- पापसहित। पापरूप असत्य वचन बोलना; सावद्यरूप असत्य–वचन है। यथा; जीवों के नासिका, कर्ण आदि छेदन-भेदन के, उन्हें मारण, कर्षण, जीतने, खरोंचने, अधिक भार लादने, जलाकर निशान बनाने, लोगों के कार्य का समय बढ़ाने, क्षति पहुँचाने, व्यापार, चोरी, छल के उपाय बतानेरूप वचन कहना/बोलना; सावद्यरूप असत्य–वचन है। पूर्वोक्त समस्त प्रकार के असत्य–वचन बोलने से उत्तम सत्यधर्म का घात होता है।

सावद्यरूप असत्य–वचन बोलने की निवृत्ति और उत्तम सत्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

समस्त प्रकार के असत्य सावद्य वचन हिंसास्वरूप,पापवर्धक हैं। अत: करुणामयी, दयामयी, जीवनरक्षक, न्याय-नीतिपरक, अचौर्य–पोषक, आरम्भ–परिग्रह की निवृत्ति–मूलक वचन बोलना चाहिए। अत: जीव को निर्वद्य सम्भाषण कर, निज उत्तम सत्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

अप्रियरूप असत्य–वचन- जो वचन जीव को अहितकर, दु:खदायक, कठोर, असुहावने, राग-पोषक होते हैं, वे अप्रियरूप असत्य–वचन हैं। अप्रिय वचन, हिंसा-स्वरूप, अरति-भय-खेद-बैर-शोक-कलहकारक हैं; अत: वे सभी वचन; असत्य वचन हैं।[१] यथा; तू नर्क चला जायेगा, मर जायेगा आदि। उससे उत्तम सत्यधर्म का घात होता है।

अप्रियरूप असत्य वचन बोलने की निवृत्ति और उत्तम सत्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

अप्रिय वचन हिंसा–स्वरूप अहितकारी, दु:खदायी होते हैं। अत: व्यक्ति को सदैव प्रिय, पवित्र, परोपकारी, दयामयी, आह्लाद–कारक, वीतरागता के पोषक, मोक्ष एवं मोक्षमार्ग के

१. पु.सि.उ. ९८।

प्ररूपक वचन बोलना ही कल्याणप्रद है। अत: जीव को अहिंसा–स्वरूप, जगत्–प्रिय, धर्मोपदेश देकर आत्म– हितकर निज उत्तम सत्यधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

असत्प्रतिपादक असत्य–वचन- वस्तु के सत्यधर्म को न समझकर उसे कूटस्थ, अपरिणामी मानकर उसरूप उपदेश देना; असत्–प्रतिपादक असत्य वचन है। कूटस्थ मान्यता वाला व्यक्ति मानता है कि मैं मनुष्य हूँ, मरणकर मनुष्य ही बनूँगा। जैसे- ज्वार से ज्वार, गेहूँ से गेहूँ, मक्का से मक्का उत्पन्न होती है, वैसे ही मनुष्य मरकर मनुष्य ही होगा। वह कूटस्थ असत् का आश्रय कर, पञ्चेन्द्रियों के विषयभोगों में स्वच्छन्द हो प्रवर्तन करता है। उससे उत्तम सत्यधर्म का घात होता है।

असत्–प्रतिपादक असत्य–वचन की निवृत्ति और उत्तम सत्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जगत् के सभी द्रव्य परिणमन–स्वभावी हैं। अपरिणामी/कूटस्थ कोई भी द्रव्य नहीं है। कूटस्थ के भाव से तो व्यक्ति दु:ख–स्वरूप संसार, शरीर के भोगों में आसक्त होकर प्रवर्तन करता है, जो कि संसार-भ्रमण का कारण है। अत: जीव को सत्-स्वरूप के आश्रयपूर्वक निज उत्तम सत्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

योग-कषायरूप असत्य–वचन- व्यक्ति का अयोग और अकषाय–स्वभावी आत्मा का आश्रय छोड़कर, मन-वचन-काय और क्रोध-मान-माया-लोभ के वशीभूत होकर, उन्हें आत्म–स्वरूप समझना और असत् समझाना; योग–कषायरूप असत्य वचन है। उससे व्यक्ति योगों और कषायों को आत्मस्वरूप समझता है, अनुभव करता है। उससे कर्मों की प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बन्ध करता है। शुभ योग और शुभ कषायों को अर्थात् शुभ कर्मों को मोक्ष का कारण मानकर, उनमें ही अनुरक्त रह प्रवर्तन करना और कराना और उनका अनुमोदन मन-वचन- काय से करना; योग–कषायरूप असत्य–वचन है। उससे उत्तम सत्यधर्म का घात होता है।

योग–कषायरूप असत्य की निवृत्ति और उत्तम सत्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

योग और कषाय; सत्य–स्वरूपी निज आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं। ये दोनों ही पुद्गल वर्गणाओं के पिण्ड हैं। इनकी तीव्रता, मन्दता लेश्या के द्वारा ज्ञात होती है। प्रत्येक कर्म आबाधाकाल के उपरान्त अपना फल देकर निर्जरित हो जाता है। योग और कषाय सत् नहीं,

असत् हैं। जीव ज्ञायक–स्वरूप भगवान्–आत्मा और कषाय से सर्वथा भिन्न, अयोग और अकषाय–स्वभावी हैं। अत: जीव को अपने अयोग और अकषाय स्वभावी निज उत्तम सत्य धर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

कषायरूप असत्य- व्यक्ति का लौकिक स्वार्थ-सिद्धि के लिए क्रोधादि चार कषाय, हास्यादि नौ नोकषाय और मिथ्यात्व कषायरूप परिणमन करना; कषायरूप असत्य है। कषाय के वश व्यक्ति अप्रिय, अशिष्ट वचन बोलता है। स्व-पर को अहितकर प्रवर्तन करता है। भव्यजनों को आत्महित से वञ्चित रखता है। उससे उत्तम सत्यधर्म का घात होता है।

कषायरूप असत्य की निवृत्ति और उत्तम सत्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

कषायों के तीव्र उदयकाल में मौन रहना ही उत्तम है। यदि बोलना ही पड़े तो आगमानुसार निर्दोष, मोक्षमार्ग के पोषक वचन बोले। व्यक्ति को अप्रयोजनीय तो कभी भी नहीं बोलना चाहिए। प्रयोजनभूत भी हित-मित-प्रिय बोलना चाहिए। नीति में कहा है- **''मनुष्य बोलने से दुःखी है, तिर्यञ्च न बोलने से दुःखी है।''** कषाय के वश कम बोलने से वस्तु-स्वरूप स्पष्ट नहीं होता और अप्रयोजनीय अधिक बोलने से वस्तु–स्वरूप के विपरीत बोलने में आता है। अत: जीव को अकषाय–स्वरूप, निज उत्तम सत्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

प्रमादरूप असत्य- प्रमाद का अर्थ है- उन्मत्तता, नशा, धर्म के प्रति अनुत्साह। इनका होना प्रमाद– रूप असत्य है। मनुष्य को सांसारिक और शारीरिक विषय-भोगों को भोगने का नशा ऐसा है कि वह उसमें उन्मत्त हो जाता है। मनवाञ्छित भोगों को भोगते हुए भी भोगों को भोगने का उत्साह कम नहीं होता है, अपितु बढ़ता जाता है। भोगों में लिप्त रहने से, आत्महित में प्रमाद आ जाता है और अपने अप्रमाद-स्वरूप की ओर उपयोग नहीं जाता है। वह संसार–सागर में मद्य को पीने वाले की भाँति पाप-पङ्क में पड़ा रहता है। उसे अपना अप्रमाद–स्वरूप प्रतीत ही नहीं होता है। उससे उत्तम सत्यधर्म का घात होता है।

प्रमादरूप असत्य की निवृत्ति और उत्तम सत्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

संसार-शरीर के भोगों में उन्मत्त/मदहोश नहीं होना चाहिए। अनुकूल, ऐच्छिक भोगों की प्राप्ति पूर्वकृत दान का फल है। भोगसामग्री की उपलब्धता, वृक्ष पर लगे फल की भाँति है। वृक्ष; फलों से शोभायमान होता है; किन्तु भोगता नहीं है। वैसे ही पुण्यफलरूप भोगसामग्री

से पुण्यवान् की शोभा होती है, पुण्यवान् उसे भोगता नहीं है। यथा; तीर्थङ्कर आदि। यदि भोग-सामग्री भोगने में आवे तो रोग–निवारक औषध की भाँति सेवन करे। जैसे रोगी को रोग की पीड़ा सहन न होने पर, पीड़ा के शमनार्थ यथायोग्य काल में वह औषध सेवन करता है वैसे ही पुण्यवान् को पद के योग्य भोगों को उदासीन भाव से भोगना चाहिए। अत: जीव को कर्मोदय–जन्य समस्त भोगों की सम्पूर्ण निवृत्ति के लिए निष्प्रमाद–स्वरूप उत्तम सत्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

प्रमत्तरूप असत्य- पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तियों का और समस्त कषायों के अभाव को अप्रमत्त कहते हैं।[१] प्रमत्त का अर्थ–असावधानी, भूल करनेवाला, उन्मत्त, लापरवाह, मूलोत्तर गुणों के पालन करने में शिथिलता। यह प्रमत्तरूप असत्य है। प्रमत्तता; काषायिक परिणति है। प्रमत्त-दशा आत्मा की सहज स्वाभाविक दशा नहीं है। प्रमत्त जीव/व्यक्ति बाह्य में अप्रमत्त चर्या के हेतुभूत मूलोत्तर गुणों के पालन में शिथिल रहता है और अभ्यन्तर में कषाय भाव के कारण अप्रमत्त–सत्य–स्वरूपी निजात्मा में स्थित होने/रहने के लिए अनुत्साही रहता है।

प्रमाद पन्द्रह प्रकार का है- चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रियाँ, निद्रा और स्नेह[२] तथा भाव शुद्धि, काय-विनय, ईर्यापथ, भैक्ष्य, शयन, आसन, प्रतिष्ठापन वाक्य– इन आठ शुद्धियों में अनादर/अनुत्साह होने से प्रमाद अनेक प्रकार का है। इन प्रमादों के कारण व्यक्ति साता और सम्मान की चाह से प्रमत्त होता है। उससे उत्तम सत्यधर्म का घात होता है।

प्रमत्तरूप असत्य की निवृत्ति और उत्तम सत्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीव का सत्य स्वभाव तो अप्रमत्त ही है। श्रमण; मूलोत्तर गुणों का निर्दोष पालन करने से अप्रमत्त दशा को प्राप्त करता है जो कि मोक्ष का साधकतम कारण है। अत: जीव को सर्व प्रकार की चाह और प्रमाद के सभी भेदों का परित्याग कर, अप्रमत्त स्वरूप निज उत्तम सत्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

कल्पित–तत्त्वरूप असत्य– आत्मा के सत्य, यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ अन्यथावादी मनुष्यों द्वारा प्ररूपित आत्म–स्वरूप; कल्पित–तत्त्वरूप असत्य है। कल्पित आत्म-तत्त्वों के मानने से और उसरूप प्रवर्तन करने से मनुष्य को संवेग-वैराग्य तो प्रकट नहीं होता है; अपितु

---

१. घ. ४/५। २. प.स.प्रा. १५। २. प.स.प्रा. १५।

विषय–भोगों में आसक्ति बढ़ जाती है। मनुष्य; शरीर को ही निज स्वरूप और उसी के अस्तित्व को अपना अस्तित्व मानता है। वह सांसारिक और शारीरिक सुखों के लिए ही समस्त प्रयास करता है और निजात्म-स्वभाव को समझने का प्रयास नहीं करता है। उससे उत्तम सत्यधर्म का घात होता है।

कल्पित–तत्त्वरूप असत्य की निवृत्ति और उत्तम सत्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

शुद्धात्म–स्वरूप से अनभिज्ञों द्वारा प्रतिपादित आत्म–स्वरूप सम्यक्/सत्य नहीं है। सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत आत्म–स्वरूप ही सम्यक् है, सत्य है, समीचीन है और संवेग-वैराग्य का उत्पादक हेतु है। अत: सर्वज्ञदेव के मतानुसार आत्मस्वरूप के भिज्ञ निर्ग्रन्थ आचार्यों द्वारा प्रतिपादित आत्म–स्वरूप का मनन–चिन्तवन और श्रुत का अध्ययन करना चाहिए। सर्वज्ञदेव–प्रणीत आत्म–स्वरूप ही सम्यक् है, हितकर है, मोक्षमार्ग एवं मोक्ष–स्वरूप है। अत: सर्वज्ञदेव प्रणीत तत्त्वार्थों के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरण की संवृद्धि करते हुए निज उत्तम सत्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

निरर्थकरूप असत्य- अभिप्राय-विहीन, प्रयोजन-विहीन, वास्तविकता से परे/रहित समस्त प्रकार के वचन; निरर्थकरूप असत्य है। जो वचन वस्तु–स्वरूप का प्रयोजनीय कथन प्रतिपादन न कर अप्रयोजनीय और हास्य-गर्भित वचन होते हैं, वे निरर्थक होते हैं, मिथ्या होते हैं। मोक्ष एवं मोक्षमार्ग के प्रयोजन-विहीन और संसार-शरीर सम्बन्धी इन्द्रिय–विषयों के पोषक वचन; निरर्थक वचन हैं जो कि असत्य हैं। उनके प्रलाप करने से व्यक्ति लौकिक कार्यों के करने में सन्तुष्ट हो जाता है और वीतराग-विज्ञानमयी शुद्धात्म धर्म से च्युत रहता हुआ संसार को ही बढ़ाता है। उससे उत्तम सत्यधर्म का घात होता है।

निरर्थकरूप असत्य की निवृत्ति और उत्तम सत्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

आत्महित के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग को सम्वृद्ध करने वाले सार्थक उत्तम सत्य वचन ही बोलना चाहिए। इन्द्रियों सम्बन्धी विषय-भोग के पोषक एवं लोकानुरञ्जित समस्त वचन निरर्थक हैं, असत्य हैं। गुणस्थान के अनुरूप विशुद्ध कार्यों को करते हुए भी उन्हें आस्रव-बन्ध-रूप ही जानना-मानना चाहिए। आगम में शुभास्रवों को भी संसार का कारण कहा है मोक्षमार्ग में निरर्थक प्ररूपित किया है। अत: जीव को सार्थक–स्वरूप

निज उत्तम सत्यधर्म में ही निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

जीव–देह के एकत्वरूप असत्य- जीव और देह को भिन्न-भिन्न न मानकर, उन्हें एक रूप ही जानना-मानना, कहना; जीव-देह के एकत्वरूप असत्य है, मिथ्यात्व है। व्यक्ति; जीव और देह को एक ही जानता-मानता है अर्थात् जीव को ही देह और देह को ही जीव मानता है। वह शारीरिक शुभ क्रियाओं को मोक्षमार्ग मानकर उनमें तन्मय होकर प्रवर्तन करता रहता है। निज शुद्धात्म-स्वरूप में उपयोग की स्थिरता मोक्षस्वरूप एवं मोक्षमार्ग है, यह समझता ही नहीं है। उसकी मान्यता ऐसी होती है कि शुभाचरण करने से शरीर भी पूज्य हो जाता है। वह शरीर की पूजा-सम्मान आदि को ही अपना परम लक्ष्य मानता है। उससे उत्तम सत्यधर्म का घात होता है।

जीव-देह के एकत्वरूप असत्य की निवृत्ति और उत्तम सत्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीव और देह भिन्न-भिन्न हैं। जीव; चेतन है और देह; अचेतन है। दोनों की परिणति भिन्न-भिन्न और अपने-अपने में होती है। जीव की परिणति चेतनरूप चेतन में होती है और देह की परिणति अचेतनरूप, देह में होती है। उनका परस्पर में कर्ता-कर्मरूप सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक द्रव्य एकाकी है और अपना एकत्व लिये परिणमन करता है। कोई भी द्रव्य किसी भी अन्य द्रव्य का हित-अहित नहीं करता है। जीव की सम्यक्त्वसहित शुभ क्रियाएँ आत्महित का प्रतीक हैं। आत्म-हित तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता से होता है। अत: जीव और देह की भिन्नता को समझकर; रत्नत्रयमयी निजात्म–स्वरूप उत्तम सत्यधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

रागरूप असत्य- बाह्य में इष्ट पदार्थों के प्रति रतिभाव का नाम राग है और अभ्यन्तर में निर्विकार निज शुद्धात्मा के घातक, इष्ट इन्द्रिय-विषयों में रुचि; रागरूप असत्य है। रागी व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों में रत रहता हुआ स्वयं को मोक्षमार्गी जानता-मानता है। वह ऐसा जानता-मानता है कि अशुभ कर्मों के करने से बन्ध हुआ है तो शुभ क्रियाओं के करने से मोक्ष होता है। मोक्ष को आत्मा के स्व-चतुष्ट्य से भिन्न, पर–क्षेत्र मानकर, मोक्ष की प्राप्ति करने का उद्यम करता रहता है तथा लोकेषणा से शुभ रागरूप व्रत-तप आदि क्रियाओं को धर्मरूप हित-कर मानता है, मोक्षमार्ग मानता है। उससे उत्तम सत्यधर्म का घात होता है।

रागरूप असत्य की निवृत्ति और उत्तम सत्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार

करना चाहिए कि–

रागभाव को धर्मरूप मानकर उस–रूप प्रवर्तन करना तो हिंसा है, अन्यथा श्रद्धान है। रागभाव मोक्षमार्ग में हितकर नहीं है; क्योंकि उनका फल सांसारिक और शारीरिक साता–रूप है। रागभाव आत्मा का विकार है जो कर्मोदय से होता है। रागभाव, संसार का मूल है, बन्ध का कारण है। मोक्ष की प्राप्ति का राग भी कर्मास्त्रव का कारण और मोक्ष प्राप्ति का बाधक है। अतः जीव को उत्तम सत्यधर्म-स्वरूप वीतरागता की सम्पूर्ण सिद्धि हेतु, राग का सूक्ष्म अंश का भी परित्याग कर वीतराग–स्वरूप शुद्धात्म–स्वरूपी निज उत्तम सत्यधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

प्रशस्तरूप असत्य- जीव को प्रशस्त पुण्य-फल भोगने के हेतु सातारूप सामग्री स्वयमेव उपलब्ध हो जाती है। बाह्य पदार्थ सातारूप अनुकुल परिणमित होते हैं। यह जीव उन्हें पुण्य से प्राप्त मानकर पुण्य के कारणभूत प्रशस्त रागरूप प्रवर्तन करता रहता है। व्यक्ति; पुण्योदय के फलस्वरूप राज्य आदि के पद, इष्ट-मित्र, स्त्री-पुत्र-धन-धान्य, वित्त-सम्पत्ति को पाकर पञ्चेन्द्रिय के विषयों में अति आसक्त हो प्रवर्तन करता-कराता है। इन्द्रियों के विषय-भोगों की आशा-तृष्णा के वशीभूत होकर प्राप्त भोग-सामग्रियों की रक्षा और उनकी वृद्धि करने के उपायों को करता रहता है। वह इन्द्रियों के विषय-भोगों में सुख मानकर उनमें लिप्त रहता है। विषय-भोगों से रहित अतीन्द्रिय सुख-स्वरूप निज आत्मा को भूल जाता है। उससे उत्तम सत्यधर्म का घात होता है।

प्रशस्तरूप असत्य की निवृत्ति और उत्तम सत्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

प्रशस्त पुण्य का फल, जीव को सातारूप फलित होता है; किन्तु वह अतीन्द्रिय आत्मसुख– स्वरूप नहीं है। बाह्य पदार्थों के संयोग में साता का वेदन, मोहनीय और साता वेदनीय कर्म के उदयानुसार होता है। उत्तम सत्यधर्म; आत्मा का लक्षण है उसका कर्मों के उदय आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है। आठों कर्मों का फल दुःखरूप ही है। रत्नत्रय-पूजा में लिखा है– **''आठों दुःखदानी आठ निशानी, तुम ढिग आनि निवारण हो।''** यदि प्रशस्त पुण्य का फल सुख–रूप होता तो महा अतिशय पुण्य-फल वाले तीर्थङ्करों को गृहस्थ अवस्था में स्वर्ग से दिव्य भोजन, वस्त्राभूषण देव लाकर देते हैं, वे तो सुखी होते। यदि सुखी होते तो भोगों से विरक्त हो, जिन-दीक्षा अङ्गीकार क्यों करते? स्वर्ग के देव भी स्वर्ग के सुख

भोगते हुए तृप्त नहीं होते हैं। वे भोगों की प्रबल इच्छा-पीड़ा से पीड़ित हो, स्वर्ग को छोड़कर वन-क्रीड़ा करने मध्य लोक में आते हैं। ज्ञानी–धर्मात्मा जीव तो प्रशस्त पुण्य-फल भोगने को शिखा-तप्त घृत–स्नानवत् मानते हैं। अत: जीव को पुण्य-फलों के भोगों को दु:ख–स्वरूप जानकर-मानकर सत्य–स्वरूप निज उत्तम सत्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

अनियमरूप असत्य- नियम अर्थात् निर्वाण का कारण। अनियम अर्थात् संसार का कारण। व्यक्ति; मिथ्या दर्शन-ज्ञान-आचरण से युक्त जो अप्रशस्त शुभाशुभ आचरण करता है वह अनियमरूप असत्य है। अनियमरूप प्रवर्तन करने वाला व्यक्ति स्वयं को पर का और पर को स्वयं का कर्त्ता-भोक्ता मानता है। विषय–भोगों की अनुकूलता में हर्ष और प्रतिकूलता में विषाद मानकर सुखी-दु:खी होता है। दु:ख दूर करने को अविवेकपूर्ण सुकृत-दुष्कृत कार्यों को करता है। उससे उत्तम सत्यधर्म का घात होता है।

अनियमरूप असत्य की निवृत्ति और उत्तम सत्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

नियम तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकरूपता है। उसी में स्थित रहने का अनुष्ठान करना; उत्तम सत्यधर्म है। अर्थात् आस्रवरूप समस्त शुभाशुभ मन-वचन-काय और रागादि भावों का वारण–(निरोध) पूर्वक जो निज शुद्धात्मा को ध्याता है, उसे नियम से रत्नत्रय की एकतारूप नियम होता है।[१] नियम–संयुक्त भव्य पुरुष पञ्चेन्द्रिय के विषयों से विरक्त, अनावश्यक कार्यों का त्यागी और लौकिक कार्यों का नौ कोटि से त्यागी होता है। उसका पुरुषार्थ निज शुद्धात्म स्वभाव में स्थिर रहने का वर्तता रहता है। अत: जीव को नियम फलस्वरूप द्रव्य-मोक्ष, भाव-मोक्ष की सिद्धि हेतु नियम–स्वरूप निज उत्तम सत्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

अतत्त्वरूप असत्य- व्यक्ति का जीवादि प्रयोजनभूत सात तत्त्वों का स्वरूप हेय-उपादेयरूप यथार्थ न जानकर, अहितकर हेय तत्त्वों को ही उपादेय मानकर प्रवर्तन करना; अतत्त्वरूप असत्य है। व्यक्ति; आस्रव-बन्ध आदि को मुक्ति का कारण मानकर तद्रूप ही प्रवर्तन करता रहता है। वह यह भी नहीं समझता है कि आस्रव युक्त तपस्चरण मोक्ष का नहीं, संसार का ही हेतु है। पुण्यास्रवरूप तपस्चरण से स्वर्ग-सिद्धियाँ तो होती हैं; किन्तु निज शुद्धात्म–स्वरूप सिद्धियाँ नहीं होती हैं। हेय-उपादेय तत्त्वों की अनभिज्ञता से उत्तम सत्यधर्म का घात होता है।

१. सुह असुहवयणरयणं रायादिभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा।। –१२० नि.सा.

अतत्त्वरूप असत्य की निवृत्ति और उत्तम सत्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीव, अजीव ज्ञेय तत्त्व हैं, आस्रव-बन्ध हेय तत्त्व हैं, संवर-निर्जरा एकदेश उपादेय तत्त्व हैं और मोक्ष सर्वदेश उपादेय तत्त्व है। जब–तक सम्पूर्ण वीतराग दशा की प्रकटता न हुई हो तब–तक प्रशस्त/पुण्यास्रवरूप प्रवर्तन करना; किन्तु श्रद्धान में हेय तत्त्व ही मानना।[१] मोक्षतत्त्व आत्मा की पूर्ण अबन्ध दशा है, किसी स्थान विशेष का नाम नहीं है। अत: जीव को ऐसा जानकर, मानकर सत्य–स्वरूप निज उत्तम सत्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

कुसङ्गतिरूप असत्य- मिथ्या श्रद्धान-ज्ञान-चारित्रवानों एवं हीन आचरण करने वालों के साथ रहना, उनके विषय-कषायों को पुष्ट करने का परामर्श देना आदि कुसङ्गतिरूप असत्य है। कुसङ्गति से व्यक्ति की पापों में प्रवृत्ति बढ़ जाती है। इन्द्रियाँ उन्मार्गगामी हो जाती हैं, कषायें प्रबल हो जाती हैं और व्यसनों में लिप्तता बढ़ जाती है। व्यक्ति; अपने प्रकट सद्गुणों को छोड़कर दुर्गुणी हो जाता है। स्वयं के दुर्गुणों को ढँकने का प्रयासरत रहता है। दूसरों के प्रकट सद्गुणों को दुर्गुणरूप प्रकट करता है। संयत पुरुष भी असंयत की भाँति प्रवर्तन करने लगता है। उससे उत्तम सत्यधर्म का घात होता है।

कुसङ्गतिरूप असत्य की निवृत्ति और उत्तम सत्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

कुसङ्गति; अग्नि की भाँति है। जैसे; अग्नि ईंधन को जलाकर राख कर देती है, वैसे ही कुसङ्गति व्यक्ति के सद्गुणों को भस्म कर देती है। स्वभावत: सुगन्धित, पवित्र, गुणकारी केशर, चन्दन आदि पदार्थ भी शरीर की कुसङ्गति से दुर्गन्धित, अपवित्र, अवगुणकारी हो जाते हैं। वैसे ही स्वभावत: सज्जन पुरुष भी संसारी, विषयभोगीजनों की कुसङ्गति से दुर्जन, क्रूर, उन्मार्ग/कुमार्गगामी हो जाते हैं। तपस्वी का शान्तचित्त भी लौकिकजनों की कुसङ्गति से अशान्त हो जाता है, तपस्या नष्ट हो जाती है। आगम में कुसङ्गति के फलों का चित्रण विस्तार से देखने को मिलता है। अत: जीव को कुसङ्गति का परित्याग कर सुसङ्गतिरूप निज आत्म सत्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

सत्यधर्म की महिमा- उत्तम सत्यधर्म और उसके प्रतिपादक सत्य वचन निराकुल सुखदायक, संसार-तापनाशक और कर्म-निर्जरा का कारण हैं। उत्तम सत्यधर्म; चन्द्रमा, चन्द्रकान्त मणि, जल, मलयागिर-चन्दन, मोती आदि पदार्थों से भी उत्कृष्ट शीतल,

१. मो.मा.प्र.।

शान्तिदायक है। सत्य–वचनधर्मरक्षक, स्व-पर उपकारी; उपसर्ग, परीषह-हर्ता होता है, तपश्चरण आदि की सफलता का मूल है। उत्तम सत्यधर्म से व्यक्ति, आस्था, विश्वास और पूज्य होता है। सत्यधर्म; विपत्ति–विनाशक, मङ्गलम, मङ्गलकारक, मुक्ति का पाथेय, यश–कीर्ति प्रसारक है।

उत्तम सत्यधर्म के प्रभाव से, अग्नि से जल, जल से स्थल, विष से निर्विष, शूल से फूल, शत्रु से मित्र, विषमता से समतारूप परिणमन हो जाता है। सत्यधर्म के प्रभाव से पुरुषों के मुख में वीतराग–वाणी निवास करती है।

सत्य वचनों से उत्पन्न हुयी कीर्ति; तीनों लोकों में चन्द्रमण्डल के समान आनन्द को बढ़ाती हुयी देवताओं के मस्तक पर विराजित होती है।[१]

''उत्तम सत्यधर्म से पुरुषों की बुद्धि, समस्त तत्वों की परीक्षा करने के लिये कसौटी के पत्थर की तरह होती है, जिन सत्य वचनों से स्थिर वैराग्य होता है, सद्‌गुण बढ़ते हैं, रागादि नष्ट होते हैं, काम–क्रोधादि विकार शान्त होते हैं, दुर्ध्यान नष्ट होते हैं।''[२]

''सत्य वचनों से प्राप्त समस्त गुणोंरूपी सम्पत्ति वाले बुद्धिमानों को इन्द्र आदि भी विघ्न करने में समर्थ नहीं हैं। क्रूर सर्प आदि काटने में समर्थ नहीं होते हैं। सत्यवादी को अग्नि भी नहीं जलाती है और सिंह आदि भी उपद्रव नहीं करते हैं।

जो सत्य वचन बोलता है उसे अग्नि; जल के रूप में, समुद्र; स्थल के रूप में, शत्रु; मित्र के रूप में, पर्वत; घर के रूप में, सर्प; माला के रूप में, सिंह; मृग के रूप में, पाताल; बिल के रूप में, अस्त्र; कमल के पत्ते के रूप में, बाघ; भेड़िया के रूप में, विषमता; समता के रूप में परिणमित हो जाती है।'' सत्य बोलने वाला सदा सुखी रहता है और जगत्–पूज्य होता है। सत्यधर्म के प्रभाव से देवी-देवता उसकी सहायता करते हैं। लौकिकजन उसके पास अपना द्रव्य/वित्त/स्वर्ण आदि रखकर उसे सुरक्षित समझते हैं। सर्वजनों का विश्वास पात्र होता है। सत्य के प्रभाव से मुनिराज और श्रावक की प्रतिष्ठा होती है। उत्तम सत्यधर्म के प्रभाव से मुनिराज तो मोक्ष और श्रावक स्वर्ग जाता है। अत: जीव को निज उत्तम सत्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

उत्तम सत्यधर्म का स्वरूप समझ कर सभी आत्माएँ उत्तम सत्यधर्म स्वभावी निजात्मा में निमग्न रहें, ऐसी मेरी मङ्गल भावना है।

---

१. चन्द्रमूर्ति–रिवानन्दं वर्धयन्ति जगत्त्रये।
स्वर्ग भिर्ध्रयते मूर्ध्ना–कीर्ति सत्योत्थिता नृणाम्।।२४ पृ. ९५ द.ध.स्क.।

२. द.ध.स्क. पृ. ९५। ३. द.ध.स्क. पृ. ९९।

उत्तम संयमधर्म

मङ्गलाचरण

आत्म–नियन्त्रण भाव से, राग भोग नहिं होय।
उत्तम संयमधर्म से, सहज आत्मसुख होय।।

आत्मा का उत्तम क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य के समान एक लक्षण उत्तम संयमधर्म भी है। जीव का स्व–शुद्धात्मा में एकाग्रतारूप आत्म–नियन्त्रण संयम है। आत्म–नियन्त्रण और जितकर्म–स्वरूप आत्मा का शुभ परिणमन; उत्तम संयम है। उससे प्रकट अबाधित शुद्धता–स्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

संयम का शाब्दिक अर्थ है– नियन्त्रण, निग्रह, तपोनिष्ठ, एकाग्रता आदि।

सम्यक् यमो व संयम : सम्यक प्रकार से आत्म–नियन्त्रण; उत्तम संयम है। अर्थात् समितियों में प्रवृत्ति करने वाले के प्राणी और इन्द्रियों का परिहार उत्तम संयम है।[1]

'संयम' शब्द में 'सम्' उपसर्ग और 'यम' धातु है। 'यम' धातु में 'सम्' उपसर्ग लगकर संयम शब्द बना है। 'सम्' का अर्थ है– सम्यग्दर्शन–सहित और 'यम' का अर्थ है– आत्म-नियन्त्रण, चित्त को निज शुद्धात्मा में स्थिर रखना। अत: संयम का अर्थ है– सम्यग्दर्शन–सहित चित्त को निज शुद्धात्म–स्वरूप में स्थिर रखना। जिस प्रकार वायुयान में, यान की गति को नियन्त्रित रखने का एक विशेष उपकरण होता है, उसे गति–नियन्त्रक कहते हैं, उसी प्रकार आत्मा की मोक्षमार्ग में गमन करने की स्थिति (गुणस्थान) को नियन्त्रित रखने वाला एक धर्म है, उसे उत्तम संयमधर्म कहते हैं। उत्तम संयम जीव को गुणस्थान (भूमिका) के अनुरूप निज शुद्धात्मस्वरूप में उपयोग की स्थिरता को नियन्त्रित रखता है। संयम ब्रेकरूप गतिअवरोधक की भाँति नहीं है।

निज गुण-पर्याय का धारक, ज्ञान–स्वरूप चिदानन्द; उत्तम संयम है। बाह्य में पाँचों इन्द्रियों और मन सम्बन्धी विषयों का निरोध करना; इन्द्रिय संयम और छह काय के जीवों पर दया-भाव, उनके कल्याण की भावना प्राणी संयम है। इन दोनों के बल से, साधक का, निश्चय से स्व–शुद्धात्मा में नियन्त्रित/स्थित रहने से आत्मा ही उत्तम संयम (धर्म) है।[2]

---

१. समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रिय–परिहार: संयम:। त.रा.वा.। २. प.प्र.टी. १/९३

जिस प्रकार सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है; सम्यग्ज्ञान कारण है और सम्यक्चारित्र कार्य है उसी प्रकार उत्तम संयम कारण है और उत्तम संयमधर्म कार्य है। कारण में कार्य का उपचार कर संयमधर्म का निरूपण किया जाता है।

१. उत्तम संयम; विषय-कषाय और आस्रवों से निवृत्तिरूप भाव; उत्तम संयम है। उससे प्रकट निर्मल, निरास्रव-स्वरूप निजात्मानुभूति का आनन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।
२. सम्यग्दर्शनपूर्वक विषयभोगों का त्याग और कषायों के क्षय करने का उपाय; उत्तम संयम है। अकषाय–स्वरूप/अमल–स्वरूप सुखरसमयी निजात्मानुभूति; उत्तम संयमधर्म है।
३. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी निज शुद्धात्मा में चित्त की अविचलता; उत्तम संयम है। उससे प्रकट अभेद रत्नत्रयमयी निजात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।
४. बाह्य विषयों से श्रमित उपयोग का निज शुद्धात्म–स्वरूप में विश्राम करना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट श्रम-रहित निज शुद्धात्म-विषयक सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।
५. उपयोग को बाह्य पदार्थों और विषय–भोगों से पृथक् कर, निज शुद्धात्म–स्वभाव में संलग्न करना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट अतीन्द्रिय निज शुद्धात्म-सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।
६. ज्ञान-दर्शन का व्यापार निज शुद्धात्म–स्वरूप का होना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट शुद्ध–स्वरूप निजात्मा का ज्ञानानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।
७. योग और उपयोग की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का निरोध करना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट अयोग–स्वरूप स्वतन्त्र ज्ञान की प्रवृत्ति का सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।
८. आत्मध्यान में स्व शुद्धात्म-स्वरूप को प्रधान करना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट ध्यान-ध्याता-ध्येय के विकल्प रहित, एकाकी निज शुद्ध–आत्मा का आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।
९. ज्ञानोपयोग की प्रवृत्ति स्व-स्वरूप से बाहर न होकर; निज शुद्धात्म-स्वरूप में होना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट निवृत्ति–स्वरूप निजानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।
१०. आत्मा का आत्मा में स्थित रहना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट स्थिर निज शुद्धात्मानुभूति का परमानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।
११. निजात्म-शुद्धि हेतु किया गया अभ्यन्तर अनुष्ठान; उत्तम संयम है। उससे प्रकट अध्यात्ममयी निज-सुखानुभूति–स्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

१२. आत्मा का संसार के हेतुभूत समस्त कारणों से पराङ्गमुख होकर, मोक्ष के हेतुभूत कारणों में प्रवृत्ति; उत्तम संयम है। उससे प्रकट सकल कर्मविमुक्त निज आत्मा का परम आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

१३. संसार-शरीर से विरक्तिपूर्वक मुक्त–स्वरूप अशरीरी निजात्मा में चेतना की प्रवृत्ति; उत्तम संयम है। उससे प्रकट चिदानन्द–स्वरूप निज सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

१४. सांसारिक एवं शारीरिक विषय–भोगों का दमन कर, विषयातीत निज शुद्धात्मा को विषयकर भोगना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट मुक्त–स्वरूप, अशरीरी सिद्ध-सदृश निजात्मा का परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

१५. आस्रव भावों का पराभव कर, निरास्रव होना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट संवरमयी निजात्मा का आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

१६. भव-बन्धनों से रहित अबन्ध–स्वरूप निजात्मा की प्रतीति; उत्तम संयम है। उससे प्रकट मुक्त–स्वरूप निजात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

१७. पराश्रयरूप रोग की चिकित्सा करना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट स्वाश्रयरूप निरोगता का सुख; उत्तम संयमधर्म है।

१८. इन्द्रिय-ज्ञान को जलाञ्जलि देकर अतीन्द्रिय आत्मज्ञान करना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट इन्द्रियातीत आत्मज्ञान का आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

१९. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-पूर्वक बाह्य में योगों और अभ्यन्तर में कषायों का निग्रह करना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट अयोग और अकषाय–स्वरूप निजात्मा का सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

२०. व्यक्त-अव्यक्त समस्त प्रकार के प्रमादों को त्यागकर, निष्प्रमाद होना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट प्रमत्त-अप्रमत्तरहित निज शुद्धात्मा का आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

२१. इन्द्रिय-सुख से पराङ्मुख वृत्ति-प्रवृत्ति का होना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट इन्द्रियातीत निजात्म–सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

२२. ज्ञान का ज्ञान में स्थिर रहना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट शाश्वत ज्ञानानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

२३. स्वतन्त्रता और स्वावलम्बनपूर्वक निज शुद्धात्म–स्वरूप में निमग्नता; उत्तम संयम है। उससे प्रकट स्वातन्त्र, निरावलम्ब, निज शुद्धात्मा का सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

२४. जीवादि पर द्रव्यों के प्रति अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व का भाव; उत्तम संयम है। उससे प्रकट ज्ञाता–दृष्टा–स्वरूप निजशुद्धात्मा का सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

२५. पर द्रव्यों के प्रति इष्ट-अनिष्ट भावों की अनुत्पत्ति; उत्तम संयम है। उससे प्रकट साम्यभाव स्वरूप निजात्मानुभूति का परम आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

२६. अनेक विघ्न-बाधाओं के उपस्थित होने पर स्व–स्वरूप में अविचलता; उत्तम संयम है। उससे प्रकट निराबाध निजात्म स्वभाव का परम आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

२७. कर्मों के आस्रव-बन्धों से विमुक्तता; उत्तम संयम है। उससे प्रकट निष्कर्म, मुक्त–स्वरूप निज आत्मा का आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

२८. संसारमार्ग का परित्याग कर, मोक्षमार्ग का अन्वेषण/खोज करना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट मोक्षस्वरूप सहज परम सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

२९. गुणस्थान आदि से भिन्न निजात्मा की प्रतीतिरत रहना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट गुणस्थानातीत स्वरूप शुद्धात्मा का सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

३०. आत्मा में सक्रियता के अभाव करने का उद्यम; उत्तम संयम है। उससे प्रकट निष्क्रिय निज शुद्धात्म–स्वरूप का आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

३१. पाँचों इन्द्रियों के विषय एवं तीनों योगों का त्याग,चारों कषायों का निग्रहपूर्वक पाँच महाव्रत, पाँच समितियों का पालन और त्रिगुप्ति गुप्त रहना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट सर्व क्रियाओं से शून्य, अशरीरी–स्वरूप शुद्धात्मा का सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

'संयमनं संयमः' अर्थात् व्रत-समिति-कषाय-दण्डेन्द्रियाणां धारणानुपालन-निग्रह-त्याग-जयाः संयमः।[१] संयमन को संयम कहते हैं। अर्थात् पाँच महाव्रतों का धारण, पाँच समितियों का पालन, क्रोधादि कषायों का निग्रह, मन-वचन-काय– इन तीन दण्डों का त्याग करना और पाँच इन्द्रियों के विषयों को जीतना; उत्तम संयम है। उससे प्रकट अशरीरी, अतीन्द्रिय सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

वस्तु-तत्त्व के यथार्थ बोध से, नौ तत्त्वों से भिन्न निज शुद्धात्मा-तत्त्व की प्रतीति एवं मोह-क्षोभ-विहीन साम्यभाव; उत्तम संयम है। उससे प्रकट निरपेक्ष निज शुद्धात्मा का परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

१. ध./४ स.सि.।

उत्तम संयम धर्म की प्रकटता मन-वचन-काय की निवृत्तिपूर्वक, अशरीरी–स्वरूप निज शुद्धात्मा में उपयोग की स्थिरता से प्राप्त होती है।

उत्तम संयम के भेद– उत्तम संयम; व्यवहार (बाह्य) और निश्चय (अभ्यन्तर) के भेद से दो प्रकार का है- व्यवहार संयम और निश्चय संयम। व्यवहार संयम; पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तियों का पालन, कषायों का निग्रह और पाँच इन्द्रियों पर विजय पाकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की पूर्णता का सम्यक् उद्यम करना है। अभ्यन्तर/निश्चय संयम; समस्त सङ्कल्प-विकल्प–जालों से पूर्णतः विमुक्त हो चित्त का स्वरूप में स्थिर रहना है।[१] अर्थात् निष्क्रिय निज शुद्धात्म–स्वरूप में चित्त की स्थिरतारूप स्व शुद्धात्म की उपलब्धि है।[२] व्यवहार-निश्चय संयम से आत्मा में शुद्ध–स्वरूप आनन्द की प्राप्ति; उत्तम संयमधर्म है।

संयम; मार्गणा की अपेक्षा पाँच प्रकार का है- १. सामायिक, २. छेदोपस्थापना, ३. परिहार–विशुद्धि, ४. सूक्ष्मसाम्पराय, ५. यथाख्यात। इन्हीं पाँच प्रकार के संयम को चारित्र भी कहते हैं।

संयम पालन करने वाले पात्र की अपेक्षा संयम के दो भेद हैं— सकल (सर्वदेश) संयम, और विकल (एकदेश) संयम। सकल संयम के पालक; मुनि-भगवन्त होते हैं और विकल संयम के पालक; श्रावक होते हैं।

सकल संयम के पालक दो प्रकार के होते हैं। १. प्रमत्त संयत और २. अप्रमत्त संयत।

प्रमत्त संयत– जो मुनि; मूलोत्तर गुणों के परिपालन में संयुक्त रहते हुए भी व्यक्त-अव्यक्त प्रमादरूप प्रवर्तित रहता है, वह प्रमत्त संयत है। उसका सम्पूर्ण जीवन मोक्षमार्ग एवं मोक्ष के पोषक उपदेश तथा निर्विकल्पता की सिद्धि हेतुभूत शुभ क्रियाओं के करने में व्यतीत होता है।

अप्रमत्त संयत- जो मुनि; मूलोत्तर गुणों से मण्डित व्यक्त-अव्यक्त प्रमादों से रहित स्व–पर के ज्ञान से युक्त अनुपशमक या अक्षपक होते हुए भी ध्यान में निरन्तरलीन रहता है,[३] जिसका संयम प्रमादरहित होता है,[४] या जिसके संज्वलन सम्बन्धी-क्रोधादि चार कषाय तथा हास्यादि नोकषाय का मन्द उदय होता है वह मुनि; अप्रमत्त संयत होता है।[५]

१. पंचसमिदो तिगुत्तौ पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो।। –प्र.सा.२४०।।

२. शुद्धात्मोपलब्धि स्यात् संयमो निष्क्रियस्य च।। प.घ.उ. ११७

३. णट्ठासेसपमाओ वयगुणसीलोलिमण्डिओ णाणी।
अणुवसमओ अखवओ ज्झाणणिलीणो हू अपमत्तो सा।।१६. प.स.प्रा.।

४. ध. १/१।

५. संजलण णोकषायाणुदयो मंदो जदा-तदा होदि।
अपमत्तगुणो तेण य अपमत्तो संजदो होदि। ४५ गो.जी.।

संयम; अपहृत संयम और उपेक्षा संयम की अपेक्षा से दो प्रकार का है। अपहृत संयमी मुनिराज के पास ज्ञानादि के उपकरण शास्त्र और संयम के उपकरण पिच्छिका, कमण्डलु होते हैं। वे उनको सविवेक उठाते-रखते हैं। वे आदान-निक्षेपण समिति का पालन करते हैं। उपेक्षा संयमी मुनिराज के ज्ञानादि के उपकरण-शास्त्र और संयम के उपकरण पिच्छिका, कमण्डलु नहीं होते हैं। वे परम जिन-मुनि एकान्त में निष्पृह होते हैं।[१] उनके शरीर से जीवों की विराधना और निहार नहीं होता है।

व्यवहार संयम	निश्चय संयम
● व्यवहार संयम; निश्चय संयम का कारण होने से औपचारिक है; किन्तु सर्व प्रकार से आचरण करने योग्य है।	● निश्चय संयम अनौपचारिक है, वास्तविक और स्वाभाविक है।
● यह सम्यग्दर्शन–सहित और रहित भी होता है।	● यह सम्यग्दर्शन–सहित ही होता है।
● यह अस्पष्ट है, पुण्यास्त्रव का कारण है, सर्वजन के दृष्टिगोचर होता है।	● यह आंशिक स्पष्ट और साम्यता स्वरूप, ज्ञान–दृष्टिगोचर होता है।
● यह सांसारिक-शारीरिक विषयभोगों के प्रति, अरुचि, अनासक्ति और निवृत्ति–प्रधान होता है।	● भोगों से विरक्ति और निज शुद्धात्म–स्वरूप में स्थिरता–प्रधान होता है।

व्यवहार संयम दो प्रकार का है। इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम। पाँच इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति न होना, इन्द्रिय संयम है और छह काय के जीवों की विराधना न करना/न होना, प्राणी संयम है।

इन्द्रिय संयम- आठ स्पर्श, पाँच रस, दो गन्ध, पाँच वर्ण, षड्ज आदि सात स्वर और मन– इन अट्ठाईस विषयों में राग का अभाव इन्द्रिय संयम है। अर्थात् समस्त इन्द्रियों के व्यापार का परित्याग; इन्द्रिय संयम है।

प्राणी संयम- मन-वचन-काय से त्रस-स्थावर काय के जीवों की रक्षा करना और उनके किसी भी प्राण को किसी भी प्रकार पीड़ा न पहुँचाना; प्राणी संयम है।

१. नि.सा.ता.वृ. ६४।

'इन्द्रिय' शब्द का अर्थ है- (इन्द्र + इय) इन्द्र = आत्मा, इय = चिह्न। अर्थात् आत्मा के सूक्ष्म अस्तित्व का ज्ञान कराने के चिह्न; इन्द्रियाँ हैं।[1] आत्मा की पहिचान ज्ञान से होती है और ज्ञान का उघाड़; ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होता है। आङ्गोपाङ्ग नामकर्म के आलम्बन से इन्द्रियों की संरचना होती है। अत: इन्द्रियज्ञान के व्यापार का परित्याग कर, अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द का व्यापार; उत्तम संयम है। अर्थात् सम्यग्दर्शन के साथ इन्द्रियज्ञान से मुक्त अतीन्द्रिय वीतराग परमानन्दमयी निज शुद्धात्मा में निमग्नता से प्रकट आत्म सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

इन्द्रिय संयम में पाँचों इन्द्रियाँ और मन के विषयों का निरोध होने से इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख का निरोध हो जाता है। अत: जितेन्द्रियतापूर्वक परम समरसी आनन्द की प्रकटता/अतीन्द्रिय–स्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

स्पर्शनेन्द्रियातीत उत्तम संयमधर्म- वीर्यान्तराय कर्म और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम और आङ्गोपाङ्ग नामकर्म के आलम्बन से स्पर्श आदि आठ प्रकार के ज्ञान में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि के अभाव से साम्यभावों का होना, शीत-उष्ण-वर्षा की प्रखरता से वात-पित्त-कफ का प्रकोप एवं परिषह आदि होने पर निज शुद्धात्म-ध्यान में अविचलता रहना, स्पर्शनेन्द्रियजय संयम है तथा आत्मा के आश्रय से प्रकट स्पर्शनेंद्रिय-अतीत अस्पर्शस्वरूप परमानन्दमयी सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

रसनेन्द्रियातीत उत्तम संयमधर्म- वीर्यान्तराय कर्म और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम और आङ्गोपाङ्ग नामकर्म के आलम्बन से पाँच प्रकार के रसों के ज्ञान में रुचि-अरुचि के अभाव से समरसी भावों का होना; रसनेन्द्रियजय उत्तम संयम है तथा उत्तम रसनेन्द्रिय-जय रूप उत्तम संयमपूर्वक अरस–स्वरूपी निज शुद्धात्मा की अनुभूतिपरक रसास्वादनमयी आनन्दस्वरूप सुखरस; रसनेन्द्रिय-अतीत उत्तम संयमधर्म है।

घ्राणेन्द्रियातीत उत्तम संयमधर्म- वीर्यान्तराय कर्म और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम तथा नामकर्म के आलम्बन से, सुगन्ध एवं दुर्गन्ध के ज्ञान होने पर, गन्ध के प्रति राग-द्वेष का अभाव का होना; घ्राणेन्द्रियजयरूप; उत्तम संयम है। उत्तम संयमपूर्वक घ्राणेन्द्रिय–अतीत अगन्ध–स्वरूपी आत्मा में वीतराग परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

१. आत्मन: सूक्ष्मस्यास्तित्वाधिगमे लिङ्गमिन्द्रियम्। १. स.सि. १/१४
यदिन्द्रस्यामनो लिङ्गं यदिवा इन्द्रेण कर्मणा... तन्द्रिय:। गो.जी.१

चक्षुइन्द्रियातीत उत्तम संयमधर्म- वीर्यान्तराय कर्म और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम तथा आङ्गोपाङ्ग नामकर्म के आलम्बन से शुक्ल, पीत आदि पाँच वर्णोंरूप के एवं चित्राम आदि के रूप-लावण्य के ज्ञान में राग-द्वेषरहित समभाव का होना; चक्षु इन्द्रियजय उत्तम संयम है। उत्तम संयमपूर्वक अरूपी निजात्मा का शुद्ध ज्ञानात्मक स्वरूप परमानन्द–स्वरूप सुखरस; चक्षु–इन्द्रियातीत उत्तम संयमधर्म है।

कर्णेन्द्रियातीत उत्तम संयमधर्म- वीर्यान्तराय कर्म और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम तथा आङ्गोपाङ्ग नामकर्म के आलम्बन से षड्ज आदि सप्तस्वर, प्रिय-अप्रिय वचनों के श्रवण के परिणामों में राग-द्वेषरहित साम्यता का होना; कर्णेन्द्रियजय उत्तम संयम है। उत्तम संयमपूर्वक अशब्द-स्वरूप निज भगवान् आत्मा का परमानन्द–स्वरूप सुखरस; कर्णेन्द्रियातीत उत्तम संयमधर्म है।

मनातीत उत्तम संयमधर्म- मन के आलम्बन से रूपी पदार्थों सम्बन्धी समस्त सङ्कल्प-विकल्पों के निरोधपूर्वक मन का निजात्मा में एकाग्र होना; मन का जयरूप उत्तम संयम है। उत्तम संयमपूर्वक मन से अतीत निज शुद्धात्मा में निर्विकल्प स्थिरता का परमानन्द–स्वरूप सुखरस; मनातीत उत्तम संयमधर्म है।

प्राणीसंयमरूप धर्म- मन-वचन-काय की यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति सहित प्राणियों के इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास आदि दश प्राणों का तथा शुद्धोपयोगरूप सुख-सत्ता-चैतन्य-बोधरूप प्राणों के घातरूप परिणामों की अनुत्पत्ति; उत्तम प्राणीसंयम है। प्राणीसंयम में स्व और पर के प्राणों का समावेश है। अर्थात् प्रमत्त योग के नियन्त्रणपूर्वक निर्विकार ज्ञानस्वभाव के द्वारा प्रकट वीतराग सुखस्वरूप, सुख–सत्ता–चैतन्य–बोधमयी परिणति का परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

रागादि भावों की अनुत्पत्ति से प्रकट अहिंसा स्वरूप निज शुद्धात्मा की पर्याय का परम सुखरस; उत्तम प्राणी–संयमधर्म है।

असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह तो हिंसा की पर्यायें हैं जो असंयमरूप हैं। अत: इन सर्व प्रकार की हिंसारूप असंयम के सर्वथा अभावपूर्वक अहिंसात्मक परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम संयमधर्म है।

उत्तम संयमधर्म की महिमा- उत्तम संयमधर्म की महिमा समझने के लिए; उत्तम संयम –प्राप्ति की दुर्लभता और आवश्यकता को समझना आवश्यक है; क्योंकि उत्तम संयम ही,

उत्तम संयमधर्म का नियामक कारण/सूचक है।

लोक में मनुष्य-जन्म, श्रावक-कुल, जिनधर्म, जिनधर्म के श्रद्धानियों की सङ्गति, जिनवचनों का श्रवण, रत्नत्रय का धारण उत्तरोत्तर दुर्लभ है।[१] सम्यग्दृष्टि इन्द्र भी संयम-धारण करने की प्रबल अभिलाषा रखते हैं; किन्तु वे धारण नहीं कर पाते हैं, क्योंकि देवपर्याय में संयम धारण करने की योग्यता ही नहीं होती है। नारकियों को अति तीव्र कषाय होने के कारण संयम धारण करने का विकल्प ही नहीं उठता है। तिर्यञ्चों को पर्याय के अनुरूप एकदेश संयम हो सकता है। मनुष्य पर्याय ही एकमात्र ऐसी पर्याय है कि सकल संयम/उत्तम संयम धारण किया जा सकता है। उससे ही उत्तम संयमधर्म प्रकट होता है।

उत्तम संयम से सम्यग्दर्शन-ज्ञान पुष्ट होकर, वीतराग चारित्र प्रकट होता है जो कि अमृत–समान अमरकारी, अनन्तकाल तक शाश्वत और निज शुद्धात्म-सुखदायक है। यह मोक्षमार्ग और मोक्षस्वरूप है। उत्तम संयम–सहित जिनदीक्षा का धारण एवं पञ्च महाव्रतों का पालन करना सार्थक होता है। इससे संसार–परिभ्रमण का निरोध होता है, आत्मा में निर्मलता की वृद्धि होती है। उत्तम संयम की अचिन्त्य शक्ति है, उससे ही उत्तम संयमधर्म और केवलज्ञान प्रकट होता है।

उत्तम संयम; संसार-उद्धारक, भव-निवारक, सर्व दुःखनाशक, मोक्षमार्ग एवं मोक्षस्वरूप है। उत्तम संयम के बिना तीर्थङ्कर भी मोक्ष नहीं जाते हैं। अतः जीव को एक घड़ी भी असंयम में व्यतीत नहीं करना चाहिए।[२]

उत्तम संयम अमूल्य रत्न है। इसे कुबेर के कोष से भी क्रय नहीं किया जा सकता है। यह जीव की साक्षात् सुख–सम्पत्ति है। इसे पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषय–चोरों से प्रतिपल सुरक्षित रखना चाहिए।[३]

उत्तम संयम धारण करने से पूर्व–भवों में बन्धे कर्मों का समूल क्षय और उत्तम संयमधर्म प्रकट हो जाता है। ऐसे उत्तम संयम को प्रमाद छोड़कर[४] धारण करना चाहिए।

---

१. दुर्लभ है नरजन्म तथा श्रावक कुल भारी, सत् सङ्गति संयोग धर्मजिन श्रद्धाधारी। जिन वचनामृत धार समावर्तें जिनवानी। –सा.पा.

२. जिस बिना नहिं जिनराज सीझे...। इक घरी मत विसरो करो...। –द.ल.ध. पूजन

३. संयम रतन संभाल विषय चोर बहु फिरत हैं। –द.ल.ध.पू.

४. उत्तम संयम गहो मन मेरे, भव–भव के भाजें अघ तेरे। –द.ल.ध.पूजन

अब यहाँ उत्तम संयमधर्म–घातक असंयम का स्वरूप, भेदों और शमन के उपायों पर विचार किया जाता है।

असंयम

जीव का मन–वचन–काय का अनियन्त्रित हो इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होना और ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मों के बन्ध–कारक परिणामों में हित–बुद्धि करने का नाम असंयम है।

उत्तम संयमधर्म–घातक अभ्यन्तर कारण, अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय है और संयम–घातक बाह्य साधन–भूत कारण अनेक हैं। यथा– इन्द्रिय–विषयों की रुचि, षट्काय के जीवों की विराधना, काम–भोग, कषाय, हिंसा, पाप, पाँचों इन्द्रियों, विभावरूप, अनेकाग्ररूप।

पाँचों इन्द्रियों के विषयभोगों में रुचिरूप प्रवृत्ति; इन्द्रियों का असंयम है। षट्काय के जीवों के बाह्य–अभ्यन्तर प्राणों की विराधना करना एवं उन्हें शाश्वत सुख की प्राप्ति का उपाय न सिखाना, अजीवकाय की विराधना में रुचि का होना; प्राणी–असंयम है।

काम–भोग–उपभोगरूप असंयम– स्पर्शन और रसना इन्द्रिय के विषयों को काम, घ्राण आदि इन्द्रियों के विषयों को भोग कहते हैं। जीव अनादि से काम–भोगों में अति आसक्त रहा है। पाँचों इन्द्रियों के विषय; बेलगाम घोड़े की तरह चर्तुगति में पटक देते हैं।

व्यक्ति के परिणामों में पाँचों इन्द्रियों के विषयभूत मनोज्ञ चेतन–अचेतन पदार्थों के प्रति राग करना; काम है और वर्तमानकालीन भोगोपभोगों के प्रति आसक्ति और भविष्यत्कालीन चाह; भोगोपभोग है। काम और भोगोपभोग के परिणामों से काम–भोगोपभोग–रूप असंयम होता है। उससे उत्तम संयमधर्म का घात होता है।

काम–भोगोपभोगरूप असंयम की निवृत्ति और उत्तम संयमधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

काम–भोगोपभोग को दुःखस्वरूप, दुःख के कारण जानकर पञ्चेन्द्रियों के विषयों का निग्रह करना चाहिए। मेरा आत्मस्वभाव तो काम–भोगोपभोगों से सदैव मुक्त है। काम–भोगोपभोग तो कर्मों के फल हैं। कर्म; जड़स्वरूपी हैं उनका चैतन्य–स्वरूप आत्मा में प्रवेश ही नहीं है। आत्मा तो निज चैतन्य–स्वरूप में रमण करता है और उसी का ही भोग करता है।

पाँचों इन्द्रियों और मन के भोगोपभोग की सामग्रियाँ तीन प्रकार की हैं– १. जीवनदायक, २. आरामदायक, ३. विलासितादायक। इन तीनों प्रकार की सामग्रियों के प्रति इष्ट–अनिष्ट

की कल्पना और उनके सङ्ग्रह करने की वृत्ति–प्रवृत्ति भोगोपभोगरूप असंयम है। भोगोपभोग सामग्रियों से साता का अनुभव करना और उनमें आसक्त रहना, उससे उत्तम संयमधर्म का घात होता है।

भोगोपभोगरूप असंयम की निवृत्ति और उत्तम संयमधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

भोगोपभोग की सामग्रियाँ, आत्मसुख का कारण नहीं हैं। इनकी प्राप्ति में सुख नहीं है। ये तो पूर्वोपार्जित पुण्यकर्म का फल है। इन फलों की प्राप्ति में जीव को उदासीन रहना श्रेयस्कर है।

गृहस्थ की भूमिका में उत्तम संयमधर्म की प्रकटता के हेतु भोगोपभोगों की मर्यादा और उनकी सामग्रियों का परिमाण रखना चाहिए। भोगोपभोग के भावों की निन्दा–गर्हा–आलोचना और भर्त्सना करना चाहिए। समस्त प्रकार के भोगोपभोग कर्मोदय–जनित रोग हैं। इस रोग को उत्तम संयम की औषध का सेवन कर निरोग होना चाहिए। अत: जीव को भोगोपभोगों की वृत्ति एवं प्रवृत्ति का निरोध कर, अतीन्द्रिय निज शुद्धात्म–स्वरूप निज उत्तम संयमधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

कषायरूप असंयम– संसारी जीव के हृदय–सागर में कषायरूपी हिंसक जीव–जन्तु हैं; वे जीव के स्वाभाविक गुणों की हिंसा करते हैं और उन्हें विकसित नहीं होने देते हैं। गुणों की हिंसा जब–तक होती रहेगी तब–तक असंयम ही वर्तता है। अथवा कषायविष जीव को विषाक्त कर मूर्च्छित रखता है। उससे निज शुद्धात्म–स्वभाव की यथार्थ प्रतीति नहीं होती है, वह अन्यथा प्रतीति कर मिथ्यात्वरूपी क्षयरोग से ग्रसित रह आत्मस्वभाव को कृश कर, आत्मबलहीन हो अत्यन्त दु:खों को भोगता है। जीव; कषायरूप असंयम की प्रबलता से स्वात्म–विवेक खो देता है, उससे पर–पीड़ाकारक, अहितकर, निन्द्य कार्य और अशिष्ट वचनालाप करता है। वह स्वयं को पर का और पर को निज का कर्त्ता–भोक्ता मानकर, संसार के कारणभूत/आस्रव–बन्ध के कारणभूत सांसारिक कार्यों में धर्म मानकर उनमें लिप्त रहता है। मोक्ष के कारणभूत संवर–निर्जरा के प्रवर्तन में प्रमाद करता है। वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रमयी निजात्मा का ध्यान ही नहीं करता है। उससे उत्तम संयमधर्म का घात होता है।

कषायरूप असंयम की निवृत्ति और उत्तम संयम धर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

कषाय की उत्पत्ति के साधनभूत पदार्थों का और प्रवृत्तियों का त्याग कर, कषायों के शमन करने के कारणभूत पदार्थों का आलम्बन कर प्रवर्तन करना चाहिए। कषायों की सर्वथा निवृत्ति के लिए वीतराग भावों के आलंबन से परम ब्रह्म-स्वरूप निजात्म-तत्त्व का ध्यान करना और व्रत-शील-संयम का पालन करते हुए कषायोत्पत्ति के साधनों से निवृत्त रहना चाहिए। कषायभाव पराश्रित, आगन्तुक रोग है जो जाने को ही आया है। अतः जीव को कषाय भावों का परित्याग कर, अकषायमयी निज उत्तम संयमधर्म में ही निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

पापरूप असंयम– जीव के जो परिणाम पतनकारक हैं, वे सभी परिणाम पापरूप असंयम है। पाप; हिंसास्वरूप है, प्रमाद के योग से प्राणों का व्यपरोपण करना हिंसा है।[१] हिंसा पाप चार प्रकार का है– १. संकल्पी, २. उद्योगी, ३. आरम्भी, ४. विरोधी। निश्चय से राग की उत्पत्ति का नाम हिंसा है[२] और व्यवहार से छह काय के जीवों की विराधना करना हिंसा है। अजीवकाय की विराधना करना भी हिंसारूप असंयम है। अनृत, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह, पाप तो हिंसा-पाप के उदाहरण हैं। अर्थात् अनृत आदि से जीवों की विराधना होती है।

जिस वचन के बोलने से जीव को मिथ्या श्रद्धान हो जाये, धर्म से विमुख या च्युत हो जाये, पञ्चेन्द्रियों के विषय-सेवन में अनुराग बढ़ जाये, परस्पर में कलह, विसम्वाद हो जाये, आर्त-रौद्र ध्यान हो जाये, ऐसे समस्त प्रकार के वचन बोलना; अनृत-पापरूप असंयम है।

पर-पदार्थों एवं पर-भावों को अपना मानना चोरी है। चोरी करने के उपाय बताना, चोरी का धन लेना, अन्यायपूर्वक धन का सङ्ग्रह करना, बहुमूल्य की वस्तु में अल्प मूल्य की वस्तु मिलाकर विक्रय करना, देन-लेन की हीन-अधिक माप-तौल के लीटर, बाँट, तराजू रखना; चोरी-पापरूप असंयम है।

निश्चय से निज शुद्धात्म-स्वरूप में रमण न कर, रागादि परभावों में रमण करना और व्यवहार से पर-स्त्री सेवन करना, आशा-तृष्णा रखना, कामीजनों का समागम करना, एकान्त में स्त्रियों से मिलना, उनसे हास्य करना, उनके मनोहर अङ्गों को देखना, पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण करना, स्व-शरीर का शृंगार करना, शरीर पुष्ट रखने को वृष्य-इष्ट रसमयी भोजन करना एवं रुचि रखना; अब्रह्म-पापरूप असंयम है।

पर-पदार्थों के प्रति मूर्च्छा/ममत्व परिग्रह है।[३] लोभ कषाय के उदय से पञ्चेन्द्रियों के

१. प्रमत्तयोगात् प्राण- व्यपरोपणं हिंसा। त.सू.

२. अप्रादुर्भाव: पु.सि.उ. ४३।

३. मूर्च्छा परिग्रह: त.सू.

विषय सेवनार्थ पदार्थों का सङ्ग्रह करना, कर्मजन्य भावों को अपना स्वभाव मानना परिग्रह–पापरूप असंयम है। उससे उत्तम संयमधर्म का घात होता है।

पापरूप असंयम की निवृत्ति और उत्तम संयमधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

पाँचों प्रकार के पाप दु:खस्वरूप, विषकुम्भ, दु:ख के कारण और दुर्गति–गमन के हेतु हैं। पापों का फल भोगने को नरक और तिर्यञ्च गति है। पाप–परिणामों में संयम की उत्पत्ति नहीं होती है।

उत्तम संयमधर्म की वृद्धि के लिए अजीवकाय और षट्काय के जीवों की रक्षार्थ प्रवर्तन करना और रागादि भावों की अनुत्पत्ति की वृत्ति एवं उद्यमपूर्वक प्रवृत्ति करना चाहिए। जीवन में हित–मित–प्रिय सम्भाषण करना, पर–द्रव्य एवं पर–भावों में एकत्व–ममत्व न करना, न उनमें रमण करना चाहिए। निज ब्रह्म–स्वरूप चैतन्य स्वभाव से परे अणुमात्र भी अपना नहीं है– ऐसा जानना–मानना चाहिए। अत: जीव को निष्पापस्वरूप निज उत्तम संयमधर्म में रमण करना/निमग्न ही श्रेयस्कर है।

इन्द्रियरूप असंयम– पाँचों इन्द्रियों के विषय–सेवन में सुख की प्रतीति; इन्द्रियरूप असंयम है। स्पर्शन–इन्द्रिय सम्बन्धी आठ प्रकार के विषयों के सेवन में लिप्तता। रसना–इन्द्रिय सम्बन्धी पाँच प्रकार के रसों के आस्वादन में गृद्धता। घ्राण–इन्द्रिय सम्बन्धी दो प्रकार की गन्ध में सुगन्ध के ग्रहण करने की आसक्ति। चक्षु–इन्द्रिय सम्बन्धी पाँच प्रकार के वर्णों को देखने की अभिरुचि। कर्ण–इन्द्रिय सम्बन्धी सात प्रकार के स्वरों को सुनने में मग्नता; इन्द्रियरूप असंयम है।

इन्द्रियरूप असंयम की निवृत्ति और उत्तम संयमधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

इन्द्रियों के विषय पौद्गलिक हैं, कर्मों के उदयानुसार होते हैं। इन्द्रियों के समस्त प्रकार के भोग मधुर विष–तुल्य हैं। इनका सेवन करना; आत्म–स्वभाव का घातक है। इन्द्रिय–विषय–भोगों के भोग्य पदार्थ जड़ हैं और भोगने का साधनभूत शरीर जड़ है। जड़ शरीर को ज्ञान न होने से विषयों के सुख को भोग नहीं सकता, जो भोगने का भाव करता है वह अज्ञान भाव है। जड़ और ज्ञान मिलकर कभी एक नहीं होते हैं। अत: जीव को अतींद्रिय आत्म–स्वभावरूप निज उत्तम संयमधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

स्पर्शन इन्द्रियरूप असंयम– स्पर्श का अर्थ है– लगाव, समागम, छूना, सम्पर्क आदि। स्पर्शन इन्द्रिय का असंयम, स्पर्श के आठ भेदों के भोगने से हर्ष/सुख की प्रतीति से होता है।

यथा मनुष्य को बैठने के लिए आसन, गादी– कोमल; पाटा, कुर्सी– कठोर; खाने को लाई, फूली–हल्की; फल–भारी; पीने को जल– शीतल; भोजन– गरम; लवङ्ग, गिरी–स्निग्ध; सौंफ, सुपारी–रूक्ष चाहिए। इन आठों के सेवन में हर्ष और इच्छानुरूप न मिलने पर विषाद होना; स्पर्शन इन्द्रिय सम्बन्धी असंयम है। उससे उत्तम संयमधर्म का घात होता है।

स्पर्शन इन्द्रियरूप असंयम की निवृत्ति और उत्तम संयमधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

स्पर्श के आठों विषय पुद्गल के धर्म हैं। पुद्गल के धर्मों से जीव को सुख होता है ऐसा अनुभव करना; भ्रम है। सुख; विषयों के सेवन से नहीं अपितु, त्याग से होता है।

जीव तो अस्पर्श–स्वभावी भगवान्–आत्मा है। जीव के स्वभाव में स्पर्श के आठों भेदों का प्रवेश ही नहीं है। वह तो उनका भोग कर ही नहीं सकता। स्पर्शन इन्द्रिय के माध्यम से स्पर्श के भेदों का ज्ञान होता है जो इन्द्रियज्ञान है। इन्द्रियज ज्ञान को जलाञ्जलि देकर, जीव को अस्पर्श–स्वभावी अतीन्द्रिय निज उत्तम संयमधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

रसना इन्द्रियरूप असंयम– पदार्थों में जो स्वाद है वह रस है। जीव का रसना इन्द्रिय के आलम्बन से पदार्थ के रस का आस्वादन कर उसमें आनन्दित होना; रसना इन्द्रिय का असंयम है। रसना इन्द्रिय के विषयभूत रस पाँच प्रकार के हैं– १. कटु, २. तिक्त, ३. कषायला, ४. मधुर, ५. अम्ल। इन रसों के आस्वादन से सुख मानकर, उनमें गृद्धता होना; रसना इन्द्रिय सम्बन्धी असंयम है।

पदार्थों की अपेक्षा रस के पाँच प्रकार हैं– १. गोरस, २. वनस्पति रस, ३. फल रस, ४. बीज–रस, ५. धान्य–रस। गोरस— दूध, दही, घृत। वनस्पतिरस– इक्षुरस, गुड़, खांड, शकर आदि। फलरस–अंगूर, अनार, आम, मोसंबी आदि। बीजरस–मूँगफली, तिल्ली, सोयाबीन, सरसों और इनका तेल, धान्यरस– दालों का पानी, माण्ड, गेहूँ का स्वरस आदि। इन पाँच प्रकार के रसों का सेवन कर सुख मानना/आनन्दित होना और उनके सेवन करने में लिप्त रहना; रसना इन्द्रिय सम्बन्धी असंयम है। उससे उत्तम संयमधर्म का घात होता है।

रसना इन्द्रियरूप असंयम की निवृत्ति और उत्तम संयम धर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

रसों के आस्वादन में सुख मानना भ्रम है। रसों का सेवन शरीर के पोषणार्थ किया जाता है। आगम में संयम की साधना एवं वृद्धि के लिए रसना इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों के परित्याग पर विशेष बल दिया है। रसना इन्द्रिय वश में होने पर अन्य इन्द्रियाँ तो सहज ही वश में हो जाती हैं। रसना इन्द्रिय को वश में करने के लिए सर्व प्रकार के रसास्वादन का परित्याग

कर, निज भगवान् आत्मा का/वीतराग परम रस का आस्वादन करना चाहिए। जड़ पदार्थों के रसास्वादन की आसक्ति मधुर विष के समान जानकर, उसे शरीर सञ्चालनार्थ औषधरूप में सेवन करना चाहिए। शरीर–पोषण या व्यञ्जनों की अपेक्षा रस छः प्रकार के हैं- १. दूध, २. दही, ३. घृत, ४. तेल, ५. नमक, ६. गुड़। इनके प्रति आसक्ति–त्याग के अभ्यासार्थ प्रतिदिन एक, दो, तीन, चार या छहों रसों को छोड़कर भोजन करना चाहिए।

जीव; अनन्त काल से रसों का सेवन करता आ रहा है। उसे रसों के सेवन करने से आज तक सुख नहीं मिला है। अतः जीव को आत्मनियन्त्रणपूर्वक अरसस्वरूपी निज शुद्धात्म–स्वरूप उत्तम संयमधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

रसना इन्द्रिय के संयम से इन्द्रियों के दर्प (गर्व) का निग्रह, निद्रा–जय, ओज की वृद्धि, जितेन्द्रिय और अरस–स्वभावी उत्तम संयमधर्ममयी निजात्मा में स्थिरता की वृद्धि होती है।

घ्राण–इन्द्रियरूप असंयम– घ्राण का अर्थ– गन्ध को सूंघना है। गन्ध दो प्रकार की है– १. सुगन्ध, २. दुर्गन्ध। सुगन्ध को ग्रहण करने की आसक्ति/लिप्तता घ्राण इन्द्रियरूप असंयम है। असंयमी व्यक्ति को इत्र आदि की सुगन्ध तो प्रिय लगती है और लहसुन–प्याज की दुर्गन्ध भी प्रिय लगती है। इस प्रकार गन्ध के ग्रहण करने में रुचि का होना घ्राण इन्द्रियरूप असंयम है। उससे उत्तम संयमधर्म का घात होता है।

घ्राण इन्द्रियरूप असंयम की निवृत्ति और उत्तम संयम धर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए–

गन्ध; पुद्गल का गुण है। सुगन्ध–दुर्गन्ध; पदार्थों और पदार्थों के परिणमन पर निर्भर करती है। फल आदि पकने पर सुगन्ध और सड़ने पर दुर्गन्ध देते हैं। गन्ध तो पदार्थों की और उनकी अवस्था का ज्ञान कराता है। गन्ध; पुद्गल का धर्म है, जीव का नहीं। अतः जीव को अगन्ध–स्वरूप निज शुद्धात्मा के उत्तम संयमधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

चक्षु इन्द्रियरूप असंयम– चक्षु का अर्थ है; देखना। चक्षु इन्द्रिय का विषय वर्णों को देखना है। ये वर्ण पाँच प्रकार के हैं– १. कृष्ण, २. नील, ३. रक्त, ४. पीत, ५. श्वेत। इन पाँच वर्णों को पृथक्–पृथक् या युगपद् अनेक वर्णों को, नृत्य आदि मनोरम दृश्यों को देखने की अभिरुचि; चक्षु इन्द्रियरूप असंयम है। उससे उत्तम संयमधर्म का घात होता है।

चक्षु इन्द्रियरूप असंयम की निवृत्ति और उत्तम संयम धर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए–

वर्ण; पुद्गल का धर्म है। कोई भी वर्ण मनोज्ञ–अमनोज्ञ नहीं होता है। वर्ण की

मनोज्ञ–अमोनज्ञता दर्शक की दृष्टि पर निर्भर है। यथा; कृष्णवर्णी केश मनोज्ञ; किन्तु कृष्णवर्णी मुख अमनोज्ञ प्रतीत होता है। श्वेत दन्त मनोज्ञ; किन्तु श्वेतवर्णी केश अमनोज्ञ प्रतीत होते हैं। अत: वर्णों के प्रति मनोज्ञ–अमनोज्ञता का त्याग कर, जीव को वर्णरहित निज शुद्धात्म–स्वरूप उत्तम संयमधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

कर्णेन्द्रियरूप असंयम– कर्ण इन्द्रिय का विषय ध्वनि श्रवण करना है। ध्वनि; पुद्‌गलों के भेद–सङ्घात से उत्पन्न होती है। यह भाषात्मक और अभाषात्मक होती है। भाषात्मक ध्वनि अ से ज्ञ तक चौसठ वर्णों की और षड्‌ज आदि सात स्वरोंरूप होती है। अभाषात्मक ध्वनि पक्षियों की चहचहाटरूप होती है। भाषात्मक ध्वनियों के संयोजनात्मक और आरोह–अवरोह से श्रवण करने को प्रिय–अप्रिय मानना कर्ण इन्द्रियरूप असंयम है। उससे उत्तम संयमधर्म का घात होता है।

कर्ण इन्द्रियरूप असंयम की निवृत्ति और उत्तम संयमधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

ध्वनि; पुद्‌गल द्रव्य की पर्याय है। भाषात्मक शब्दों के श्रवण से किसी को सुख की तो किसी को दु:खरूप की प्रतीति होती है और किसी को सुख–दु:ख दोनों रूप की ही प्रतीति नहीं होती है। अर्थात् शब्दों का श्रवण किसी को प्रिय तो किसी को अप्रिय और किसी को वे ही शब्द न प्रिय और न अप्रिय लगते हैं। यथा; किसी ने बोला– विनाश हो जाये। यह श्रवणकर अपना विनाश मानना अप्रिय लगता है, शत्रु का विनाश मानना प्रिय लगता है और अन्य किसी को ये ही शब्द न प्रिय लगते हैं, न अप्रिय लगते हैं। अत: हमें शब्दों के श्रवण में शब्दों का ज्ञान करना चाहिए, उनमें राग–द्वेष नहीं। गीत–संगीत, वाद्यों की लयबद्ध सुर–तालरूप ध्वनि न प्रिय है, न अप्रिय होती है। यथा; 'तुम से लागी लगन... पारस प्यारा... हमारा यह भजन मन्दिरों में भक्ति में गाने पर प्रिय/सुखद और अचेतन शरीर को अन्तिम संस्कारार्थ ले जाते समय यही भजन गाना परिवार के सदस्यों को अप्रिय/दु:खद और अन्य उपस्थितजनों को न प्रिय, न अप्रिय लगता है। अत: जीव को मोक्ष एवं मोक्षमार्ग में उपयोगी भाषात्मक दिव्यध्वनि श्रवणपूर्वक भाषा से अवक्तव्य निज उत्तम संयमधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

विभावरूप असंयम– जीव का मोह–राग–द्वेषरूप, सङ्कल्प–विकल्पोंरूप परिणमन करना; विभावरूप असंयम है। विभाव की उत्पत्ति दो प्रकार के कारणों से होती है– १. बाह्य कारण, २. अभ्यन्तर कारण। बाह्य कारण– बाह्य में छह अनायतनों की सेवा करना, कुपात्रों को दान देना, अव्रतरूप प्रवर्तित रहना, अत्यागभाव बना रहना।

अभ्यन्तर कारण– अभ्यन्तर में परिणामों की वैषम्यता, अनुकूल–प्रतिकूल पदार्थों/कार्यों

में राग–द्वेष, अज्ञान, अश्रद्धान आदि। उससे उत्तम संयमधर्म का घात होता है।

दूसरे शब्दों में, मन–वचन–काय से धन सङ्ग्रह करना, कराना और करते हुए की अनुमोदना करना, परिवार/शिष्य एवं प्रियजनों का लालन–पालन करना, उनकी पीढ़ियों तक की व्यवस्था करना, विकथा करने में रुचि रखना, यश–उपार्जन के हेतुभूत कारणों में संलग्न रहना, भोग–निमित्तक पुण्यरूप प्रवर्तन करना आदि से विभावरूप असंयम होता है। उससे उत्तम संयमधर्म का घात होता है।

विभावरूप असंयम की निवृत्ति और उत्तम संयमधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

विभावभाव शुद्ध चैतन्य का धर्मरूप स्वभाव नहीं है। चैतन्य का धर्म शुद्ध ज्ञान–दर्शनमयी है। चैतन्य का परिणमन दो प्रकार का है। बाह्य में द्वादश तपरूप अनुष्ठान, देव पूजा आदि छह कर्म, समता आदि छह आवश्यक, द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन; इनको कारण में कार्य का उपचार कर उत्तम संयमधर्म कहा जाता है। अभ्यन्तर में वीतराग निर्विकल्प साम्यभावों का होना, नित्य निरञ्जन, निर्विकार, विज्ञानघन, चित् चमत्कार, अनादिनिधन शुद्धात्म–स्वरूप ही स्वभाव–भाव है। अत: जीव को निज उत्तम संयमधर्म में जीव को निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

अनेकाग्ररूप असंयम– अनेक+अग्र–अनेकाग्र। अर्थ है– एक निज शुद्धात्मस्वरूप को छोड़कर अन्य अनेक पदार्थों को मुख्य करना अर्थात् वीतराग चैतन्य–स्वरूप निजात्मा में चित्त को स्थिर न रखकर, सांसारिक–शारीरिक विषयों में चित्त को संलग्न रखना। यथा गमनागमन, शयनासन, भोजनपान आदि विविध क्रियाओं में चित्त का भटकना/चित्त का निज शुद्ध स्वरूप में स्थिर न रहना; अनेकाग्ररूप असंयम है। उससे उत्तम संयमधर्म का घात होता है।

अनेकाग्ररूप असंयम की निवृत्ति और उत्तम संयमधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

सर्वज्ञदेव–प्रणीत निज शुद्धात्म–स्वरूप को मुख्य कर, चित्त को उसी में स्थिर करना चाहिए। भिन्न–भिन्न परज्ञेयों में चित्त का भटकने से निज शुद्धात्म–स्वरूप में स्थिरता नहीं हो पाती है। अत: जीव को सर्व प्रकार के अन्य ध्येयों से चित्त को हटाकर, निज शुद्धात्म–स्वरूप में स्थिरतारूप अनुष्ठानपूर्वक निज उत्तम संयमधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

उत्तम संयमधर्म का स्वरूप समझकर सभी आत्माएँ उत्तम संयमधर्म–स्वभावी निजात्मा में निमग्न रहें ऐसी मेरी मङ्गल भावना है।

उत्तम तपधर्म

मङ्गलाचरण

बाह्य–अभ्यन्तर तपों से, कर्मकलङ्क जल जाय।
स्व उत्तम तपधर्म से, शुचि गुण–पर्यय पाय।।

आत्मा का, उत्तम क्षमा–मार्दव–आर्जव–शौच–सत्य–संयमधर्म के समान एक लक्षण उत्तम तपधर्म भी है।

सांसारिक एवं शारीरिक समस्त इच्छाओं के निरोधपूर्वक कर्ममल को दग्धकारक शुद्ध निजात्म–परिणाम; उत्तम तप है। उससे प्रकट शुद्धात्मस्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

'उत्तम' शब्द का अर्थ है– सम्यग्दर्शन–सहित, प्रशंसनीय। 'तप' शब्द का अर्थ है– तपस्या, संतृप्तता, चमकना आदि। 'धर्म' का अर्थ है– जो आत्मा को उत्तम सुख/अतीन्द्रिय सुख में स्थापित करे। अत: जीव और कर्मों की एकत्वरूप मलिन अवस्था को सम्यग्दर्शन–सहित तपस्या के द्वारा कर्ममलों को दग्धकर आत्मा को उज्ज्वल करे और उसमें ही संतृप्त रखे वह उत्तम तपधर्म है। उससे निष्कर्म–शुद्धात्म–सुखरस की प्रकटता; उत्तम तपधर्म है। उत्तम तप कारण है और उत्तम तपधर्म कार्य है। कारण में कार्य का उपचार कर, उत्तम तप को ही उत्तम तपधर्म निरूपण किया जाता है। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है, सम्यग्ज्ञान कारण है और सम्यक्चारित्र कार्य है उसी प्रकार उत्तम तप कारण है और उत्तम तपधर्म कार्य है।

उत्तम तप– अनादि कर्मबन्ध की सन्तति और विषय–कषाय के विकारों को नष्ट करने के लिए तथा स्वयं में प्रकट साम्यता की वृद्धि एवं रक्षणार्थ किया गया धार्मिक अनुष्ठान; उत्तम तप है। उससे प्रकट निष्कर्म अतीन्द्रिय सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

उत्तम तप; कर्म–क्षयार्थ, कर्म–दहनार्थ किया जाता है।[१] सम्यग्दर्शन–ज्ञानपूर्वक कर्ममल को विलय/धोने को जो तपा जाता है, वह उत्तम तप है।[२] विषय–कषायों के निरोधपूर्वक स्व शुद्धात्म–स्वरूप में विश्रामपूर्वक निज चैतन्य परमात्मा में प्रतपन करना; तप है।[३] अर्थात् प्रताप रूप से स्वात्मा में ठहरना; तप है। बाह्य सहकारी कारणभूत जो अनशन आदि बारह प्रकार का

१. कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तप: ९/६ स.सि. कर्मदहनात् तप:। ९/६ रा.वा.

२. कर्ममलविलयहेतुतोर्बोधदृशा तप्यते तप: प्रोक्तं १/९८ प.प.वि.

३. स्वरूपविश्रान्त–निस्तरङ्ग–चैतन्य–प्रतपनञ्च तप: १४/४६ प्र.सा.ता.वृ.

तप है। उससे तथा निश्चय कर अन्तरङ्ग में सर्व परद्रव्यों की इच्छा के निरोध से स्व परमात्म स्वभाव में प्रतापरूप तिष्ठने से और समस्त विभाव परिणामों पर विजय पाने से आत्मा ही तपश्चरण है।[१] उससे प्रकट स्व शुद्धात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

उत्तम तप सूर्य की भाँति है। सूर्य स्वयं प्रकाशमय, पवित्र, विकार–विनाशक और विकार–अनुत्पादक है, वैसे ही तप जाज्वल्यमान, पवित्र, रागादि विकारों का विनाशक और उनका अनुत्पादक है। अथवा तप; अग्नि की भाँति है। अग्नि; स्वयं प्रकाशक, दाहक, पाचक है, वैसे ही तप उज्ज्वल, पवित्र; राग आदि विकार–दाहक– शामक और विकारों का अनुत्पादक है। अग्नि में दाह्यकृत अशुद्धियों का प्रवेश नहीं है। अग्नि; दाह्य (ईंधन) का दहन करती हुई दाह्य की अशुद्धियों से अपवित्र नहीं होती; अपितु पवित्र ही रहती है वैसे ही तप; कर्मों का दहन/क्षय करता हुआ भी कर्म की अशुद्धियों से अपवित्र नहीं होता है, परम पवित्र ही रहता है।

सांसारिक, शारीरिक समस्त इच्छाओं के निरोधपूर्वक सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की सम्पूर्ण एकता प्रकट करने का उद्यम; तप है।

उत्तम तपधर्म का आधार– उत्तम तपधर्म का आधार द्रव्यत्व–दृष्टि है, जैसे वृक्ष का आधार उसकी जड़ है। जड़ जमीन में गहरी और दृढ़ होने पर ही वृक्ष पर उत्तम फल लगते हैं, वैसे ही तप के द्वारा अध्यात्म की सूक्ष्मता और द्रव्यत्व–दृष्टि दृढ़ होने पर आत्मा में कर्म–निरपेक्ष सुखरस के तपरूप आनन्द–स्वरूपी आत्म–गुणमयी अनन्त फल लगते हैं।

जीव की द्रव्यत्व–दृष्टि; मोक्ष का और पर्याय–दृष्टि; संसार का मूल है। द्रव्यत्व–दृष्टि का अर्थ है– आत्मा के सहज कर्म–निरपेक्ष स्वभाव की दृष्टि और पर्याय–दृष्टि का अर्थ है– स्व–परिणामों से प्राप्त पर्याय और रागादि भावों में आत्मीय दृष्टि का होना। द्रव्यत्व–दृष्टिवान् आत्मा का तप; उत्तम तपधर्म प्रकट करता है और पर्याय–दृष्टिवान् का तप; उत्तम तपधर्म का कारण भी नहीं है। यदि उसका तप भोग–वाञ्छा से रहित हो तो सातारूप सुख मिलता है, पर उत्तम तपधर्म–स्वरूप अव्याबाध सुख नहीं मिलता है।

उत्तम तप निश्चय–व्यवहारस्वरूप है। व्यवहार तप की सार्थकता निश्चय तप के साथ है। मात्र व्यवहार तप उत्तम तपधर्म को प्रकट नहीं करता है। व्यवहार तप कर तपने से कर्मों की निर्जरा नहीं होती है और न ही उत्तम तपधर्म–स्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है। यदि व्यवहार तप जिनागमानुसार हो तो स्वर्ग–सिद्धियाँ अवश्य हो सकती हैं।

---

१. प.प्र.टी. ९३

उत्तम तपधर्म का प्रारम्भ– उत्तम तपधर्म का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन–ज्ञानपूर्वक स्व शुद्धात्म–स्वरूप में एकत्व और रागादि विकारी भावों से अन्यत्व की प्रखर भावना से होता है। अत: उत्तम तपधर्म–स्वरूप सुख की प्रकटता के लिए किया गया विधिवत् अनुष्ठान; उत्तम तप है। उत्तम तप एवं उत्तम तपधर्म प्रकट करने के योग्य पात्र शाश्वत आत्मसुख की अभिलाषी भव्य आत्माएँ हैं।

१. जो जीव समग्यदर्शन–सहित उत्तम तपधर्म स्वरूप आत्म–सुख की भावना से जो धार्मिक अनुष्ठान करता है वह; उत्तम तप है। उससे प्रकट आत्मानुभूतिमयी आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।
२. सम्यग्दर्शन–सहित पाँचों पापों से विरक्तिरूप व्रतचर्या करना; उत्तम तप है। उससे प्रकट आत्मधर्म–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।
३. आत्मा में मोह–क्षोभ–विहीन भावों की उत्पत्ति, रक्षा, वृद्धि के हेतु किया गया आत्म–अनुष्ठान उत्तम तप है। उससे प्रकट वीतराग, साम्यभाव–स्वरूप निज आत्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।
४. प्रमादरहित शक्त्यानुसार आत्म–शोधन की प्रक्रिया; उत्तम तप है। उससे प्रकट अप्रमत्त–स्वरूप आत्मानुभूतिमयी सुखरस; उत्तम तपधर्म है।
५. जीव की कर्मदशा से विरक्तिपूर्वक निष्कर्म अवस्था की प्राप्ति हेतु धार्मिक आत्मक्रिया–रूप प्रवर्तन करना; उत्तम तप है। उससे प्रकट कर्म–निरपेक्ष निज शुद्धात्मा का आनन्द स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।
६. कर्म–क्षयार्थ किया गया स्वात्म–चिन्तवनरूप अनुष्ठान; उत्तम तप है। उससे प्रकट क्षायिक सुखानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।
७. कर्मों को दहन करने के लिए आत्मध्यानरूप–अग्नि को प्रचण्ड करना; उत्तम तप है। उससे प्रकट शुद्ध सारस्वरूप, परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।
८. कर्ममल से मलिन आत्मा को भेद विज्ञान के जल से निर्मल करने का पुरुषार्थ करना; उत्तम तप है। उससे प्रकट अमल आत्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।
९. परम शुद्धस्वभावी निजात्मा में निर्विकल्प स्थिर रहना; उत्तम तप है। उससे प्रकट शुद्ध परमानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।
१०. लौकिक/बाह्य षट्कारक व्यवस्था–रहित, अभ्यन्तर षट्कारक व्यवस्थारूप प्रवर्तन; उत्तम तप है। उससे प्रकट अकारक–स्वरूप निर्विकल्प परम सुखानुभूति–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

११. समस्त सङ्कल्प–विकल्पों से मुक्त निज शुद्धात्म–स्वरूप में गुप्त रहना उत्तम तप है। उससे प्रकट निर्विकल्प, वीतराग परम आत्मस्वभाव में निमग्नता का परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

१२. लौकिक–अलौकिक समस्त वाञ्छाओं का निरोध; उत्तम तप है। उससे प्रकट निर्वाञ्छक/अवाञ्छक निजात्मा का परम आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

१३. विषय–कषायों के निग्रहपूर्वक शुद्धात्म–स्वभाव की प्रवृत्ति; उत्तम तप है। उससे प्रकट आत्मलीनता का परम सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

१४. आत्मा को ध्यानाग्नि में शोधनार्थ तपानेरूप प्रवर्तन; उत्तम तप है। उससे प्रकट निरञ्जन परिपूर्ण शुद्ध परम आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

१५. समस्त रागादि विकारों के परित्यागपूर्वक वीतराग निर्विकार निजात्म–स्वरूप में लीनता; उत्तम तप है। उससे प्रकट अविकारी शुद्ध परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

१६. उपयोग का स्व–स्वरूप में लौट आने का पुरुषार्थ करना; उत्तम तप है। उससे प्रकट स्व–शुद्धात्मा का परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

१७. आत्मवीर्य का उपयोग आत्महितार्थ करना; उत्तम तप है। उससे प्रकट अविनश्वर अनन्त आत्म–सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

१८. सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की अभेद आराधना; उत्तम तप है। उससे प्रकट अनन्त चतुष्टयमयी निज शुद्धात्मा का आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

१९. अविरल शुद्ध स्व–स्वरूप के मनन–चिन्तवन से परभावों का मल–कलङ्क धुलना; उत्तम तप है। उससे प्रकट अमल–स्वरूपी निज शुद्धात्मा का आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

२०. निजात्म–शुद्धि का उपाय; उत्तम तप है। उससे प्रकट उपेय— निज शुद्धस्वरूप का परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

२१. निज शुद्धात्म–स्वरूप में उपयोग की स्थिरता बनी रहना; उत्तम तप है। उससे प्रकट शुद्ध परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

२२. अनुकूल–प्रतिकूल भावों की अनुत्पत्ति; उत्तम तप है। उससे प्रकट साम्यभाव–स्वरूप परम सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

२३. निज शुद्धात्मा का प्रचण्ड तेज; उत्तम तप है। उससे प्रकट स्व–पर प्रकाशक ज्ञानानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

उत्तम तपधर्म के विभिन्न प्रकार

सविवेक उत्तम तपधर्म– सम्यग्दर्शन–ज्ञानपूर्वक निर्वाञ्छक वृत्ति–प्रवृत्ति से किया गया तप; उत्तमतप है। उससे नित्य, निरञ्जन, निर्विकार, विज्ञानघन, चित्–चमत्कार, अनादिनिधन, निष्कषाय, निर्मल, निज शुद्धात्म की अनुभूति का परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है। जो कि निर्वाण का कारण और मुक्त–स्वरूप है।

आत्म–वीर्यानुसार उत्तम तपधर्म– उत्तम तपधर्म का प्रकटपना एवं प्रतपन–स्वरूप सुखरस; आत्मा के वीर्य की सामर्थ्यानुसार होता है। आत्मवीर्य का सामर्थ्य; वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से एकदेश और क्षय से सर्वदेश प्रकट होता है। अत: आत्मबल और कायबल का विचार कर एवं द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव का ज्ञान कर, शक्त्यानुसार तप करना; उत्तम तप है। उससे प्रकट अनन्त दर्शन–ज्ञान–सुख–वीर्यमयी निजात्मा का आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

अहिंसामयी उत्तम तपधर्म– जिनागम में निश्चय से रागादि की उत्पत्ति को हिंसा और अनुत्पत्ति को अहिंसा प्ररूपित किया है।[१] अहिंसा; स्वतन्त्र और स्वाधीन वृत्ति है। अथवा प्रमाद के योग से प्राणों का व्यपरोपण करना हिंसा और अप्रमत्त–अयोग से निश्चय प्राणों का संरक्षण करना; अहिंसा है। अहिंसा परम तप है। अर्थात् अहिंसा शुद्धोपयोग का अपर नाम है। जो कि निज शुद्धात्म–स्वरूप की वृद्धि की पूर्णता एवं उसकी रक्षार्थ है। अहिंसा सर्व तपों में परम तप है और परम धर्म है। अहिंसा–व्रतरूप आचरण करना; उत्तम तप है। उससे प्रकट वीतराग अहिंसामयी परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

निर्ग्रन्थतारूप उत्तम तपधर्म– बाह्य–अभ्यन्तर समस्त पर–द्रव्य और उनके प्रति होने वाले रागादि भावों से निवृत्ति; निर्ग्रन्थता है। निर्ग्रन्थ भावों की अविरल वृद्धि; निर्ग्रन्थरूप उत्तम तप है। उससे प्रकट सम्पूर्ण निर्ग्रन्थ–स्वरूप निज शुद्धात्मानुभूतिपरक परम निर्ग्रन्थतारूप परम सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

निर्ग्रन्थता बाह्य–अभ्यन्तर या निश्चय–व्यवहाररूप; दो प्रकार की है। ग्रन्थ का अर्थ गाँठ/परिग्रह है/या गाँठ का एक अर्थ है– जो संसार वृक्ष को उत्पन्न करे। बाह्य गाँठ; क्षेत्र आदि दश प्रकार की है और अभ्यन्तर गाँठ; मिथ्यात्व आदि चौदह प्रकार की है। इन चौबीस

१.पु.सि.उ. ४४ स.सि. ७/२२ त.सू. ७/२२।

प्रकार की गाँठों/परिग्रहों का निरोध करना बाह्य–अभ्यन्तर निर्ग्रन्थता; उत्तम तप है। उससे प्रकट निष्कर्म निसङ्ग–स्वरूप निज शुद्धात्मा की अनुभूतिमयी परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

वाञ्छानिरोधरूप उत्तम तपधर्म– रत्नत्रय की एकरूपता/पूर्णता प्रकट करने के लिए समस्त इष्ट विषयों एवं विषयभूत पदार्थों के पाने की वाञ्छा का निरोध करना; उत्तम तप है। उससे प्रकट निर्वाञ्छक सहज शुद्ध चैतन्यमयी निज परमात्मा की सहज अनुभूतिरूप परम सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

दूसरे शब्दों में, समस्त प्रकार की बाह्य–अभ्यन्तर इच्छाओं का निरोध; उत्तम तप है।[१] इच्छा किसी भी प्रकार की हो, वह संसार का ही कारण है। इसीलिए आगम में मोक्ष–प्राप्ति की इच्छा करने का भी निषेध किया है।[२] जो पुरुष साम्यभावों से इस लोक–परलोक के इन्द्रिय–सुखों की इच्छा से रहित होकर शक्त्यानुसार मोक्षमार्ग के अनुरूप प्रवर्तन करता है, उसे इच्छा–निरोधरूप उत्तम तप है। उससे प्रकट अनैच्छिक, सहज, स्वाभाविक अतीन्द्रिय आत्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

सुख–स्वरूप उत्तम तपधर्म– उत्तम तप; सर्व दुःखों का नाश कर, सर्व सुखों को प्रकट करता है। अर्थात् उत्तम तप जीव को इन्द्रियज काम–भोगरूप दुःखों से बचा कर, अतीन्द्रिय निजात्म सुख में निमग्न रखता है। उत्तम तप से जीव सर्व अनुकूलताओं के प्रति उदासीन और प्रतिकूलताओं के प्रति अखेद भाव रखता है। उससे प्रकट पर–निरपेक्ष, स्व–सापेक्ष निज शुद्धात्मा का परम आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

उत्तम तपधर्म की महिमा– निर्ग्रन्थ गुरुओं की परम्परा के अनुसार तपश्चरण करने से संसार–शरीर सम्बन्धी विषय–भोगों से विरक्ति; निधत्ति, निकाचित कर्मों का क्षणभर में क्षय, अशुभ कर्मों का अति मन्द उदय, आस्रवों का निरोध, सभी अर्थों की सिद्धि, अनेक ऋद्धियों की प्राप्ति, शुद्धि की वृद्धि, निज शुद्ध–स्वरूप में अचलता, अनन्त चतुष्टय–स्वरूप परम पद की प्राप्ति और निर्वाण की सिद्धि होती है। तपधर्मी की चरणरज से वह स्थान पवित्र तीर्थ कहलाता है।

उत्तम तपधर्म प्रकटता के कारणभूत उत्तम तप– उत्तम तपधर्म की प्रकटता के कारणभूत तप बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार के हैं। बाह्य तप शारीरिक क्रिया/प्रवृत्ति–प्रधान

१. इच्छा निरोधस् तपः।। स.सि. ७/२२।।

२. मोक्षेऽपि यस्य नाकाङ्क्षा स मोक्षमधि–गच्छति।। स्व.स्तो.

है। उसके छह भेद हैं– १. अनशन, २. अवमौदर्य, ३. वृत्ति परिसंख्यान, ४. रस परित्याग, ५. विविक्तशय्यासन, ६. कायक्लेश। अभ्यन्तर तप परिणाम–प्रधान है। उसके छह भेद हैं– १. प्रायश्चित्त, २. विनय, ३. वैयावृत्य, ४. स्वाध्याय, ५. व्युत्सर्ग, ६. ध्यान।

अनशन कारणरूप उत्तम तपधर्म– अनशन का अर्थ है– किसी विशेष सङ्कल्प के साथ चारों प्रकार के आहार का त्याग करना। अर्थात् चेतन–वृत्तियों को आहार आदि ग्रहण करने के विकल्पों से मुक्त कर, कवलाहार का त्याग करना, आत्मबल की संवृद्धि और साम्यभाव–स्वरूप निजात्मा में निमग्न रहना; अशनत्याग–रूप उत्तम तप है।

दूसरे शब्दों में, अनशन–स्वभावी निजात्मा के आश्रय से समस्त अशन ग्रहण करने के विकल्पों के अभाव से वीतराग निर्विकल्प निजात्मा की अनुभूति होती है, वह उत्तम अनशनरूप उत्तम तपधर्म है। अर्थात् अनशन–स्वभावी निजात्मा का सदाकाल पौद्गलिक कवलाहार की आशा–तृष्णा से रहित हो आत्मीक आहार ग्रहण करना; उत्तम अनशन तप है।[१] उससे आत्म–स्थिरता की सिद्धि, राग का उच्छेद, कर्मों का क्षय, शुद्ध आत्मध्यान और सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है।[२] उससे प्रकट सिद्धों के समान अनशन–स्वरूप निज परमात्मा का परमानन्द –स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

उत्तम अनशन; तप बाह्य–अभ्यन्तर शक्ति–प्रमाण किया जाता है। शक्ति को छिपाकर करने से आगम पर अश्रद्धा और शक्ति से अधिक करने से लौकिक इष्ट फल की वाञ्छा का दोष लगता है।

अब यहाँ उत्तम तपधर्म और तपधर्म–घातक अतप का स्वरूप, भेदों और शमन के उपायों पर विचार किया जाता है।

अशन–सेवन से तपधर्म का घात– चारों प्रकार के अशन (कवलाहार) का नौ कोटि में से किसी एक कोटि से अशन का सेवन करने से अनशनरूप तप का घात होता है। अर्थात् क्षुधा से पीड़ित होने पर आहार की अभिलाषा से पारणा करने–कराने का विकल्प होना कि किसके घर होगा और कौन करायेगा, इष्ट आहार–ग्रहण की इच्छा से मन्त्र–साधना करना, सांसारिक–शारीरिक विषय–भोगों के पोषक वृष्येष्ट रस–सेवन करने की इच्छा से अनशन तपधर्म का घात होता है।

अनशनतपधर्म के घात की निवृत्ति और उत्तम तपधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

---

१. प्र.सा.त.प्र. २२७। २. स.सि. ३/१९।

जीव अनशन–स्वभावी भगवान्–आत्मा है। अशन–सेवन करना जीव का स्वभाव नहीं है। अशन–सेवन करने से जीवन–मरण का सम्बन्ध नहीं है। देवों के कण्ठ से अमृत झरता है, मनुष्य–तिर्यञ्च भोजन करते हुए भी मरण को प्राप्त हो जाते हैं। सिद्ध परमेष्ठी भोजन करते ही नहीं फिर भी अमर हैं।[१]

अत: जीव को अनशन स्वभावी निज उत्तम तप धर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

अवमौदर्यरूप उत्तम तपधर्म– जिस व्यक्ति को क्षुधा शमन करने के लिए जितना आहार आवश्यक है, उससे न्यून आहार ग्रहण का अभिग्रह/प्रतिज्ञा करना[२] और वृष्येष्ट आहार का त्याग करना; उत्तम अवमौदर्य तप है। यह तप वह व्यक्ति करता है, जो अनशन तप करने में असमर्थ है, पित्त–प्रकोप आदि व्याधि से पीड़ित है। वह जिनश्रुत के अभ्यास से सुखपूर्वक दोषों का प्रशमन, संयम की वृद्धि और संतोषरूप वृत्ति–प्रवृत्ति करता है, जो उत्तम तप है।[३] उससे प्रकट अनाहार–स्वरूप अतीन्द्रिय सुखरस; उत्तम तपधर्म है। अत: जीव को अवमौदर्य स्वरूप निज उत्तम तपधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

अवमौदर्य तप–घातक अशन– सरस आहार करने की इच्छा होना, सरस आहार ग्रहण के निमित्त छह काय के जीवों की विराधना; मन–वचन–काय से या किसी एक योग से भी करना, अवमौदर्य की उपेक्षा करना, कष्ट का अनुभव होना, सन्ताप लगना, आगे से न करने का भाव करने से उत्तम अवमौदर्य तप का घात होता है।

अवमौदर्य तप–घातक अशन की निवृत्ति और उत्तम तपधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीव को तो अनशन तप करना ही उत्तम है; किन्तु शारीरिक अक्षमता के कारण नहीं कर पा रहा है। अवमौदर्य तप में जो अल्प आहार लिया जाता है, वह भी उत्तम तप के दोषों के प्रशमन, शुद्धि की वृद्धि, निज शुद्धात्म स्वभाव में स्थिर रहने और उत्तम तपधर्म की अनुभूति की वृद्धि के लिए लिया जाता है। अत: जीव को अवमौदर्य–स्वरूप तपधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

वृत्तिपरिसंख्यान तपरूप उत्तम तपधर्म– (वृत्ति + परिसंख्यान) वृत्ति का अर्थ है– भोजन, भाजन (बर्तन), घर–बार (मोहल्ला) और दातार। परिसंख्यान का अर्थ है– वृत्ति की संख्यात्मक सीमा करना। अर्थात् वृत्ति के कारण परिमाण का नियन्त्रण किया जाता है।[४] आहार

१. मैं समझ रहा था अब तक प्रभु, भोजन से जीवन चलता है। भोजन बिन नरकों में जीवन, भरपेट मनुज क्यों मरता है।। तुम भोजन बिन अक्षय सुखमय, यह समझ त्यागने हूँ आया। होकर निराश सब जग–भर से अब सिद्ध शरण में मैं आया।।सि.पू.। २. ध. १३/५। ३. स.सि. ९/१९। ४. ध. १३/१५

करने के लिए रसों की संख्या, आहार चर्यार्थ जाने को घर, सड़क, मोहल्लों की संख्या का सङ्कल्प करना; वृत्ति परिसंख्यान उत्तम तप है। उससे प्रकट वृत्तिपरिसंख्यान निवृत्ति–स्वरूप निज शुद्धात्मा का परमानन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

वृत्तिपरिसंख्यान तप से पुरुष, आहार ग्रहण की आशा–तृष्णा से मुक्त, शरीर से निर्ममत्व हो आहार संज्ञा पर जय प्राप्त करता है। उससे प्रकट अनाहारी–स्वरूप निज शुद्धात्मा का आनन्द स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

वृत्तिअसंख्यान अशन– वृत्तिपरिसंख्यान तप का उल्लङ्घन, अतिक्रमण कर, अनेक प्रकार के सरस भोजन, स्वर्ण–रजत के बर्तनों, अनेक घर–मोहल्लों की सङ्कल्पी संख्या को बढ़ाना, वृत्तिअसंख्यान है। उससे वृत्तिपरिसंख्यानरूप उत्तम तपधर्म का घात होता है।

वृत्ति असंख्यान–अशन की निवृत्ति और वृत्ति परिसंख्यान–रूप उत्तम तपधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

आहार–चर्या न करना श्रेयस्कर है; किन्तु यह शरीर निराहार रह उत्तम तप की साधना करने में अक्षम है। शरीर को उत्तम तपधर्म का साधन जानकर पुरुष को उत्तम तप के योग्य, यथाकाल, निर्दोष, निरन्तराय आहार लेना चाहिए, शरीर के सम्पोषणार्थ नहीं। आहार–ग्रहण करने की विरक्ति ही उत्तम तपधर्म की अनुभूति कराती है। अतः जीव को निज वृत्ति–परिसंख्यान स्वरूप उत्तम तपधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

रसपरित्यागरूप उत्तम तपधर्म– वस्तु के स्वाद को रस कहते हैं। व्यञ्जन की अपेक्षा रस छह है– १. दूध, २. दही, ३. घृत, ४. तेल, ५. गुड़, ६ नमक। स्वाद की अपेक्षा रस पाँच हैं– १. कटु, २. तिक्त, ३. कषैला, ४. मधुर, ५. अम्ल। पदार्थ की अपेक्षा रस पाँच हैं– १. गोरस, २. वनस्पति रस, ३. फल रस, ४. बीज रस, ५. धान्य रस। इन सभी प्रकार के रसों का यथासाध्य एक, दो, तीन, चार, पाँच या छहों रसों का परित्याग करना उत्तम रसपरित्यागरूप उत्तम तप है। उससे प्रकट अध्यात्मरस की अनुभूति–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

दूसरे शब्दों में, संसार–शरीर के दुःखों से संतप्त हो, इन्द्रियों को उद्रेक करने वाले इन छह रसों को विष के समान मानकर, उनके सेवन की लालसा का मन–वचन–काय से परित्याग करना और नीरस आहार ग्रहण करना; रसपरित्यागरूप उत्तम तप है। उससे प्रकट अरस–स्वरूपी निजात्मा का परम सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

उत्तम तप इन्द्रियों का निग्रह, निद्राजय और अरसरूप अध्यात्म–रसमयी निज आत्मानुभूतिरूप सुखरस के लिए किया जाता है।

अत्यागरूप रस–ग्रहण– छह प्रकार के रसों का परित्याग न कर, रसों के सेवन करने में रुचि/आसक्ति का होना, अन्य जनों को सरस आहार कराना, कराने की अनुमति देना, सरस आहार का महिमा–मण्डन करना, अत्यागरूप रसग्रहण है। उससे उत्तम तपधर्म का घात होता है।

अत्यागरूप रसग्रहण की निवृत्ति और उत्तम तपधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए–

रस का आस्वादन जिह्वा के अग्रभाग मात्र पर होता है। कण्ठ से स्वाद आता ही नहीं है। रसना इन्द्रिय का विषय रस का ज्ञान कराना है, आस्वाद लेना नहीं। विरक्त भाव से रस ग्रहण होने पर भी कर्मबन्ध न होकर, पूर्वलब्ध कर्मों की निर्जरा होती है और रसपरित्यागरूप उत्तम तप की वृद्धिपूर्वक उत्तम तपधर्म प्रकट होता है। अतः जीव को रसपरित्यागरूप निज उत्तम तपधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

विविक्त शय्यासनरूप उत्तम तपधर्म– विविक्त का अर्थ है– प्रथक् किया हुआ, निर्जन, पापरहित एकान्त स्थान। शय्या का अर्थ है– बिस्तर, चारपायी आदि। आसन का अर्थ है– बैठने के लिए पाटा, चटाई आदि। शय्या और आसन दोनों ही शारीरिक विश्राम के साधनरूप उपकरण हैं। शारीरिक विश्राम के साधनरूप उपकरण शय्या–आसनों का त्याग कर, निर्जन, निष्पाप, एकान्त स्थान में विवेकपूर्ण निज स्वरूप में स्थित रह विश्राम करना; विविक्त शय्यासनरूप उत्तम तपधर्म है। उससे प्रकट स्वरूप विश्रान्तस्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

अथवा सर्व प्रकार के शय्यासनों के त्यागपूर्वक उपयोग की एकान्तरूप निज शुद्धात्म–स्वरूप में विश्रान्ति, निमग्नता; विविक्त–शय्यासनरूप उत्तम तप है। यहाँ एकान्त का अर्थ है– बाह्य विषयों से निवृत्तिपूर्वक रत्नत्रयमयी निजात्मा का अनुभवन–स्वरूप सुखरस। अर्थात् आत्मानुभव में नयों के विकल्प नहीं होना, निर्विकल्प होना ही एकान्त है। नयों के विकल्प ज्ञान के मञ्च पर होते हैं, चारित्रानुभव के मञ्च पर नहीं।

विविक्तशय्यासनरूप तपघातक शय्यासन– इष्ट नगर, इष्ट स्थान, संसारी जनों के निवास स्थानों में ठहरना। लौकिकजन समूह में रुचि, शारीरिक विश्राम हेतु कोमल शय्या, सुन्दर आसन की प्राप्ति के सङ्कल्प–विकल्पों से विविक्तशय्यासनरूप उत्तम तप का घात

होता है।

इष्ट शय्यासन की निवृत्ति और उत्तम तपधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

शुद्धात्मा की वृत्ति–प्रवृत्ति अलौकिक होती है। उसे इष्ट स्थान, नगर, शय्यासन आदि की आवश्यकता ही नहीं होती है। उसे तो विश्राम के लिए परम स्थान शय्यासन–रहित निर्विकल्प निज शुद्धात्म–स्वरूप है। अत: जीव को निर्विकल्प–शय्यासनरूप निज उत्तम तपधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

शारीरिक विश्राम, पौद्‌गलीक है और चैतन्य का विश्राम निर्विकल्प निजात्म–स्वरूप है। अर्थात् नयों के विकल्पों से श्रमित निज आत्मा को विश्राम करने के लिए नयातीत निज शुद्धात्मा है। उसी में स्थिर रहना ही श्रेयस्कर है और उत्तम तपधर्म है।

कायक्लेशरूप उत्तम तपधर्म– कायक्लेश का अर्थ– शरीर को क्लेश/कष्ट देना नहीं; अपितु शरीर को कष्ट सहन करने के योग्य बनाना है। सांसारिक–शारीरिक समस्त विकल्पों से मुक्त रहकर शरीर को तप–साधना में विधिवत् संलग्न रखना; कायक्लेशरूप उत्तम तप है।

कायक्लेश तप, द्रव्य क्षेत्र–काल भाव के अनुरूप विविध प्रकारसे किया जाता है। यथा– आतापन योग, एकान्तवास, निरावरण शयन, वृक्षमूल/वृक्षकोटर में निवास, नाना प्रकार के प्रतिमास्थान/योगधारण करना।[१] **अयन–शयन–आसन–स्थान–अवग्रह और योगरूप से** किया जाता है। शीत–पित्त–वात आदि से पीड़ित होने पर भी अखेद भाव से तपश्चरण करते रहना; कायक्लेश तप है।[२] उससे प्रकट क्लेशरहित अकाय/अशरीर–स्वरूप निजात्मा का अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

यह तप शारीरिक सुख–विषयक आसक्ति के विनाशार्थ, धर्म–प्रभावनार्थ, देह के उत्सर्ग हेतु और उत्तम तपधर्म की सिद्धि के लिए किया जाता है।

कायक्लेशतप घातक कायसुख– शरीर को शीत–उष्ण और रोगादि से सुरक्षित रखने को प्रवर्तन करना। पीड़ित होने पर, पीड़ा–निवारक पदार्थों के ग्रहण करने की इच्छा रखना। वर्षा से सुरक्षित रहने को छाता आदि प्राप्ति की कामना करना। रोग से पीड़ित होने पर औषध–ग्रहणार्थ याचना करना। शरीर को खुजाना/खुजलाना, मर्दन करना, हरित काय पर गमनागमन करना, विश्राम हेतु कोमल शय्यासन की चाह करना, प्रचण्ड धूप और हवा से

१. स.सि. ९/१९। २. का.अ. ४५०

सङ्क्लेशित हो भवन, छाया आदि पाने की इच्छा करना। उससे उत्तम तपधर्म का घात होता है।

कायसुख की निवृत्ति और उत्तम तपधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

कायसुख के जितने भी उपाय एवं साधन हैं वे सभी पौद्गलीक हैं। पौद्गलीक अनुकूल बाह्य साधन पुद्गल को ही हितकर हो सकते हैं, आत्मा को नहीं। आत्मा तो अकाय/अशरीरी चैतन्यस्वरूप ज्ञानमयी है। अत: जीव को कायक्लेश रहित निज अकायस्वरूपी उत्तम तपधर्म निजात्मा में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

उत्तम तपधर्म की प्रकटता के कारणभूत, परिणाम प्रधान उत्तम तप के छह भेद हैं– १. प्रायश्चित्त, २. विनय, ३. वैयावृत्य, ४. स्वाध्याय, ५. व्युत्सर्ग, ६. ध्यान। प्रत्येक तप के उपभेद भी हैं। प्रायश्चित्त तप के नौ, विनय तप के चार, वैयावृत्य तप के दस, स्वाध्याय तप के पाँच, व्युत्सर्ग तप के दो और ध्यान तप के दो भेद हैं।

प्रायश्चित्तरूप उत्तम तपधर्म– प्रायश्चित्त का अर्थ–दण्ड नहीं, शुद्धिकरण है। अर्थात् प्रमादआदि जन्य दोषों से दूषित चित्त का शुद्धिकरण करना प्रायश्चित्त है।

प्राय: का अर्थ; प्रचुर है और चित्त का अर्थ; मन है। प्रचुररूप से मन का शुद्ध/निर्विकार होना; प्रायश्चित्त है। प्राय: का एक अर्थ लोक है, चित्त का अर्थ मन है। जिसके द्वारा लौकिक/साधर्मीजनों का और सङ्घस्थ जनों का मन अपनी ओर से शुद्ध हो जाये वह उत्तम प्रायश्चित्त तप है।

आत्मा में प्रमादवश प्रतिसमय लगने वाले दोषों की निवृत्ति और निजात्म–शोधनार्थ किया गया परिणाम–विशुद्धिरूप अनुष्ठान; उत्तम प्रायश्चित्त है। उससे प्रकट शुद्ध निजानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम प्रायश्चित्तस्वरूप तपधर्म है।

प्रायश्चित्तरूप तप के उत्तर भेद– १. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. तदुभय, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग ६. तप, ७. छेद, ८. परिहार, ९. उपस्थापन। मूलाचार में आठ भेद तो यथावत हैं; किन्तु उपस्थापन के स्थान पर श्रद्धान और मूल ये दो नाम दिए हैं।

प्रायश्चित्त तप के दोष– दूसरों का भला, उपकार करने से मोक्ष–प्राप्ति मानना, गुरु के समक्ष मायाचारी से दोषों को कहना, दोषों को छिपाना, जिन–आज्ञा से पराङ्मुख रहना, अन्य के प्रायश्चित्त के अनुसार स्वयं प्रायश्चित्त कर लेना, यह प्रायश्चित्त योग्य है या अयोग्य–ऐसा पूछना, अपने से हीन गुणवान् को दोष बतलाकर शुद्धि मानना, भ्रष्ट से प्रायश्चित्त लेना, स्वयं के दोषों को अज्ञान, प्रमाद और कर्मोदय से उत्पन्न मानकर दोषों के

प्रति उपेक्षा/अत्याग भाव होने से प्रायश्चित्तरूप उत्तम तपधर्म का घात होता है।

उत्तम प्रायश्चित्तरूप तप के दोषों की निवृत्ति और उत्तम तपधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए–

निज शुद्धात्म–स्वभाव से च्युत होने पर लगे दोषों का शीघ्र प्रायश्चित्त करना चाहिए। जैसे रोग, शत्रु, धब्बा (दाग) अपराध को शीघ्र दूर करना चाहिए। उनकी उपेक्षा करने से वे गाढ़े हो जाते हैं। विलम्ब से शुद्धि करने पर कठिन साध्य या फिर असाध्य हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा में लगे दोषों का शीघ्र विधि के अनुसार शुद्धिकरण करना ही चाहिए। अत: जीव को शुद्धिपूर्वक निज उत्तम तपधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

विनयतपरूप उत्तम तपधर्म– नम्रता, शिष्टता, उत्तम व्यवहार। निश्चय रत्नत्रयमयी स्वयं की आत्मा में उपयोग की स्थिरतारूप उत्तम व्यवहार; निश्चय विनयतप है। उससे विषय–कषायों की निवृत्ति और द्वादश तपों के प्रति रुचि की वृद्धि होती है। मुनि भगवन्तों की पूजा, विनय करना– मुनि–आर्यिकाओं का परस्पर में यथायोग्य विनय करना; व्यवहार विनय–तप है। उससे उत्तम तपधर्म प्रकट होता है।

निश्चय विनयतप चार प्रकार का है– दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप। **दर्शन विनय–** शङ्का आदि पच्चीस दोषों से रहित तत्त्वार्थों का श्रद्धान करना। **ज्ञान विनय–** बहुमान के साथ मोक्ष प्राप्ति के कारणभूत सम्यग्ज्ञान का अभ्यास करना। **चारित्र विनय–** निज शुद्धात्म–स्वरूप में उत्साह–सहित विचरण करना। **तप विनय–** कर्मों के क्षय करने के लिए निज शुद्धात्म–स्वरूप में गुप्त/सुरक्षित रह विश्राम करना।

व्यवहार विनयतप– रत्नत्रय–सम्पन्न मुनि भगवन्तों के आगमन पर नम्रीभूत होकर खड़े होना, उन्हें प्रणाम करना, उनके पीछे या बायीं ओर रहकर चलना; उनके गुणों का स्मरण, संस्तवन, कीर्तन आदि करना; व्यवहार विनयतप है।[१] व्यवहार विनयतप से ज्ञान का लाभ, आचार की विशुद्धि और सम्यक् आराधना की सिद्धि होती है।[२]

निश्चय–व्यवहार विनयतप से प्रकट परम आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तमतप धर्म है। किसी कवि द्वारा लौकिक में व्यवहार विनय की उत्तमता प्रकट की गई है–

'विनय बिना विद्या नहीं, विद्या बिन नहिं ज्ञान।
ज्ञान बिना सुख न मिले, यह निश्चय कर जान।।'

१. स.सि. ९/२३। २. रा.वा. ९/२३

विनयी शिष्य को गुरु सर्वस्व अर्पण करना चाहता है। विनय से सङ्घ की सेवा एवं साम्यभाव, आत्म–विशुद्धि, आत्मा में पवित्रता की वृद्धि, तीर्थङ्करदेव की आज्ञा का पालन, जगत् में प्रसिद्धि आदि अनेक गुण प्रकट होते हैं। उससे प्रकट उत्तम तपधर्म में विशेष निर्मलता की वृद्धि और स्वात्मा में स्थिरतारूप परमानन्द–रस की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है।

विनयतप–घातक– अविनयी शिष्य का श्रुताभ्यास निष्फल होता है। उसकी तपरूप समस्त क्रियाएँ ऊसर भूमि में पड़े बीज के समान निष्फल होती हैं। उनसे मात्र कर्मों का बन्ध होता है। जो मोक्षमार्गी निर्ग्रन्थ गुरुओं को न मानते हैं, न उनकी उपासना करते हैं, न विनय करते हैं, उन्हें तो सूर्योदय होने पर भी अन्धकार जैसा ही है। उससे विनयतप एवं विनयतप धर्म का घात होता है।

अविनयरूप वृत्ति–प्रवृत्ति की निवृत्ति और विनयरूप उत्तम तपधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार विनयरूप प्रवर्तन करना; उत्तम विनयतप है। आत्म–विशुद्धि के बल से मार्दव–स्वरूप निजात्मानुभव करना, अवसर आते ही निर्ग्रन्थरूप जिनमुद्रा अङ्गीकार करना, उनके साथ रह स्व–शक्त्यानुसार प्रवर्तन एवं आत्म–धर्म की प्रभावना करना, निर्ग्रन्थ गुरुओं की महिमा का संस्तवन एवं कीर्तन[१] करना चाहिए। अत: जीव को विनय–स्वरूप निज उत्तम विनयतपधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

वैयावृत्तिरूप उत्तम तपधर्म– वैयावृत्य का अर्थ है– निर्ग्रन्थ वीतरागी मुनि–भगवन्तों के गुणों का अनुराग सहित संस्तवन करना। उनके शारीरिक श्रम, रोग, पीड़ा, उपसर्ग आदि के निवारणार्थ उनके योग्य जो भी उपाय है, उन्हें करना; वैयावृत्त्य तप है। यथा; हाथ–पैर दबाना, प्रासुक काष्ठ–औषध, आहार, आसन, संथारा आदि की यथोचित व्यवस्था यथाकाल करना। संयम के उपकरण पिच्छिका–कमण्डलु देना। स्वाध्याय के लिए जिन–शास्त्र उपलब्ध करना–कराना। ग्रामान्तर विहार में उनके साथ बायीं ओर चलना; वैयावृत्यतप है।

जिनागम में निर्ग्रन्थ साधु पाँच प्रकार के निरूपित किए गये हैं। १. पुलाक, २. बकुश, ३. कुशील, ४. निर्ग्रन्थ, ५. स्नातक।[२] ये पाँच प्रकार के साधु अपनी आत्मा को निर्वाण प्राप्ति के साधनों में और मूलगुण आदिक तपश्चरणों में स्वयं को जोड़े रखते हुए सर्व जीवों के प्रति समभाव रखते हैं।[३] सांसारिक–शारीरिक भोगों से विरक्त रह अभेद रत्नत्रयधर्म की

१. गुरु की महिमा वरणी न जाय, गुरु नाम जपों मन वचन काय। –दे.शा.गु. पूजा

२. पुलाकवकुशकुशील–निर्ग्रन्थ–स्नातका: निर्ग्रन्था: ९/४

३. निव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो
समा सव्वेसु भूदेसु ते तम्हा सव्वसाधवो।।५१५।।मू.आ.

पूर्णता प्रकट करने का पुरुषार्थ करते रहते हैं। वैयावृत्य के योग्य साधु दश प्रकार के हैं– १. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. तपस्वी, ४. शैक्ष्य, ५. ग्लान, ६. गण, ७. कुल, ८. सङ्घ, ९. साधु, १०. मनोज्ञ।[१] इनकी सेवा करने से/वैयावृत्य करने से लौकिक व्यवहार से विरक्ति, समाधि की सिद्धि, निर्विचिकित्सा, प्रवचन–वात्सल्य की अभिरुचि होती है, वह वैयावृत्यतप है। उससे प्रकट शुद्ध, सिद्ध, परम आत्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम विनय तपधर्म है।

वैयावृत्य–घातक वृत्ति–प्रवृत्ति– वैयावृत्य करने की सामर्थ्य होते हुए भी न करना, श्री जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का पालन न करना, न मानना या भङ्ग करना, जिनश्रुत का लोप करना या विकृत करना, साधु–समागम न करना, मोक्षमार्ग के विरुद्ध लौकिक कार्यों में संलग्न रहना, मोक्षमार्गियों के प्रति उपेक्षा भाव से वैयावृत्य तपधर्म का घात होता है।

वैयावृत्य–घातक वृत्ति–प्रवृत्तियों की निवृत्ति और उत्तम तपधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

साधुओं की वैय्यावृत्ति, उनकी आवश्यकता पर निर्भर है। अत: मोक्षमार्ग में सहायक/उपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति करना; उन्हें शास्त्र, पिच्छि, कमण्डलु प्रदान करना, उपसर्ग–परिषहों से मुक्त रखना, मोक्षमार्ग में निर्विघ्न गमन के साधन बनाये रखना, वीतरागी साधुओं का समागम करना और वीतरागता–पोषक अनुष्ठानों में संलग्न रखना चाहिए। अत: जीव को निज उत्तम वैयावृत्य–तपधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

स्वाध्यायरूप उत्तम तपधर्म– स्वाध्याय का अर्थ है– अपने शुद्ध स्वरूप में आना अर्थात् आलस्य त्याग कर, आत्म–हितकर सम्यग्ज्ञान की आराधना करना; स्वाध्याय है। स्वाध्याय; परम तप है। उससे प्रकट स्वात्म–स्वरूप का परम सुख; उत्तम तपधर्म है। स्वाध्याय के पाँच भेद हैं– १. वाचना, २. पृच्छना, ३. अनुप्रेक्षा, ४. आम्नाय, ५. धर्मोपदेश। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ग्रन्थ में स्वाध्याय करने का क्रम इस प्रकार उल्लिखित है– पहले सच्चा तत्त्वज्ञान हो (द्रव्यानुयोग), पीछे पुण्य–पाप के फलों को जाने (प्रथमानुयोग), शुद्धोपयोग से मोक्ष माने (चरणानुयोग) और गुणस्थान आदि जीव का व्यवहार निरूपण जाने (करणानुयोग),[२] श्री जिनेन्द्रदेव–प्रणीत श्रुत का अभ्यास करने से इन्द्रियों का निग्रह, कषायों पर जय, गुप्तियों का पालन और चित्त की स्थिरता में वृद्धि होती है।

सम्यग्ज्ञान के अष्ट अङ्गों सहित जिनश्रुत का अभ्यास करने से स्वाध्याय तप में निर्मलता की वृद्धि होती है। वाचना–स्वाध्याय से प्रज्ञा में दृढ़ता, पृच्छना स्वाध्याय से संशय का उच्छेद, अनुप्रेक्षा स्वाध्याय से संवेग–वैराग्य की वृद्धि, आम्नाय स्वाध्याय से शुद्ध स्वरूपाचरण और

१. आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसङ्घसाधुमनोज्ञानाम्। ९/२४। २. मो.मा.प्र. ३/३४७

यथार्थ अर्थ का बोध, धर्मोपदेश स्वाध्याय से आत्मस्वरूप का यथार्थ अवभासन, ज्ञान–वैराग्य में वृद्धि और रत्नत्रयमयी निजात्मा में स्थिरता बढ़ती जाती है। उससे प्रकट स्थिर स्व–शुद्धात्मा का परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

स्वाध्याय न करने की प्रवृत्ति– स्वाध्याय न करने की प्रवृत्ति से स्वाध्याय तप में विकृति आ जाती है। द्रव्यानुयोग का स्वाध्याय न करने से निज शुद्धात्मानुभूति में मलिनता आती है। प्रथमानुयोग का स्वाध्याय न करने से उपसर्ग, परिषह आने पर मोक्षमार्ग में गमन करने का साहस टूट जाता है। चरणानुयोग का स्वाध्याय न करने से शुद्धोपयोग को मोक्षमार्ग न मानकर, शुभोपयोग को मोक्षमार्ग मानने की विपरीतता आती है। करणानुयोग का स्वाध्याय न करने से गुणस्थान आदि जीव की पर्यायरूपता समझ में नहीं आती है। जीव प्राप्त पर्याय को ही निज स्वरूप मानने लगता है।

वाचना–स्वाध्याय न करने से प्रज्ञा की क्षीणता, **पृच्छना–स्वाध्याय** न करने से शंकाएँ बनी रहती हैं। **अनुप्रेक्षा–स्वाध्याय** न करने से संसार–शरीर के विषय–भोगों में रुचि बढ़ जाती है। **आम्नाय–स्वाध्याय** न करने से पाठों का अशुद्ध उच्चारण होता है, उससे तत्त्वार्थों का यथार्थ बोध नहीं होता है। **धर्मोपदेश– स्वाध्याय** न करने से वीतरागता में अरुचि और रागभाव में रुचि बढ़ जाती है।

स्वाध्याय के अभाव/न करने की प्रवृत्ति की निवृत्ति और स्वाध्यायरूप उत्तम तपधर्म की प्रवृत्ति के लिऐ सदैव विचार करना चाहिए–

पाँच प्रकार का स्वाध्याय योग्य काल में ही करना, अयोग्य काल में नहीं। जिनागम का स्वाध्याय करने से सम्यग्ज्ञान होता है। उससे स्व–पर द्रव्यों का यथार्थ बोध होता है। मोक्ष एवं मोक्षमार्ग के स्वरूप समझने में विकलता नहीं आती है। भव, तन सम्बन्धी भोगों के प्रति विरक्ति, वीतरागता की वृद्धि, शुद्धोपयोग–स्वरूप निजात्मा में स्थिरता बढ़ती जाती है। अतः जीव को स्वाध्याय परम तप से स्वाध्याय–स्वरूप निज उत्तम तपधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

व्युत्सर्गरूप उत्तम तपधर्म– व्युत्सर्ग का अर्थ– मल का त्याग है। रागादिक मलिन भावों का त्याग करना; व्युत्सर्ग तप है। जैसे शारीरिक बाह्य–अभ्यन्तर मलों का यथाकाल त्याग करने से शरीर स्वस्थ रहता है, वैसे ही बाह्य में चेतन–अचेतन पदार्थों और अभ्यन्तर में राग–द्वेष–कषायरूप मलों का त्याग करने से आत्मा स्वस्थ रहता है। उससे प्रकट स्व–शुद्धास्वरूप निर्विकार, निर्मल, स्वस्थ, निजात्मानुभूति–सुखरस; व्युत्सर्गरूप उत्तम तपधर्म है।

दूसरे शब्दों में, काय आदि समस्त पर–द्रव्यों से हित–बुद्धि को छोड़कर/त्याग कर, निज शुद्धात्म स्वरूप का ध्यान करना; व्युत्सर्ग तप है।[१] उससे प्रकट स्वात्मानुभवन सुखरस, उत्तम तपधर्म है।

सर्वजनों की काय सम्बन्धी अनेक क्रियाएँ होती हैं। उनमें जो क्रियाएँ– दैवसिक, रात्रिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक, वार्षिक दोषों के परिहारार्थ की जाती हैं; वह व्युत्सर्ग तप है। शरीर आदि पर–द्रव्य एवं रागादि परभावों में अहंकार, ममकार का त्यागकर; ईर्यापथ, शय्या, आसन, निषद्या, लघु–दीर्घ शङ्का आदि में लगे दोषों का, ग्रन्थ वाचन के प्रारम्भ–समापन, वन्दना में प्रमादज दोषों के परिहारार्थ कायोत्सर्ग/व्युत्सर्ग कर, मन–वचन–काय की एकता से चित्त को निज शुद्धात्म–स्वरूप में स्थिर करना; व्युत्सर्गतप है। उससे प्रकट निर्दोष निर्विकार अतीन्द्रिय परमानन्द–स्वरूप सुखरस; व्युत्सर्गरूप उत्तम तपधर्म है।

व्युत्सर्गघातक भाव– शरीर और शरीर–सम्बन्धी जनों के प्रति राग एवं जीवित रहने की आशा करना, प्रतिकूलता से भय एवं मरण का भय लगना, वन्दना आदि कृतिकर्मों में अनुत्साह रहना, विधिवत् न करना, चित्त को चञ्चल रखना, लौकिक कार्यों में हित–बुद्धि रखने से व्युत्सर्गरूप उत्तम तपधर्म का घात होता है।

व्युत्सर्गघातक भाव की निवृत्ति और उत्तम तपधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

आत्मा; शरीर, मन, वाणी सम्बन्धी समस्त क्रियाओं से भिन्न निष्क्रिय चैतन्य तत्त्व है। जन्म–जरा, मरण, विकार, विनाश, भय आदि से भिन्न तत्त्व है। ऐसे विचारों से उत्तम तपधर्म में निर्मलता की वृद्धि होती है। अत: जीव को व्युत्सर्ग–स्वरूप निज उत्तम तपधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

ध्यानरूप उत्तम तपधर्म– ध्यान का अर्थ है– चित्त की स्वरूप में एकाग्रता। बाह्य इन्द्रियों के बिना केवल मन से आत्म–स्वरूप का चिन्तवन करना; ध्यान है। अर्थात् अपनी चित्तवृत्ति को बाह्य पदार्थों से हटाकर अंत:करण में निज शुद्धात्मा के स्वरूप का चिन्तवन करना; ध्यानरूप उत्तम तप है। उससे प्रकट शुद्ध निजानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म है।

ध्यानतप के शुक्लध्यान और धर्म्य ध्यान; ये दो भेद हैं। शुक्लध्यान तो पूर्णत: उत्तम तपधर्मरूप है और धर्म्यध्यान चित्त के विक्षेपरूप की निवृत्ति से किया जाता है। उसके चार भेद हैं– १. आज्ञाविचय, २. अपाय/अपायविचय, ३. विपाकविचय, ४. संस्थानविचय।

१. कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहत्तु अप्पाणं। तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्वि अप्पेण।। १२१ ।। नि.सा.

आज्ञाविचयरूप उत्तम तपधर्म– तत्त्व के ज्ञाता उपदेशक का अभाव, मन्द बुद्धि, गहन पदार्थ के यथार्थ निर्णयार्थ हेतु दृष्टान्त के न होने से सर्वज्ञदेव–प्रणीत आगम को प्रमाण मानकर, श्रद्धान करना कि गहन पदार्थ ऐसा ही है। अथवा स्वयं गहन पदार्थों का आगमानुसार निर्णय कर, दूसरों को समझाने के लिए युक्ति, दृष्टान्त आदि का विचार करना; आज्ञा विचयरूप धर्म्यध्यान है। उससे प्रकट तत्त्वज्ञान की अपूर्व शान्तिस्वरूप आनन्द–स्वरूप सुखरस; आज्ञाविचयरूप उत्तम तपधर्म है।

उपाय/अपायविचयरूप उत्तम तपधर्म– भव्य जीवों का मोक्ष प्राप्ति हेतु रत्नत्रय की एकतामयी मोक्षमार्ग में गमन करना; उपायविचय धर्म्यध्यान है। जीवों को कुमार्ग में गमन करने से रोकना, उनके दु:ख दूर करना; अपायविचय–रूप धर्म्यध्यान है। उससे प्रकट उपाय–अपायरूप परम सुखरस उपाय/अपायरूप उत्तम तपधर्म है।

विपाकविचयरूप उत्तम तपधर्म– जीवों को कर्मों के विपाकानुसार द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव निमित्तक फलों को निज शुद्धात्म–स्वरूप से भिन्न विचार करना; विपाक विचयरूप धर्म्य ध्यान है। उससे प्रकट निष्कर्म–स्वरूप निजात्मानुभूति; विपाकविचयरूप उत्तम तपधर्म है।

संस्थानविचयरूप उत्तम तपधर्म– लोक के आकार एवं आत्मा के आकार–स्वभाव का चिन्तवन/विचार करना; संस्थान–विचयरूप धर्म्यध्यान है। उससे प्रकट गुणस्थान के अनुरूप सिद्ध–सादृश्य परम आनन्दमयी सुखरस; संस्थान–विचयरूप उत्तम तपधर्म है।

ध्यानतप–घातक प्रवृत्तियाँ– बाह्य विषयों में चित्त का लगना, तत्त्वार्थों का चिन्तन–मनन न करना, मोक्षमार्ग के प्रति उपेक्षा रखना, कर्म–कर्मफलों का स्वरूप न समझना, पर–द्रव्यों के प्रति इष्ट–अनिष्ट कल्पना करना, बन्धकारक प्रवृत्तियों में रुचि होना, रागादि भावों को मोक्ष का कारण मानने से उत्तम तपधर्म का घात होता है।

ध्यानतप–घातक प्रवृत्तियों की निवृत्ति और उत्तम तपधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

इन्द्रियों के विषय–भोग आत्मा के अहितकर हैं। सर्वज्ञदेव–प्रणीत तत्त्वार्थों का स्वरूप समझकर, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रमयी निज शुद्धात्मा में एकाग्रतापूर्वक रमना ही मुक्ति/आनन्द का उपाय है। कर्मों का आत्मा के साथ निश्चय–दृष्टि से सम्बन्ध नहीं है। आत्मा का स्वरूप नित्य, निरञ्जन, निराकार, निर्विकार, विज्ञानघन है। अत: जीव को निज शुद्ध स्वभाव में रमणरूप परम आनन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम तपधर्म ही श्रेयस्कर है।

उत्तम तपधर्म का स्वरूप समझकर सभी आत्माएँ उत्तम तपधर्म–स्वभावी निजात्मा में निमग्न रहें, ऐसी मेरी मङ्गल भावना है।

उत्तम त्यागधर्म

मङ्गलाचरण

रागद्वेष–मल त्याग से, अमल चेतना होय।
स्व उत्तम त्यागधर्म से, शुद्ध आत्मसुख होय।।

आत्मा का उत्तम क्षमा–मार्दव–आर्जव–शौच– सत्य–संयम–तप के समान एक लक्षण– उत्तम त्यागधर्म है। त्याग का शाब्दिक अर्थ है– विरक्ति, छोड़ना, दान करना, भेंट देना। वस्तु का हेय–उपादेय स्वरूप समझकर हेयरूप का त्याग करना। अर्थात् स्व–शुद्धात्म–स्वरूप के आश्रय से राग–द्वेष आदि समस्त विकारी भावों का परित्याग करना; उत्तम त्याग है। अर्थात् परभावों से निवृत्त होना; उत्तम त्याग है। त्याग के साथ उत्तम विशेषण सम्यग्दर्शन का सूचक है तथा दुष्ट–प्रयोजन के परित्याग के लिए किया गया है।[१] अर्थात् ख्याति, लाभ, पूजा आदि चाह की निवृत्ति के लिए उत्तम त्याग के साथ उत्तम विशेषण दिया गया है।[२]

मोक्षमार्ग में त्यागधर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुनि भगवन्तों को तो सर्व विभाव–भाव रहित उत्तम त्यागधर्म की मुख्यता है और श्रावकों को उत्तम पात्रों के लिए चार प्रकार का दान करने/देने से लोभ कषाय की निवृत्तिरूप त्यागधर्म की मुख्यता है।

त्याग दो प्रकार का है– बाह्य उपाधि का त्याग और अभ्यन्तर उपाधि का त्याग।[३] अभ्यन्तर उपाधि का त्याग दो प्रकार का है– उत्सर्गरूप निवृत्ति और अपवादरूप निवृत्ति। उत्सर्गरूप निवृत्ति; कृतकारित–अनुमोदनारूप, मन–वचन–काय; ये नौ प्रकार की है अथवा जीवनपर्यन्त का त्याग करना। अपवादरूप निवृत्ति– नियतकाल त्यागरूप अनेक प्रकार की है। पुरुष को स्व–शक्ति प्रमाण अवश्य करना चाहिए।[४]

श्रावक को दान देनेरूप त्यागधर्म है। मुनियों को आहारदान देना, संयत के योग्य ज्ञानादि के कारणभूत शास्त्र, प्रतिलेखनार्थ पिच्छि, बाह्य शुद्धि के हेतु कमण्डलु भेंट करना, जिनाज्ञा–प्रमाण शास्त्र–वाचन करना, धर्मोपदेश देना,[५] उत्तम त्याग है। उससे उत्तम त्यागधर्म प्रकट होता है।

---

१. दुष्टप्रयोजन–परिवर्जनार्थ–मुत्तमविशेषणम्।।९/६ त.सू.टी.
३. उत्तमग्रहणं ख्यातिपूजादिनिवृत्त्यर्थम्।।५८।।चा.सा.
४. स.सि. ९/२६ रा.व. ९/२६
५. कृतकारितानुमननैव वाक्काय मनोभिरिष्यते नवधा। औत्सर्गकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा। पु.सि.उ. ७५
५. स.सि. ९/६

चेतन–अचेतनरूप परिग्रह की निवृत्तिपूर्वक पर भावों को पर जानना, पुनः परभावों का ग्रहण न करना और निज शुद्ध आत्मा को परिपूर्णरूप से ग्रहण करके बाह्य–अभ्यन्तर परिग्रह की निवृत्ति; उत्तम त्यागधर्म है।[१] उत्तम त्याग कारण है, उत्तम त्यागधर्म कार्य है। कारण में कार्य का उपचार कर, उत्तम त्याग को उत्तम त्यागधर्म निरूपित किया जाता है। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है, सम्यग्ज्ञान कारण है और सम्यग्चारित्र कार्य, उसी प्रकार उत्तम तप कारण है और उत्तम तपधर्म कार्य।

उत्तम त्यागधर्म को प्रकट करने के लिए पुरुष को, कामवर्धक मिष्ट भोजन, राग–द्वेष को उत्पन्न करने वाले उपकरण, ममत्व को उत्पन्न करने में निमित्तभूत वसतिका का त्याग करना चाहिए।[२]

१. स्व–पर का यथार्थ स्वरूप समझकर, पर पदार्थों के प्रति राग/द्वेष छोड़ना; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट वीतराग–स्वरूप आत्म–शान्तिरूप सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।[३]
२. शुद्ध आत्मबोधपूर्वक समस्त विषय–कषाय–आहार आदि को छोड़ना; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट निर्विषय, अकषायरूप, अनाहारी निजात्मस्वरूप सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।
३. समस्त पर–द्रव्यों एवं पर–भावों को पर जानकर ऐसा छोड़ना कि पुनः ग्रहण न हो, यह उत्तम त्याग है। उससे प्रकट स्व शुद्ध आत्मा का परम आनन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।
४. अपने त्रैकालिक आत्म–स्वरूप का सम्यक् अवलोकन कर, क्षणिक विकाररूप दुर्विकल्पों को छोड़ना; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट निर्विकल्पात्मक शाश्वत सुख–रसानुभूति; उत्तम त्यागधर्म है।
५. पुण्य–पाप के फलरूप सामग्रियों के प्रति राग–द्वेष को छोड़ना; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट शुद्ध निजात्म धर्मरूप परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।
६. पाँचों इन्द्रियों के विषय–भोगों की निवृत्ति; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट निजात्मा का अतीन्द्रिय सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।

---

१. परिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः। रा.वा. ९/६

२. जो चयदि मिट्ठभोज्जं उवयरणं रायवोस संजणयं। वसदिममत्हेदुं चायगुणो सो हवे तस्स। का.अ.मू.

३. निजशुद्धात्मपरिग्रहं कृत्वा बाह्याभ्यंतरपरिग्रहनिवृत्ति त्यागः। प्र.सा.ता.वृ.

७. बाह्य–अभ्यन्तर परिग्रहों का परित्याग; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट असङ्ग–स्वरूप निज शुद्धात्मा की अनुभूति–स्वरूप सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।

८. समस्त पर–द्रव्यों और सांसारिक–शारीरिक भोगों का परित्याग; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट स्व शुद्धात्मा–स्वरूप का परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।

९. मोह–राग–द्वेष आदि समस्त विकारी भावों को छोड़ना; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट निर्मोहरूप वीतराग परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।

१०. पर–द्रव्यों का कर्तृत्व–भोक्तृत्व भावों का छोड़ना; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट स्वात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।

११. पर–द्रव्यों के ग्रहण–त्याग के भावों को छोड़ना; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट स्व शुद्धात्म–स्वरूप में निमग्नतामयी परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।

१२. धर्म के साधनभूत उपकरणों और देह का ममत्व न करना; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट निर्ममत्वरूप परम सुखरस; उत्तम त्यगधर्म है।

१३. बाह्य–अभ्यन्तर उपधि का परित्याग; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट निरूपाधि–स्वरूप परम सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।

१४. जीव को बाह्य विषय–भोगों की अनुकूल सामग्रियों से राग और आशा–तृष्णा बढ़ती है और प्रतिकूलता से दु:ख–द्वेष प्रकट होता है। भोग–सामग्रियों से सुख–दु:ख मानना भ्रम है। उस भ्रम की निवृत्ति; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट निर्भ्रम स्वरूप निज शुद्धात्मा का परम सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।

१५. बाह्य सर्व संयोगों से हित–प्राप्ति की बुद्धि की निवृत्ति; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट असंयोग–स्वरूप स्वात्मसुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।

१६. जीव को बाह्य वस्तुओं के ग्रहण–त्यागरूप मूढ़ बुद्धि का त्याग; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट ग्रहण–त्याग–शून्य शक्ति–स्वरूप निज शुद्धात्मा का परमानन्द; उत्तम त्यागधर्म है। अध्यात्म–दृष्टि से बाह्य–अभ्यन्तर उपादान का ग्रहण–त्याग नहीं होता है। आत्मा एक शुद्ध स्वभावरूप तिष्ठता है। उससे प्रकट एक निज शुद्ध स्वरूप तिष्ठता स्वात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।[१]

१. त्यागादाने बहिर्मूढ़: करोत्यध्यात्म–आत्मवित।
नान्तर्बहिरूपादानं न त्यागे निष्ठितातमन:।।स.श. ४७

१७. जगत् के सर्व द्रव्य अपने–अपने गुण–पर्यायों से परिपूर्ण हैं। एक द्रव्य का किसी भी अन्य द्रव्य में प्रवेश नहीं है। ऐसा जानकर पर द्रव्यों में अहंपने का त्याग; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट पर में अप्रवेश स्वरूप स्व शुद्धात्मानुभूति सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।

१८. कर्मचेतना और कर्मफलचेतना को निजात्म–स्वरूप से भिन्न स्वभावरूप अनुभवन करना; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट शुद्ध ज्ञान–चेतना–स्वरूप निज शुद्धात्मा का अनुभवन–स्वरूप परम सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।

१९. शरीर आदि चेतन पदार्थों के प्रति एकत्व–ममत्व का त्याग; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट अशरीरी स्वात्म–स्वरूप का सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।

२०. पर–द्रव्य एवं भावों के प्रति अग्राह्य भाव; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट स्व शुद्धात्म स्वरूप में निमग्नतारूप परमानन्द–स्वरूप; सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।

२१. अशरीरी निज भगवान् आत्मा का ग्रहण करना और शरीर आदि के प्रति का ममत्व त्याग; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट सिद्ध–सादृश्य स्वात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।

दान और त्याग– जिनागम में दान को त्याग में गर्भित किया है, क्योंकि दातार को दान में देय द्रव्य के प्रति लोभ कषाय की निवृत्ति होती है। दान; त्यागधर्म का साधनभूत कारण है। कारण में कार्य का उपचार कर दान को त्यागधर्म कहा है।

त्याग; निवृत्ति का सूचक है। जिनागम में निवृत्ति–मूलक स्व–पर उपकारक प्रवृत्ति को उपचार से त्याग निरूपित किया है। यद्यपि त्याग पर पदार्थों का नहीं, अपने ज्ञान में लोभ की निवृत्ति की जाती है।

उत्तम त्याग; आत्म–अहितकर पदार्थों का किया जाता है, कथञ्चित् धर्म–साधनार्थ शरीर के स्वास्थ्य हेतु यथायोग्य, यथाकाल आहार, औषध आदि का दान किया जाता है। दान सदैव न्यायोपार्जित स्व–द्रव्य का और स्व–पर उपकारार्थ दिया जाता है।[१] दान देने से दातार की लोभ कषाय की निवृत्ति और पात्र की मोक्षमार्ग में अविरल–अविकल प्रवृत्ति होती है। दान; ऋषि, मुनि, यति, अनगार– ये चार सङ्घ को या मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका– ये चार सङ्घ को दिया जाता है।[२]

१. अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्। ३८ त.सू.। २. दान चार परकार, चार संघ को दीजिए। द.ल.ध. पूजन

दान के भेद– जिनागम में त्यागरूप दान के तीन और चार भेद दृष्टव्य हैं। सर्वार्थ–सिद्धि में त्याग को दान कहा है। वह दान आहार, अभय और ज्ञान के भेद तीन प्रकार का है।[१] 'रत्नकरंड श्रावकाचार' में आहार, औषध, शास्त्र और स्थान– ये चार भेद निरूपित किये[२] हैं। आहारदान में औषध दान और अभयदान में स्थानदान गर्भित हो जाता है। अत: दोनों आचार्यों का अभिप्राय एक ही है। दान; चार प्रकार का है और चार सङ्घों को ही देना मुख्य किया है।[३]

दानरूप उत्तम त्यागधर्म– न्यायोपार्जित सञ्चित द्रव्यों को आत्महित के कार्यों में देना; दान है। निर्वांछिक दान देने से दातार को देय द्रव्य के प्रति ममत्व का अभाव और सञ्चित द्रव्य के प्रति लोभ का अभाव हो जाता है। इस लोक और परलोक में फल प्राप्ति की इच्छा न होने से दान को व्यवहार नय से त्यागधर्म कहा है। उत्तम पात्रों को दान देने से दातार को अभ्यन्तर में जो आनन्द आता है, वह उत्तम त्यागधर्म है।

दान देने से दातार के पास अक्षय सम्पत्ति शोभायमान होती है। दातार के उत्तम गुणों का आविर्भाव एवं सुख की वृद्धि होती है। दान देने की प्रेरणा देते हुए १०८ आचार्य पद्मनन्दीदेव लिखते हैं– हे भव्य! यदि तुम; सौभाग्य, शौर्य, सुख, रूप, विवेक, विद्या, उत्तम शरीर, धन, उत्तम गृह, उत्तम कुल में जन्म चाहते हो तो प्रयत्नपूर्वक सत्पात्रों को दान दो। सत्पात्रों को दान देने से पूर्वोक्त सभी गुण युगपद् प्राप्त होते हैं।[४]

अभ्यन्तर दानरूप उत्तम त्यागधर्म– त्याग की अपेक्षा, अभ्यन्तर में मोह–राग–द्वेषरूप आधि–उपाधि को छोड़ना उत्तम त्याग है। दान की अपेक्षा, दानान्तराय कर्म के क्षय से अनन्त प्राणियों को अनुग्रह–कारक दिव्य ध्वनि का खिरना; क्षायिकदानरूप उत्तम त्यागधर्म है। जो तीर्थंकर अरहन्त परमात्मा को होता है।

बाह्य दानरूप उत्तम त्यागधर्म– उत्तम पात्रों को प्रासुक आहार, औषध आदि आगम–निर्दिष्ट काल में देना, श्रुताभ्यास हेतु निर्ग्रन्थाचार्यों द्वारा विरचित वीतरागता के पोषक शास्त्र भेंट करना, निर्भयता से ठहरने को योग्य वसतिका (स्थान) की व्यवस्था करना; बाह्य दानरूप उत्तम त्यागधर्म है।

---

१. त्यागो दानं तत्त्रिविधं आहार–दानमभयदानं ज्ञानदानं चेति।६/२५ स.सि.

२. र.क.श्रा. ११७

३. दान चार परकार, चार संघ को दीजिए– द.ध.पू.

४. सौभाग्यशौर्य सुखरूपविवेकताद्या, विद्यावपुधर्न गृहाणि कुले च जन्म।
सम्पद्यतेऽखिलमिदं किल पात्रदानात् तस्मात् किमत्र सततं क्रियतेम यत्न:।४.९प.प. वि. २/४४

अब यहाँ उत्तम त्यागधर्म और उत्तम त्यागधर्म घातक अत्यागभाव का स्वरूप, भेदों और शमन के उपायों का विचार किया जाता है।

आहारदानरूप उत्तम त्यागधर्म– आहारदान, अपने आहार का संविभाग कर, नवधा भक्तिपूर्वक मुनि भगवन्तों को, उत्तम आत्म–साधना के लिए दिया जाता है। अतिथि–संविभाग दान से दातार को द्रव्य–अहिंसा तो उनके क्षुधा आदि दूर करने के निमित्त प्रत्यक्ष ही है और भाव अहिंसा अरति–विषाद से विमुक्तता एवं लोभ कषाय की शिथिलता की अपेक्षा से है।[१]

सुपात्रों को दिया गया दान समय पर वट वृक्ष के बीज की भाँति विपुल और मनोवाञ्छित फलित होता है।

दान देने से द्रव्य–हिंसा और भाव–हिंसा की निवृत्ति हो जाती है। अत: आहारदान आदि देना; उत्तम त्याग है। उससे प्रकट निज शुद्धात्म का ग्रहण–त्याग शून्य–अनाहारी स्वरूप का परमानन्दरूप सुखरस; उत्तम त्यागधर्म है।

आहारदान का महत्त्व– आहारदान देने से पापों का क्षय, सातिशय पुण्य–बन्ध, अतुल वैभव और अनेक ऋद्धि–सिद्धियों की प्राप्ति होती है। आहारदान, कर्ममल धोने को जल के समान है। जैसे जल; अपने स्वभाव से ही मलिनता को धोता है; वैसे ही अतिथियों को नवधा भक्तिपूर्वक दिया गया आहारदान; गृहस्थों के गार्हस्थ कार्यों से बँधे कर्ममल को धो देता है।[२]

मुनिराज को विधिवत् आहारदान देने से उनका शरीर स्वस्थ रहता है। आहारदान में शेष औषध, शास्त्र और अभय दान भी गर्भित हो जाता है। आहार से क्षुधा रोग का शमन और प्राणों की रक्षा होने से औषधदान भी हो जाता है। आहार से शरीर स्वस्थ रहता है। उससे आगमानुसार निर्विघ्न श्रुताभ्यास से शास्त्रदान भी हो जाता है। मोक्षमार्ग में निर्बाध गमन होने से अभयदान भी हो जाता है। मुनि भगवन्तों को आहारदान देने से उन्हें विद्या–तप–ज्ञान और मोक्ष की सिद्धि होती है। आहारदान देखकर, अनुमोदना मात्र से सूकर, सेही, नेवला, बन्दर– ये चारों जीव भरत चक्रवर्ती के पुत्र हुए। जीव को आत्मस्वभाव का यथार्थ बोध न होने से उपादेय–स्वरूप का अग्रहण और हेय–स्वरूप का ग्रहण उत्तम त्याग का घातक, अत्यागभाव है।

१. कृत्मामार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भक्तिस्त्याग:।
अरति विषाद विमुक्त: शिथिलितलोभवत्यहिंसैव।।–१७४।।पु.सि.उ.

२. गृहकर्मणापि निचितं कर्मविमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्
अतिथिनां प्रतिपूजा रूधिरमलं धावते वारि।।११४ र.क.श्रा.

अब यहाँ उत्तम त्यागधर्म और उसके घातक स्वरूप के भेदों का विचार किया जाता है।

उत्तम त्यागधर्म–घातक अभ्यन्तर कारण तो राग–द्वेष के भाव हैं और बाह्य साधनभूत कारण अनेक हैं। यथा– मिथ्यात्व एवं इन्द्रिय–विषयों के पोषक आहार, औषध, ज्ञान का सेवन एवं सप्त भयों से भयभीत रहना। उससे उत्तम त्याग धर्म का घात होता है।

उत्तम त्यागधर्म घातक आहारदान– अपात्रों को दिया गया आहारदान मिथ्यात्व का पोषक है, सर्प को दूध पिलाने जैसा है। जैसे सर्प के दूध पिलाने से उसका जहर ही बढ़ता है, वैसे ही अपात्रों को आहारदान देने से मिथ्यात्व ही बढ़ता है।

आहारदान का कालातिक्रम कर असमय में देना, रस–विपर्यय देना, अक्रम से रसों को देना अर्थात् आहार के प्रारम्भ में तरल, मधुर रस न देकर खट्टा–तीखा आदि रसों का देना, मौन न रहकर मनोविनोद करना, अति आग्रह करके देना, लौकिक फलों की वाञ्छा कर देने से आहार दानरूप उत्तम त्यागधर्म का घात होता है।

उत्तम त्यागधर्म घातक–आहारदान की निवृत्ति और उत्तम त्यागधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

आहारदान सुपात्रों को धर्म–साधनार्थ देना चाहिए। आहारदान आगमोक्त समय पर, पात्रानुकूल, ऋतु–अनुकूल, संयमवर्धक, स्वाध्यायवर्धक देना चाहिए। रस–विपर्यय नहीं देना चाहिए। यथा; दूध के साथ खट्टा रस, सच्चिकण पदार्थों के साथ शीतल जल नहीं देना चाहिए; अपितु उष्ण जल देना चाहिए। शान्तचित्त से दिया गया आहरदान; उत्तम त्यागधर्मरूप है। अत: जीव को अनशनस्वरूप निज उत्तम त्यागधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

औषधदानरूप उत्तम त्यागधर्म– मुनिराज औषध के नाम पर कुछ भी नहीं लेते हैं। उन्हें तो रोग–निवारक, रोग–प्रतिरोधक, स्वास्थ्यवर्धक पदार्थ आहार के रूप में दिये जाते हैं। ये सभी पदार्थ औषधदान में गर्भित हो जाते हैं।

वर्तमान परिपेक्ष में दातार को आहार में दिये जाने वाले पदाथों के औषधीय गुणों का, देय–पदार्थों को देने का क्रम और मात्रा–प्रमाण का बोध न होने से औषधदान दुर्लभ प्रतीत होता है। प्राचीन समय में तो दातार को गेहूँ, ज्वार, मक्का, बाजरा, चावल, दालें आदि धान्य पदार्थों का; जीरा, धनिया, मिर्ची, लौंग, दालचीनी, कालीमिर्च, पीपर, सौंफ आदि मसालों का; पिस्ता, काजू, इलायची, बादाम, अखरोट, किसमिस, मुनक्का, चिरौंजी आदि मेवा का; घृत, तेल, दूध, दही, गुड़ आदि रसों के औषधीय गुणों का, पात्रानुकूल मात्रा–प्रमाण का, सहपान–अनुपान का ज्ञान था, इसलिए वे आहारदान के साथ औषधदान भी कर लेते थे।

दूध में मीठा रस/इलायची/पीपर; इनमें से कोई एक पदार्थ डालने से दूध के दोषों का नाश और गुणों की वृद्धि होती है। घृत आदि से निर्मित हलवा–पूड़ी आदि व्यञ्जनों के उपरान्त गर्म जल पीने से घृतादि के दोष नष्ट हो जाते हैं। खौलाया (उबाला) हुआ गर्म जल तृषा–शामक है। औषधदान देने के लिए दातार को पात्र के स्वास्थ्य का ज्ञान होना आवश्यक है।

पदार्थ के औषधीय गुणों का लाभ ऋतु और पात्र के शरीर की प्रकृति एवं अवस्था पर निर्भर करता है। यथा– शीत ऋतु में उष्ण प्रकृति वाले पदार्थ, उष्ण ऋतु में शीत प्रकृति वाले पदार्थ, वर्षा ऋतु में सुपाच्य एवं समशीतोष्ण पदार्थ देना चाहिए। एक उपवास, दो उपवास, पक्षोपवास, मासोपवास करने वाले पात्र को मीठा, तरल पदार्थ, गन्ने का उबला हुआ रस; स्वास्थ्य–हितकर, स्वास्थ्य–स्थापक, आरोग्य–वर्धक होता है। उससे पात्र का उत्तम त्यागधर्म वृद्धिकर होता है।

उत्तम त्यागधर्म घातक आहाररूप औषध– आहाररूप औषध का दान, शारीरिक रोग एवं शरीर की प्रकृति के विरुद्ध देने से पात्र को रोग की उत्पत्ति/वृद्धि, धार्मिक क्रियाओं में व्यवधान, स्व–स्वरूप की स्थिरता में न्यूनता होती है। अविवेक से दिया गया आहाररूप औषधि रोगवर्धक होती है। यथा; ग्रीष्म ऋतु में बाजरा, तेल से बनी बेसन की वस्तुएँ गर्म–गर्म देना; शीत ऋतु में शीत–प्रकृति वाले पदार्थ, वर्षा ऋतु में दुष्पाच्य आहार देना, अति आग्रह करके देना। आहारदान करते समय हँसना, अप्रयोजनीय वार्तालाप करने से उत्तम त्यागधर्म का घात होता है।

उत्तम त्यागधर्म के घातक आहाररूप औषध की निवृत्ति और उत्तम त्यागधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

पात्र का स्वास्थ्य कैसा है? उसे कोई व्याधि है या नहीं। यदि है तो व्याधि/रोग किस प्रकार का है। उन्हें औषधरूप आहार, रोगनाशक कितने प्रमाण में देना, आहार में औषध चूर्णरूप से देना या क्वाथ बनाकर देना या चटनीरूप में देना। आहार के प्रारम्भ या मध्य या अन्त में देना। जल से या दूध से या चासनी से देना। औषध देने के पश्चात् कौनसा रस देना। इस प्रकार की समस्त जानकारी आहार–दातार को औषध की होनी चाहिए।

औषधदान से दातार, आरोग्य शरीरवान्, सुन्दर रूपवान, कीर्तिमान, कुलवान, यशस्वी, दीप्ति युक्त होता है।[१] अत: जीव को निज निरोग स्वरूप, उत्तम त्यागधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

१. निधानमेंषा कान्तिनां कीर्तिनां कुल मन्दिरं। लावण्यानां नदीनाथो भैषज्यं येन दीयते।३८ अमि.श्रा

शास्त्रदान/ज्ञानदानरूप उत्तम त्यागधर्म– शास्त्रदान और ज्ञानदान एकार्थवाची है। सर्वज्ञदेव–प्रणीत श्रुत का अभ्यास; शास्त्रों का संरक्षण, प्रकाशन और भेंट देना/करना–कराना करते हुए की अनुमोदना करना; शास्त्रदान/ज्ञानदान है।

सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रमयी मोक्षमार्ग का उपदेश देना, मुनि भगवन्तों को शास्त्र भेंट करना; शास्त्रदान है। शास्त्रदान से दातार को जो आनन्द–स्वरूप सुखरस की अनुभूति होती है, वह उत्तम त्यागधर्म है।

शास्त्रदान के फल से युगपद् लोकालोक को जानने की सामर्थ्य युक्त केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। सज्जनों द्वारा पूज्य, सेवनीय, विचारवान्, वादिराज, सभा–रञ्जक, ग्रन्थ–रचयिता, सर्वमान्य, लोकविख्यात होता है। उसे अनेक भवों के सहस्र दुःखों से छुटकारा मिल जाता है।[१] अतः जीव को ज्ञानस्वरूप निज उत्तम त्यागधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

दूसरे शब्दों में, शास्त्रदान करने वाला; केवली, श्रुतकेवली होकर, सम्पूर्ण विश्व को युगपद् जानता है, वह शतेन्द्र पूज्य मुक्तिवधू का स्वामी हो शाश्वत अतीन्द्रिय सुख को भोगता है।[२]

उत्तम त्यागधर्म सम्पोषक ज्ञानदान न करना– व्यक्ति के पास शास्त्रों की उपलब्धि और जिनश्रुतज्ञान के होने पर भी निस्पृह हो ज्ञान का दान न करने से उसके पास उपलब्ध शास्त्रों का लोप और जिनश्रुत ज्ञान की विस्मृति/विकार उत्पन्न हो जाता है। जैसे कुआँ से जल न निकाला जाये तो जल विकृत हो जाता है वैसे ही ज्ञान का दान न करने से ज्ञान विकृत और विस्मृत हो जाता है। ज्ञानदान न करने से व्यक्ति के मोक्षमार्ग में शिथिलता या लोप, कुमार्ग–गमन, मिथ्यात्व की बहुलता हो जाती है। व्यक्ति स्व–स्वरूप से च्युत हो अपना संसार बढ़ा लेता है और चारों गतियों में जन्म–मरण करता है, अनन्त दुःखों को भोगता है। उससे उत्तम त्यागधर्म का घात होता है।

ज्ञानदान न करने की निवृत्ति और ज्ञानस्वरूप उत्तम त्यागधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

ज्ञानदान देने से वीतराग निर्विकल्प–स्वरूप मोक्षमार्ग अक्षुण्ण बना रहता है। अनेक भव्य आत्माएँ उसका अनुसरण कर, आत्महित कर लेते हैं। अन्य पुरुष जिनश्रुतानुसार प्रवर्तन कर,

१. लभ्यते केवलज्ञानं यतो विश्वभासकं/अपरज्ञान लाभेषु कीदृशी तस्य वर्णना।।४७।। अमि. श्रा

२. शास्त्रदायी सतां पूज्यः सेवनीयो मनीषिणाम्।
वादी–वाग्मी कविर्मन्यः ख्याति शिक्षा प्रजायते।।५०।।अमि. श्रा.

सर्वदु:खों से मुक्त हो परिनिर्वाण पद को प्राप्त करते हैं। अत: जीव; आत्मज्ञान–स्वरूप निज उत्तम त्यागधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

अभय दानरूप उत्तम त्यागधर्म– अभय का शाब्दिक अर्थ है–भयरहित, सुरक्षित– अभयदान का अर्थ है– प्राणियों को सर्व प्रकार के भयों से मुक्त कर, पुन: भय को उत्पन्न न होने देना। जीवों को भयों से मुक्त करना; महादान है। पुरुष का निर्भय होकर ही मोक्ष का पुरुषार्थ कर, सर्व कर्म–कलङ्कों से मुक्त होकर, अविनश्वर परिनिर्वाण पद को प्राप्त करना; उत्तम त्यागधर्म है।

जीवों को भयों की उत्पत्ति अज्ञान से होती है। अत: अज्ञान की निवृत्ति करना; अभयदानरूप उत्तम त्यागधर्म है।

भय का अर्थ है– भीति, उद्वेग। जीव; भयाकुलित तब होता है, जब उसे अपने ज्ञान–स्वरूप बल का ज्ञान नहीं होता है और स्वयं को निर्बल, असहाय मानने लगता है। जीवों को स्वयं के आत्म–बल का ज्ञान होना और पर–द्रव्यों से अपना भला–बुरा नहीं होना– ऐसा ज्ञान कराना अभयदान है। प्रत्येक जीव स्वभाव से अभयस्वरूपी है। उसके आश्रय से प्रकट अभय–स्वरूप सुखरस; उत्तम अभयदानरूप निज उत्तम त्यागधर्म है।

जगत् के जीव सात प्रकार के भयों से दु:खी हैं। वे भय हैं– १. इहलोक, २. परलोक ३. अरक्षा, ४. अगुप्ति, ५. मरण, ६. वेदना, ७. आकस्मिक।

इहलोकभय– मुझे इष्ट पदार्थों का वियोग, अनिष्ट का संयोग न होवे; दरिद्रता न घेरे प्राप्त पदार्थ का नाश न हो जाये; लोग हमारा अहित न करें; आजीविका, धन–सम्पत्ति आदि न छिन जाए, इस प्रकार के विकल्पों से चित्त का उद्विग्न होना; इहलोक का भय है। उससे उत्तम त्यागधर्म का घात होता है।

इहलोक–भय की निवृत्ति और उत्तम त्यागधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

इहलोक में सभी जीव एकाकी–एकत्व स्वभावी हैं। ये सदा ही अनित्य–स्वरूप से परिणमन करते हैं। मेरा लोक तो निजात्मलोक है, यह लोक नहीं है। इस लोक में कोई भी द्रव्य; किसी भी अन्य द्रव्य का अहित नहीं करते हैं। अपना अहित तो अपने ही द्वारा किये अशुभ परिणामों से होता है। अत: जीव को अपने अनन्त गुणों के वैभव की सम्पन्नता से इहलोक–भय रहित हो, परिणामों को शुद्ध रख, निज उत्तम त्यागधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

परलोक–भय– जीव को परलोक जाने का भय सदा बना रहता है। वह सोचता है

मेरा आगामी भव कौनसा होगा, कहाँ होगा, मेरा जन्म नरक, तिर्यञ्चों में न हो। मुझे सातारूप फलदायी सामग्रियाँ प्राप्त होंगी या नहीं? इत्यादि प्रकार के विकल्पों से चित्त का खेद–खिन्न होना; परलोक का भय है। उससे उत्तम त्यागधर्म का घात होता है।

परलोक–भय की निवृत्ति और उत्तम त्यागधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

मैं द्रव्यकर्म–भावकर्म–नोकर्म और कर्मजन्य पर्यायों से भिन्न भगवान्–स्वरूप आत्मा हूँ। सर्वज्ञदेव के ज्ञान में, जिस द्रव्य का जिस क्षेत्र में, जिस काल में जिस रूप से परिणमन होना है, उसी रूप/प्रकार का होगा, अन्य रूप नहीं। मेरे द्वारा होने वाली शुभ प्रवृत्तियाँ शुद्धता प्रकट करने की हेतु हैं। मैं ज्ञान–ज्योतिस्वरूप निजात्मा का संवेदन करता हूँ। मेरा आगामी भव स्वर्ग–मोक्ष होगा। अत: जीव को परलोक भय–रहित निज उत्तम त्यागधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

अरक्षा–भय– जीव को अपने से सबल शत्रुओं और हिंसक, विषधर जीवों से सदा भय बना रहता है। उनसे मेरी रक्षा कौन करेगा? शत्रु से सुरक्षित रहने के निमित्त मणि–मन्त्र–तन्त्र और विविध अनुष्ठानों को करता है तो भी सुरक्षित नहीं रहता है। मनुष्य; प्राप्त देह–पर्याय को सुरक्षित रखने के लिए वृष्य–इष्ट पदार्थों का सेवन करता है। अङ्गरक्षकों को सदा अपने साथ रखता है। सुरक्षित रहने के लिए किला–महल बनवाता है। साधु–सन्तों से सुरक्षार्थ आशीर्वाद लेता है तो भी सुरक्षा नहीं हो पाती है। सुरक्षार्थ होने वाले विकल्पों से चित्त का व्यग्र रहना; अरक्षा–भय है। उससे उत्तम त्यागधर्म का घात होता है।

अरक्षा–भय की निवृत्ति और उत्तम त्यागधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जगत् में कोई भी जीव किसी भी अन्य जीव की रक्षा करने में असमर्थ है। मणि–मन्त्र–तन्त्र किला, अङ्गरक्षक भी जीव की रक्षा नहीं कर सकते हैं। रक्षा करने का विकल्प अवश्य कर सकते हैं। सुरक्षार्थ सञ्चित सामग्रियाँ, एकत्र किये साधन आदि तो वैभव का प्रतीक हैं। अपनी रक्षा तो स्वयं अपना आत्मा ही करता है। संसार में अन्य कोई रक्षक नहीं है। निश्चय से अपना शुद्धात्मा और व्यवहार से पञ्च परपेष्ठी का संस्मरण ही रक्षक है। परम श्रद्धान के साथ पञ्च परमेष्ठी–स्वरूप निज आत्मा के ध्यान से अपनी सुरक्षा होती है। रोग से ग्रसित अवस्था में परिवारजन भी पीड़ा से रक्षा नहीं करते। भवसागर में फँसे हुए जीव को मात्र उत्तम

त्यागधर्म ही रक्षक है। इस प्रकार बारम्बार चिन्तवन कर, जीव को अरक्षा भय–रहित निज उत्तम त्यागधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

अगुप्ति भय– मन–वचन–काय की चञ्चलता और उनका दुष्प्रयोग होना, अगुप्ति है। अगुप्ति से चित्त का व्याकुल होना; अगुप्ति–भय है। अथवा असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश मानने से चित्त का व्यग्र होना; अगुप्ति–भय है। उससे उत्तम त्यागधर्म का घात होता है।

अगुप्ति–भय की निवृत्ति और उत्तम त्यागधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीव अपने सहज स्वभाव से तो गुप्त–स्वरूप ही रहता है। मन–वचन–काय का व्यापार संसार के कारणों में न होकर, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रमयी स्व–शुद्धात्मा में होने से जीव गुप्त–स्वभावी है जो कि शाश्वत है। अत: जीव को अगुप्ति भय रहित गुप्त–स्वरूप निज उत्तम त्यागधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

मरण–भय– जीव को स्वयं के परिणामों से उपात्त इन्द्रिय–बल–आयु–श्वासोच्छ्वास का कारणवशात् क्षय होना; मरण है। मेरा मरण न हो, मैं जीता रहूँ, इस प्रकार के सङ्कल्प–विकल्पों से चित्त का व्याकुल होना; मरण–भय है। उससे उत्तम त्यागधर्म का घात होता है।

मरण–भय की निवृत्ति और उत्तम त्यागधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

मरण का मुख्य कारण आयु का क्षय है।[१] लोक में गति से गत्यन्तर होने को मरण कहते हैं। गत्यन्तर होने में जीव का विनाश नहीं होता है। मरण तो एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने या वस्त्र बदलने की भाँति है। जैसे वस्त्र बदलने पर शरीर का नाश नहीं होता है, वैसे ही मरण होने पर जीव का नाश नहीं होता है। केवल शरीर परिवर्तित होता है। जीव तो अमर–स्वभावी है। अत: जीव को अमर–स्वभावी आत्मा के आश्रय से अमर–स्वरूप निज उत्तम त्यागधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

वेदना–भय– शरीर में वात–पित्त–कफ; इन तीन धातुओं में से किसी एक, दो या तीनों की विषमता, हानि–वृद्धि से शरीर में जो पीड़ा होती है, वह वेदना है। वेदना सहन न

१. आयु क्षयस्य मरणं हेतुत्त्वात्।ध.।।

होने से चित्त की व्यग्रता या मुझे कभी वेदना न हो उससे भयाकुलित रहना; वेदना–भय है। उससे उत्तम त्यागधर्म का घात होता है।

वेदना–भय की निवृत्ति और उत्तम त्यागधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

वेदना; शरीर में होती है, जीव में नहीं। शरीर; अचेतन–स्वरूप है, जीव; चेतना–स्वरूप है। जीव; शरीर से भिन्न अशरीरी ज्ञानात्मा है। वेदना का अनुभवन तो शरीर के प्रति एकत्व–ममत्व होने पर होता है। जैसे ज्वर; शरीर में होता है आत्मा में नहीं। वैसे ही वेदना शारीरिक परिणमन है, आत्मिक नहीं है। जीव तो चिकित्सक की भाँति, शरीर में वेदना के परिणमन का ज्ञाता मात्र है, भोक्ता नहीं। आत्म–स्वभाव में वेदना होती ही नहीं है। जीव तो निज शुद्धात्म–स्वरूप का संवेदन करता है। अत: जीव को स्व–संवेदन स्वरूप निज उत्तम त्यागधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

आकस्मिक भय– अकस्मात्/अचानक/कारणहीन अनहोनी घटना घटने सम्बन्धी विकल्प से चित्त का व्याकुल होना; आकस्मिक भय है। जैसे आकाश से बिजली गिरने का, नदी–नाले में बहने का, जल में डूबने का, दीवार गिरने का, शस्त्र–घात आदि से प्राणों का अकस्मात् वियोग होने के विकल्पों से चित्त की व्यग्रता; आकस्मिक भय है। उससे उत्तम त्यागधर्म का घात होता है।

आकस्मिक भय की निवृत्ति और उत्तम त्यागधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जगत् में कोई भी घटना आकस्मिक नहीं होती है। अचानक घटना के घटने का ज्ञान न होने से उस घटना को आकस्मिक कहा जाता है। जगत् के प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वकीय योग्यतानुसार स्व–काल में ही होता है। सर्वज्ञदेव के ज्ञान में तो, सर्व द्रव्य, उनके सर्व गुण और उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायें युगपत् झलकती है। अत: आकस्मिक कुछ होता ही नहीं है। आकस्मिक घटना तो अल्पज्ञ के ज्ञानानुसार कही जाती है। अत: जीव को वस्तु के स्वतन्त्र परिणमन का ज्ञाता–दृष्टा रह निज उत्तम त्यागधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

राग–द्वेष त्यागरूप उत्तम त्यागधर्म– राग का शाब्दिक अर्थ है– प्रीति, रति/अनुराग इष्ट पदार्थों के प्रति रति–भाव है। सम्यग्दृष्टि को चतुर्थ गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक व्यक्त राग है और उससे ऊपर के सातवें से लेकर दसवें गुणस्थान तक सूक्ष्मलोभरूप अव्यक्त राग रहता है। राग का प्रतिपक्षी द्वेष है।

विचित्र चारित्र–मोहनीय कर्म के विपाक से इष्ट–अनिष्ट पदार्थों के प्रति रति–अरतिरूप परिणाम; राग–द्वेष है[१] निर्विकार शुद्धात्मा से विपरीत इष्ट–अनिष्ट इंद्रिय विषयों में हर्ष–विषादरूप चारित्रमोह संज्ञा; राग–द्वेष है।[२]

राग–द्वेष परस्पर में प्रतिद्वंद्वी हैं। जहाँ राग वर्तता है वहाँ द्वेष भी वर्तता है। राग; शुभ और अशुभ दो प्रकार का है। शुभ राग चार प्रकार का है। **१. भावानुराग–** जिनेश्वरदेव–प्रणीत तत्त्व ही सम्यक् है ऐसी श्रद्धा; भावानुराग है। **२. प्रेमानुराग–** अपने स्नेहीजनों को मोक्षमार्ग में स्थित करना; प्रेमानुराग है। **३. मज्जानुराग–** अपने भाई, बहिनों को धर्म–मार्ग में संलग्न करना; मज्जानुराग है। **४. धर्मानुराग–** जैनधर्म में स्वयं स्थित रह अन्यजनों को स्थित रखना; धर्मानुराग है।[३]

जगत् में मनुष्य मोह से जिस पदार्थ को इष्ट समझता है, उसी पदार्थ को किसी कारण–विशेष से अनिष्ट भी समझने लगता है, जिस पदार्थ को किसी कारण विशेष से अनिष्ट समझता है, उसी पदार्थ को किसी कारण विशेष से इष्ट समझने लगता है। वस्तुतः कोई भी पदार्थ इष्ट–अनिष्ट नहीं होता है।[४]

रागरूप अत्यागभाव– जीव की चेतन–अचेतन बाह्य पदार्थों में हितबुद्धि–माया, लोभ, हास्य, रति, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद में रुचिरूप कलुष परिणाम एवं असंयम में लिप्तता; राग है जो कि संसार–भ्रमण का कारण है। उससे उत्तम त्यागधर्म का घात होता है।

रागरूप अत्यागभाव की निवृत्ति और उत्तम त्यागधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

रागभाव आत्मा के स्वभाव को जलाता है। राग; अस्पृश्य–जाति का है, कर्मास्रव का कारण, चारित्र का घातक, हिंसक,आत्म–स्वभाव की प्राप्ति का बाधक है। राग; जीव का स्वभाव नहीं विकार है, क्योंकि वह कर्मोदयजन्य है। अतः हेय है।[५] राग का त्याग भूमिका–अनुसार किया जाता है। जिस जीव के परमाणुमात्र भी राग वर्तता है (राग का बहुमान है) वह जीव भले ही सर्वागम का धारी हो तो भी आत्मा को नहीं जानता है। आत्मा और अनात्मा के

१. प.का त. प्र. १३१
२. निर्विकार शुद्धात्मनो विपरीतमिष्टनिष्टेइन्द्रिय–विषयेषु हर्षविशादरूपं चारित्रमोह–संज्ञं रागद्वेष॥प्र.सा.ता.वृ. ८३
३. भावाणुरागपेमाणुराग–मज्जाणुरागस्तो वा
धम्माणुरागस्तो य होहि जिणसासणे णिच्चा॥७३७॥भ.आ.
४. इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो भावोऽनिष्टस्तथा परः।
द्रव्यं तत्त्वतः किञ्चिदिष्टानिष्टं हि विद्यते॥५/३६॥यो.सा.
५. रागादयः पुनः कर्मोदयातन्त्रा इति अनात्मस्वभावात् हेयः।७/१७ स.सि.

भेदज्ञान के बिना कोटि उपाय करने पर भी रागादि की निवृत्ति नहीं होती है–[१] राग की निवृत्ति के लिए अरहन्त भगवान् को द्रव्यत्व–गुणत्व–पर्यायत्व से जानना चाहिए। उससे ही मोह की निवृत्ति होती है,[२] मोह–निवृत्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है। राग का क्षय करने के लिए परम शब्दब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। उससे राग की उत्पत्ति नहीं होती है। अरहन्त–सदृश चित्‌चमत्कार ज्ञानस्वभावी निजात्मा में स्थिरता से राग का अभाव और उत्तम त्यागधर्म की वृद्धि होती है।

यद्यपि राग; हेय है, तो भी गृहस्थ–अवस्था में राग का संयोग होने पर भी निज शुद्धात्मा का अनुभव होता है और क्रमशः परम निर्वाण सौख्य का कारण होता है।[३] रत्नत्रय–विषयकराग से स्वर्ग और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति देखी जाती है। इसलिए आगम में गृहस्थों को परिवार, घर–बार छोड़ने का और मोक्षमार्ग में प्रीतिपूर्वक सविवेक प्रवर्तन करने का निरूपण किया है।

राग; आत्मा का स्वभाव न होने से मुनिराजों को तो मोक्ष प्राप्ति का राग भी हेय है, क्योंकि वह कर्मास्त्रव का कारण है। आचार्य १०८ योगीन्दुदेव 'परमात्मप्रकाश' में लिखते हैं– हे योगी! अन्य की चिन्ता की तो बात क्या, मोक्ष की भी चिन्ता मत करो। मोक्ष की चिन्ता करने से मोक्ष नहीं होता है। जीव जिन कर्मों से बँधा है, उन कर्मों का क्षय करने/होने से मोक्ष होता है।[४] अतः जीव को राग–विरहित निज उत्तम त्यागधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

द्वेषरूप अत्यागभाव– द्वेष का अर्थ है– घृणा, शत्रुता, अनिष्टता आदि–जीव को अनिष्ट प्रतिभासित होने वाले चेतन–अचेतन पदार्थों के प्रति अप्रीतिरूप भाव; द्वेष है। निर्विकार निज शुद्धात्मा से विपरीत जो अनिष्ट विषय हैं, उनमें विषादरूप भाव; द्वेष है। अर्थात् स्व–पक्षपात के कारण, विपक्ष के प्रति अरति–भाव; द्वेष है। अपने को प्रतिकूल प्रतिभासित होने वाले समस्त चेतन–अचेतन पदार्थों के प्रति वैर–भाव; द्वेष है। द्वेष; आत्मा का स्वभाव नहीं है। जीव को द्वेष; दुःखद, पतनकारक, विकारों का जनक है। अतः सर्वथा हेय है।

१.परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि।।२०१।।स.सा.

२. जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्त–पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्य लयं।।८०।।प्र.सा.

३. राग संयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाण सौख्यकारणत्वच्च मुख्यः।।२५४।।प्र.सा.त.प्र.

४. मोक्खु म चिंतहि जोइया मोक्खु मोक्खु ण चिंतिउ होइ।
जेण णिवद्धउ जीवडउ मोक्खु करेसइ सोइ।।१८८।।प.प्र.

अपने से हीन, मलिन, प्रतिकूल प्रवर्तन करने वालों के प्रति उपेक्षा का भाव; द्वेष है। अपने को अहितकर प्रतिभासित होने वाले जीवों से प्रतिशोध लेने का भाव, जन्म–जन्मान्तरों तक बना रहना; वैररूप द्वेष है। (जैसे कमठ का)। उससे उत्तम त्यागधर्म का घात होता है।

द्वेषभाव की निवृत्ति और उत्तम त्यागधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि– लोक में समस्त चेतन–अचेतन पदार्थ अपने–अपने स्वभावरूप परिणमित होते हैं। उनका परिणमन किसी भी पर–द्रव्य को अनिष्टकारक नहीं होता है। अपना अनिष्ट अपने ही द्वेषरूप परिणामों से होता है। परद्रव्यों के परिणमन से अपना अनिष्ट मानना; अज्ञान है। वस्तु–स्वरूप का कथन, नय–सापेक्ष होता है। अत: नयों का पक्षपाती नहीं होना चाहिए। किसी भी जीव को हीन नहीं, सिद्धों के सदृश ही समझना चाहिए। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन, अपने ज्ञान में दर्पणवत् देखना अपने को हितकर है। जैसे वस्तुएँ जहाँ, जैसी अवस्थारूप परिणमित हो रही हैं, दर्पण में वैसी ही प्रतिबिम्बत होती हैं। दर्पण निर्विकार ही रहता है, वैसे ही समस्त चेतन–अचेतन पदार्थों का परिणमन ज्ञानदर्पण में ज्ञात होता है। ज्ञानदर्पण विकारी नहीं होता है। अत: जीव को पदार्थों के परिणमन का ज्ञाता रह निज उत्तम त्यागधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

परिग्रह–अत्यागभाव– परिग्रह का शाब्दिक अर्थ है– पकड़, उपलब्ध पदार्थों के प्रति आसक्ति, मूर्छा। परिग्रह चौबीस प्रकार के होते हैं। दस प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं और चौदह प्रकार के अभ्यन्तर परिग्रह हैं। उनमें अन्यथा श्रद्धानरूप मिथ्यात्व सबसे बड़ा परिग्रह है। यह जीव को भ्रमित कर, पर–द्रव्यों में एकत्व–ममत्व, कर्तृत्व–भोक्तृत्व–भाव कराता है। व्यक्ति; बाह्य में परिग्रह तो न रखे; किन्तु अनेक धार्मिक स्थलों, संस्थाओं, वाहनों का संचालन की व्यवस्था करने में सक्रिय रहे उससे उत्तम त्यागधर्म का घात होता है।

परिग्रह–अत्यागभाव की निवृत्ति और उत्तम त्यागधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

अन्यथा श्रद्धान संसार–परिभ्रमण का मूल है। चेतन–अचेतन आदि पर–द्रव्य, जीव के न थे, न हैं और न होंगे। पर–द्रव्यों का संयोग होना स्वतन्त्र है। जीव पर–द्रव्यों का सङ्ग्रह एवं संयोग कर ही नहीं सकता है। जीव तो पर द्रव्यों से भिन्न, एकाकी, एकत्व–स्वरूपी है। सङ्ग्रहीत परिग्रह और नवीन परिग्रह–सङ्ग्रह के प्रयोजन की अनुकूलता प्रतिभासित होने पर हर्ष और प्रतिकूलता प्रतिभासित होने पर विषाद होता है। अत: जीव को सर्व प्रकार से सर्व परिग्रह छोड़कर, जिनमुद्रा अङ्गीकार कर सकल कर्म–क्षयार्थ निज उत्तम त्यागधर्म में निमग्न

रहना श्रेयस्कर है।

दानरूप उत्तम त्यागधर्मी दातार के गुण– दानरूप उत्तम त्यागधर्मी दातार के सात गुण होते हैं। आचार्यों ने दानदाता के सात गुणों को स्वीकार किया है, किन्तु समयानुसार नाम–भेद अवश्य प्राप्त होते हैं, परन्तु अभिप्राय में भेद प्रतीत नहीं होता है।

दाता के सात गुण हैं– १. ईर्ष्या का अभाव, २. त्याग में विषाद का अभाव, ३. दान देने में अति प्रीति होना, ४. कुशल अभिप्राय होना, ५. प्रत्यक्ष फल की आकाङ्क्षा न करना, ६. निदान–बन्ध न करना, ७. विसंवाद न करना।[१]

'पुरुषार्थ सिद्धि उपाय' में १०८ अमृतचन्द्र आचार्यदेव ने दाता के सात गुण निम्न लिखे हैं– १. इहलोक सम्बन्धी फल की अपेक्षा का न होना। २. क्षमा, ३. निष्कपटता, ४. ईर्ष्या रहित होना, ५. अखिन्न भाव होना, ६. हर्षभाव होना, ७. निरभिमानता होना।[२]

महापुराण में आचार्यदेव ने दाता के सात गुण निम्न निरूपित किये हैं– १. श्रद्धा, २. शक्ति, ३. भक्ति, ४. विज्ञान, ५. अलुब्धता, ६. क्षमा, ७. त्याग[३]। **श्रद्धा–** आदर–भक्तिपूर्वक आस्तिक्यबुद्धि। **शक्ति–** आलस्य–रहित उत्साह से दान देना। **भक्ति–** पात्र के गुणों में अति अनुराग। **विज्ञान–** दान देने के क्रम का ज्ञान। **अलुब्धता–** फल प्राप्ति की अनिच्छा। **क्षमा–** सहनशीलता। **त्याग–** उत्तम द्रव्य दान में देना।

इस प्रकार सात गुणों से युक्त हो, दातार को मन–वचन–काय, कृत–कारित–अनुमोदन– इन नौ कौटि से मुनिराजों को दान देना श्रेयस्कर है।

उत्तम त्यागधर्ममयी सुख को सुरक्षित रखने और वृद्धि के लिए बाह्याभ्यन्तर उपाधियों का त्याग करना अत्यावश्यक है। जो बाह्य पदार्थ स्व–पर के निमित्त ग्रहण किये जाते हैं, उनसे कषायें पुष्ट होती हैं और भविष्य में अन्य जीवों को कषायोत्पत्ति के कारण हैं। अत: बाह्याभ्यन्तर उपाधियों का त्याग करना श्रेयस्कर है। जीव जैसे–जैसे उपाधियों से रहित होता जाता है वैसे–वैसे खेद–खिन्न रहित होता जाता है, उससे उत्तम त्यागधर्म की वृद्धि के साथ सातिशय पुण्य–बन्ध भी होता है।

---

१. त.रा.वा.। ९।।

२. ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम्।
अविषादत्वमुदित्वे निरहंकारित्वमिति हि दातृ गुणा:।।१६९।।पु.सि.उ.

३. श्रद्धा–शक्तिश्च–भक्तिश्च विज्ञानञ्चाप्यलब्धता।
क्षमा त्यागश्च सप्तैते प्रोक्ता दानपतेर्गुणा:।।२८/८२ म.पु.

उपाधि की आशा बड़ी बलवती होती है। वह समस्त प्रकार के दोषों की जननी है। यह कभी शान्त नहीं होती है। जैसे समुद्र का बड़वानल शान्त नहीं होता है, वैसे ही बाह्य पदार्थों के सङ्ग्रह करने की उपाधि समाप्त नहीं होती है। आशारूप उपाधि का गड्ढा भरना असंभव है। उसमें जो भी डाला जाता है, वह समा जाता है और अधिक प्राप्ति की लालसा बनी रहती है। अत: बाह्याभ्यन्तर उपाधि रहित रहना ही परम सुख स्वरूप उत्तम त्यागधर्म है। जीव को उसमें निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

उत्तम त्यागधर्म का स्वरूप समझ कर सभी आत्माएँ उत्तम त्यागधर्म–स्वरूपी निजात्मा में निमग्न रहें, ऐसी मेरी मङ्गल भावना है।

दशधर्म–स्कन्ध

द्रव्यानुसारेण ददादि दानं, पात्रेषु शीलस्थित मानवेषु।
यो भावतो जैनमतानुरागी, स त्यागधर्मः कथितो जिनेन्द्रैः।।

अर्थ : जो जैन मत का अनुरागी भावपूर्वक शील आदि में स्थित मनुष्यों को अपने द्रव्य के अनुसार दान देता है, उसे जिनेन्द्र भगवान् त्याग धर्म कहते हैं।

–दशधर्म स्कन्ध पृ. १४८

णिव्वेगतियं भावइ, मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवे चागो, इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं।।

अर्थ : जो समस्त द्रव्यों में मोह छोड़कर संसार, शरीर भोगों से विरक्त होता है, उसके त्यागधर्म होता है– ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

–दशधर्म स्कन्ध पृ. १४८

उत्तम आकिञ्चन्यधर्म

मङ्गलाचरण

सकल परिग्रह–त्याग से, आकिञ्चन व्रत होय।
उत्तम आकिञ्चन्य धर्म से, स्व–स्वरूप सुख होय।।

आत्मा का उत्तम–क्षमा–मार्दव–आर्जव–शौच–सत्य–संयम–तप–त्याग धर्म के समान एक लक्षण उत्तम आकिञ्चन्यधर्म भी है। आकिञ्चन्य का शब्दिक अर्थ है– अकिञ्चन के योग्य। अकिञ्चन का अर्थ है– **'नास्ति किञ्चन यस्य'** जिसके पास कुछ न हो और जिसका कुछ न हो। अर्थात् जिसका कुछ भी नहीं है और जिसके पास भी कुछ नहीं है। चेतन–अचेतन बाह्य पदार्थों की तो बात ही क्या, यहाँ तक कि प्राप्त शरीर भी नहीं है। इस प्रकार की विरक्ति उत्तम अकिञ्चन है। उत्तम अकिञ्चन के प्रति रागभाव का अभाव; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है। अर्थात् उत्तम आकिञ्चन का भाव या कर्म उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है। उत्तम आकिञ्चन–भाव कारण है और उत्तम आकिञ्चन्यधर्म कार्य है। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है, सम्यग्ज्ञान कारण है और सम्यक्चारित्र है, उसी प्रकार उत्तम आकिञ्चन कारण है और उत्तम आकिञ्चन्यधर्म कार्य है। कारण में कार्य का उपचार कर आकिञ्चन्य को ही आकिञ्चनधर्म कहा जाता है।

स्वयं के परिणामों से प्राप्त शरीरादिक में संस्कार का त्याग करने के लिए, यह मेरा है, इस प्रकार की अभिसन्धि (अभिप्राय) का त्याग करना उत्तम आकिञ्चन्य है।[१]

उत्तम आकिञ्चन्य का अर्थ है– सर्व प्रकार के समस्त बाह्य धन–धान्य आदि बाह्य दश परिग्रह और अभ्यन्तर के मिथ्यात्व आदि चौदह परिग्रहों से सर्वथा रहित होना तथा उत्तम आकिञ्चनमयी निज शुद्धात्मा–स्वभावस्वरूप ज्ञान–दर्शन आदि अनन्त गुणों के वैभव की सम्पन्नता से प्रकट; सुखानुभूतिरस में निमग्नता; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

जो मुनि बाह्य–अभ्यन्तर सर्व प्रकार के परिग्रहों से मुक्त होकर, सुख–दुःख को जन्म देने वाले कर्मजनित भावों का निरोध कर, निर्द्वंद्वता से अर्थात् निश्चिन्तता से मोक्षमार्ग का आचरण करता है उसे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म होता है।[२]

---

१. ममेदमित्यभिसन्धि निवृत्तिराकिञ्चन्यम् ।।रा.वा. स.सि.

२. हो ऊणय णिस्संगो णियभावं णिग्गहितु सुहदु।
णिछंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्स किंच्णणह।।बा.अ. ७९

दूसरे शब्दों में, जीव से सर्वथा भिन्न बाह्य पदार्थों का संयोग और उनके निमित्त से होने वाले रागादि भाव; पौदगलिक, अध्रुव, सादि–सान्त हैं। ये जीव के स्वभाव नहीं हैं। जीव सदा ही एक, शुद्ध, अरूपी, ज्ञान–दर्शन–पूर्ण, अनुपम सुख–स्वरूपी है। जीव का ऐसा भाव; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

स्व–परिणामों से प्राप्त शरीर और पाँचों इन्द्रियों के संस्कारों का त्यागकर, उनके प्रति ममत्व की निवृत्ति; उत्तम आकिञ्चन है।[१] उससे प्रकट निज शुद्धात्मा का संस्कारित अतीन्द्रिय परम सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

बाह्य–अभ्यन्तर परिग्रहों की निवृत्ति; आकिञ्चन है। बाह्य में चेतन–अचेतन आदि समस्त दस प्रकार के परिग्रहों में और अभ्यन्तर में मिथ्यात्व, क्रोधादि चार कषाय और हास्य आदि नौ नोकषायों का नौ कोटि से त्याग; उत्तम आकिञ्चन है। अभ्यन्तर में आकिञ्चन होने से बाह्य में आकिञ्चन होता है। अभ्यन्तर में आकिञ्चन हुए बिना बाह्य में आकिञ्चनपना निष्फल है। अत: अभ्यन्तर परिग्रहों के त्याग के साथ बाह्य परिग्रहों की निवृत्ति/त्याग; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट एकाकी–एकत्व–स्वरूप निज शुद्धात्मा का आनन्द–स्वरूप परमसुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

दूसरे शब्दों में, बाह्य पदार्थों के त्याग से अभ्यन्तर में तद्जन्य रागादि विकल्पों की निवृत्ति होती है। यदि बाह्य पदार्थों/परिग्रहों का त्याग नहीं है तो अभ्यन्तर में मिथ्यात्व, कषाय आदि भावों की निवृत्ति नहीं होती है और वह उत्तम आकिञ्चन्यधर्म का धारक भी नहीं होता है। जैसे चावल पर से ऊपरी तुष (छिलका) हटने पर ही चावल, भात बनने के योग्य होता है। अथवा नारियल पर से जटा कवच हटने पर श्रीफल के ऊपर की लाली हटती है, तब वह श्रीफल भोज्य हो जाता है, वैसे ही बाह्य परिग्रहों की निवृत्ति से अभ्यन्तर में मिथ्यात्व, कषायों की निवृत्ति होती है। बाह्य–अभ्यन्तर परिग्रहों की निवृत्तिरूप भाव; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट शुद्धात्मसारभूत परम आनन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

किञ्चन = कुछ भी/थोड़ा भी। आकिञ्चन = कुछ भी नहीं/पूर्णरूप से कुछ भी नहीं। अनाकिञ्चन = किञ्चित भी है। आकिञ्चन्य = पर से रहित स्व–शुद्धात्म–वैभव।

१. आकिञ्चन्य का अर्थ है– अपरिग्रह से प्रकट शुद्धात्मा का परम सुखरस। आकिञ्चन कारण है और आकिञ्चन्यधर्म कार्य है। पुन: जिस प्रकार सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य

१. स.सि. ९/६

है, सम्यग्ज्ञान कारण है और सम्यग्चारित्र कार्य है, उसी प्रकार उत्तम आकिञ्चन कारण है और उत्तम आकिञ्चन्यधर्म कार्य है। **'नास्ति परिग्रहो यस्य अपरिग्रहः'** जिसके पास दस प्रकार का बाह्य और चौदह प्रकार का अभ्यंतर परिग्रह नहीं है, वह अपरिग्रही है, आकिञ्चन है। उससे प्रकट निज शुद्धात्म–वैभव; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

२. बाह्य–अभ्यन्तर परिग्रहों से सुखप्राप्ति की प्रतीति का त्याग; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट स्वात्म–वैभव का सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

३. समस्त चेतन–अचेतन पर–द्रव्यों और उनके प्रति एकत्व, राग–द्वेष आदि ममत्व भावों की निवृत्ति; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट निज शुद्धात्मा का वीतराग परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

४. ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मों का फल, जीव का स्वभाव भाव नहीं है, सर्वथा भिन्न भाव है, ऐसा जानना–मानना, इसी रूप रहना; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट निष्कर्म/कर्म–निरपेक्ष निज आत्माभावों का आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

५. ज्ञान–दर्शन स्वभावी निजात्मा के आश्रय से, पराश्रित ज्ञान–दर्शन को आत्म–स्वभाव न मानना और उससे निवृत्त रहना; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट ज्ञानानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

६. पराश्रय से शुभाशुभ विकारी भाव उत्पन्न होते हैं, जो कि जीव का सहज स्वभाव नहीं है, ऐसी प्रतीति; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट अनाश्रित, निर्विकार, शुद्धभावमयी परम सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

७. पर–पदार्थ एवं पर–भावों की, निजात्म–स्वभाव में ग्रहण करने की अस्वीकृति; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट निज स्वभाव–आश्रित स्व शुद्धात्म–स्वरूप का आनन्दस्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

८. स्व–पर के अनुग्रहार्थ बाह्य–अभ्यन्तर परिग्रहों का पूर्णरूप से परित्याग; उत्तम आकिञ्चन है। उससे स्व–अनुग्रह की प्रकटता से, स्व–शुद्धात्मा का परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

९. क्रोधादि चार कषायें और हास्यादि नौ नोकषायोंरूप परिग्रह का परित्याग करना; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट अकषाय–स्वरूप निजात्मा का शान्तिमयी परम आनन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

१०. हिंसा–अनृत–स्तेय–अब्रह्म, परिग्रहरूप की अविरतिरूप अव्रत भावों की अनुत्पत्ति, उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट व्रतरूप निजात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।
११. आत्म–परिणाम की विशुद्धि के घातक, परि–निमित्तक भावों का अभाव करना, उन्हें निज स्वरूप न मानना; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट सहज शुद्ध आत्म–परिणामों का परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।
१२. बाह्य पदार्थों की निजात्म–स्वरूप में अस्वीकृति; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट स्व–शुद्धात्मा का संवेदनमयी ज्ञानानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।
१३. परिग्रहों के ग्रहण–सङ्ग्रहण की इच्छा का अभाव; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट अपरिग्रह–स्वरूप शुद्ध निजात्म–गुणों का परम आनन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।
१४. समस्त चेतन–अचेतन पदार्थों का सम्बन्ध, जीव–स्वभाव से भिन्नत्व होने से, उनमें परत्व की अप्रीति; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट स्व–शुद्धात्मा में एकत्व–अनुभूतिमयी परम आनंद–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।
१५. शरीर आदि के संस्कार और उसकी संस्कारित क्रियाएँ शुद्धात्मा स्वभाव न मानना; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट संस्कारित शुद्ध निजात्म–स्वरूप का आनन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।
१६. समस्त पर भावों से भिन्न निजात्म–स्वभाव को स्व मानना; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट स्व शुद्ध निजात्मा का आनन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।
१७. जीव के स्वभाव में समस्त सङ्कल्प–विकल्प जालों का अभाव; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट निर्विकल्प, दैदीप्यमान, आत्मानुभूति–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।
१८. साता–सम्मान, ख्याति–लाभ, पूजा–प्रतिष्ठा आदि प्राप्ति की इच्छा का अभाव; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट स्व शुद्धात्म–स्वरूप में प्रतिष्ठित रह उसी में निमग्नता का आनन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।
१९. पाँचों इन्द्रियों के विषयभूत भोगोपभोगों की इच्छा का अभाव; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट अतीन्द्रिय सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।
२०. बाह्य विभूति से भिन्न आत्मीक अनन्त गुणों की विभूति का एकत्व/अपनत्व; उत्तम

आकिञ्चन है। उससे प्रकट अभिन्न गुणात्मक स्वात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

२१. पर–द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न, संयोगी भावों से भिन्न असंयोगी भाव; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट असंयोग–स्वरूप निजात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

२२. असत् पर्यायों से भिन्न सत्–स्वरूप शुद्धात्म द्रव्य; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट शाश्वत स्वात्म सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

२३. कर्मोदय–जन्य भोगों से भिन्न, सहज शुद्धात्म–भोग; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट स्व–शुद्धात्म–सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

२४. पर द्रव्यों के प्रति अग्राह्य भाव; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट स्व शुद्धात्मा का परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

२५. पर द्रव्य–गुण–पर्यायों से भिन्न, स्व द्रव्य–गुण–पर्यायों से अभिन्न; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट सत्–स्वरूप स्वात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

२६. रागादि विकारी भावों से भिन्न, वीतराग परमात्म–स्वरूप निजात्मा; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट वीतराग, अविकारी परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

अब यहाँ उत्तम आकिञ्चन्य धर्म–घातक परिग्रह का स्वरूप, उसके भेद एवं शमन के उपायों का विचार किया जाता है।

परिग्रह

समस्त चेतन–अचेतन पर–द्रव्य एवं तद्जन्य होने वाले पर–भाव में स्व–सम्बन्ध स्थापित रखनेरूप, आत्म परित्याग; अनाकिञ्चन/परिग्रह है।

उत्तम आकिञ्चन्यधर्म का घातक परिग्रह है। अतः परिग्रह का स्वरूप जानना अत्यावश्यक है।

परिग्रह का शाब्दिक अर्थ है– **परितः ग्रहणं परिग्रह।** पर–पदार्थों में ममत्व, आसिक्त; परिग्रह है। अपने संरक्षणार्थ पर–पदार्थों को लेना, उनके ग्रहण करने की स्वीकृति, अनुग्रह करना, शपथ लेना, अन्यजनों का स्वागत–सत्कार, आदर करना परिग्रह है।

जो ग्रहण किया जाता है, जिसके द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह बाह्य परिग्रह है। बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने में कारणभूत आत्म–परिणाम; अभ्यन्तर परिग्रह है अथवा लोभ कषाय

के उदय से विषयों के सङ्ग को परिग्रह कहते हैं। अर्थात् यह वस्तु मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ– ऐसा सङ्कल्प का होना परिग्रह है।

परिग्रह दो प्रकार का है। बाह्य परिग्रह और अभ्यन्तर परिग्रह। बाह्य परिग्रह दस प्रकार का है– १. क्षेत्र (खेत), २. वास्तु (मकान), ३. चाँदी, ४. सोना, ५. धन (पशु), ६. धान्य (अनाज), ७. दासी, ८. दास, ९. वस्त्र, १०. बर्तन।

अभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार के हैं– १. मिथ्यात्व, २. क्रोध, ३. मान, ४. माया, ५. लोभ, ६. हास्य, ७. रति, ८. अरति, ९. शोक, १०. भय, ११. जुगुप्सा, १२. स्त्रीवेद, १३. पुरुषवेद, १४. नपुंसकवेद।

उक्त चौबीस प्रकार के परिग्रहों के त्यागी निर्ग्रन्थ महा मुनिराज होते हैं। वे ही सम्पूर्ण उत्तम आकिञ्चन्यधर्म के धारी, परम शुद्धात्मानन्द–स्वरूप सुखरस के भोक्ता होते हैं।

जीवों को बाह्य पदार्थों के ग्रहण–सङ्ग्रहण का भाव/परिणाम; बाह्य परिग्रह है और उनके प्रति ममत्व एवं सुखद भाव; अभ्यन्तर परिग्रह है। दोनों ही प्रकार के परिग्रह; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म के घातक होने से सर्वथा त्याज्य हैं।

परिग्रह सर्व दोषों का मूल है।[१] ये बाह्य घर–बार, धन–सम्पत्ति, भाई, बन्धु, बान्धव, सेवक मेरे हैं, मैं इनका संरक्षण करता हूँ, ये मेरे हितकर कार्यों के सहयोगी हैं, मेरी वैयावृत्ति करते हैं– इस प्रकार के भावों से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म–सेवन के भाव होते हैं। नरकादि के जितने दुःख हैं वे सब बाह्य परिग्रहों के सङ्ग्रह करने की आसक्ति से होते हैं। परिग्रही को आगम में पशु–तुल्य कहा है। जो पुरुष निर्ग्रन्थ जिनलिङ्ग धारण कर परिग्रह को ग्रहण करता है, उसका चिन्तवन करता है, बहुत प्रयत्न से उसकी रक्षा करता है। उसकी बुद्धि पाप से मोहित हुई है, वह पशु तुल्य है, श्रमण नहीं है।[२]

अज्ञानी श्रमण; चेला–चेली, शास्त्र, पिच्छि–कमण्डलु आदि से हर्षित होता है। ये परिग्रह मुनिवर को मोह उत्पन्न करके, उन्मार्गगामी बना देते हैं। जिसने परिग्रह नहीं छोड़ा उसने अपनी आत्मा को ठग लिया है।[३]

१. सर्वार्थ सिद्धि ७/१७
२. सम्मूहदि रक्खेदि सदहं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।५।।लिंग पाहुड
३. प.प्र.मू. ९०–९८ तक

परिग्रह; हिंसा का पर्यायरूप है, एक उदाहरण–स्वरूप है। परिग्रह में हिंसा स्वयं–सिद्ध है। बाह्य परिग्रह में मूर्च्छा का परिणाम ही निश्चय से हिंसा को प्राप्त होता है।[१]

बाह्य पदार्थों का संयोग होने मात्र से परिग्रह नहीं होता है। यथा– चेतन पदार्थों में– आचार्यदेव का, अन्य गुणवृद्ध मुनि महाराजों का, अचेतन पदार्थों में– ज्ञान का उपकरण शास्त्र, संयम का उपकरण पिच्छि, शौच का उपकरण, कमण्डलु रखना परिग्रह नहीं है। क्योंकि इन उपकरणों के रखने पर भी मुनिराज को उनके प्रति ममत्व नहीं होता है। इन उपकरणों के सिवाय समस्त चेतन–अचेतन पदार्थों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने से परिग्रह होता है। अत: परिग्रह का सर्वथा त्याग करना अपरिग्रह है।

परिग्रह रखना धर्म कभी भी नहीं हो सकता है। कदाचित् कौआ, आकाश नाप ले; गूङ्गा, मधुर गुञ्जन करने लगे; लङ्गड़ा सुमेरू पर चढ़ जाये, गङ्गा नदी उत्तर की ओर बहने लगे, सूर्य; सुमेरू की विपरीत परिक्रमा करने लगे, सुमेरू चलायमान हो जाये, तारागण दिन में रेत के ढेर पर खिलने लगें– ऐसे अन्य अयोग्य असम्भव कार्य भी सम्भव हो जायें, तो भी हिंसा, परिग्रह धर्म नहीं हो सकता है।

कौआ नापे आकाश को गूङ्गा करे मधुर गुञ्जान।
लङ्गड़ा सुमेरू पर चढ़े, बहरा सुने सु सुस्वर गान।।
श्रीगङ्गा उत्तर बहे, सूर्य भ्रमे विपरीत।
मेरु भी होवे चलित, तारे दिवस चमकीत।।
ये अयोग्य हों कार्य, परिग्रह धर्म न हो मीत।

अत: दस प्रकार के बाह्य परिग्रहों का परित्याग करना; उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट बाह्य परिग्रहों से निवृत्तिरूप निजात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

आत्मा के अभ्यन्तर में संसारवर्धक विकारी परिणाम मिथ्यात्व आदि चौदह प्रकार के हैं। **मिथ्यात्व–** अन्यथा श्रद्धान अतत्त्व/श्रद्धान; पाँच प्रकार का है– विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान।

कषायें चार– क्रोध, मान, माया और लोभ। नौ नोकषायें– यथा; **हास्य**– हर्ष, मुस्कुराहट, हँसने रूप, उल्लास, उपहास आदि। **रति**–अनुराग, प्रेम, आह्लाद आदि। **अरति**–शत्रुता,

१. हिंसा–पर्यायत्वसिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु।
बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छेव हिंसात्वम्।।११९।।पु.सि.उ.

बदले का भाव आदि। **शोक**–इष्ट–वियोग, मानसिक कष्ट आदि। **भय**–भीति, कँपकँपी, थर्राहट आदि **जुगुप्सा**–भर्त्सना, **डाँट**–फटकार, अरुचि, घृणा, निन्दा आदि। **वेद**–स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद के भोगनेरूप भाव। इनके परित्याग से उत्तम आकिञ्चन है। उससे प्रकट शुद्ध भावमयी निजात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

उत्तम आकिञ्चन्यधर्म–घातक अभ्यन्तर कारण तो पर पदार्थों के प्रति एकत्व–ममत्व भाव है और बाह्य साधनभूत कारण अनेक हैं। यथा– बाह्य परिग्रह, कषाय, भोगोपभोग, पर–समय, याचना,देह, श्रम, अयोग्य कार्य, लौकिक–पुरुषार्थ, लुब्धता आदि अनेक कारणों से अनाकिञ्चन भावों की उत्पत्ति होती है। उससे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म का घात होता है।

बाह्य परिग्रहरूप अनाकिञ्चन– बाह्यरूप अनाकिञ्चन दो प्रकार का है– चेतन और अचेतन। चेतनरूप परिग्रह–शिष्यों की वृद्धि, उनके पालन–पोषण की व्यवस्था, वर्तमान और भविष्य के लिए करना। अचेतनरूप परिग्रह–ग्राम, नगर, वन, क्षेत्र, संस्थाएँ, वस्त्र, वित्त आदि की वृद्धि एवं उनके संरक्षण की चिन्ता करना। अव्यक्त परिग्रह–अपना नाम, परिवार, ग्राम की प्रसिद्धि और विकास करने की इच्छा के रखने से परिग्रहरूप अनाकिञ्चन होता है। अनाकिञ्चन से परिणामों में क्षुब्धता आती है। जैसे तालाब में पत्थर डालने से तलभाग का कीचड़ ऊपर आ जाता है, वैसे ही परिग्रह रखने से जीव की शान्त हुई विषय–भोगों की इच्छाएँ प्रकट हो जाती हैं। मोह–राग–द्वेष, आशा–तृष्णा बढ़ती जाती है। तीन लोक की सम्पदा– प्राप्ति की चाहरूप अग्नि धधक उठती है। उससे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म का दहनरूप घात होता है।

बाह्य परिग्रहरूप अनाकिञ्चन की निवृत्ति और उत्तम आकिञ्चन्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

बाह्य परिग्रह के भाव; आकुलता के जनक, दु:खरूप, दु:ख के कारण और कर्मबन्ध के हेतु हैं। समस्त चेतन–अचेतन पदार्थ, संस्थाएँ, नगर आदि मुझसे/जीव से भिन्न हैं। शरीर–सम्बोधन के नाम से मेरा किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है। नाम तो मात्र व्यक्ति के सम्बोधन के लिए रखा जाता है। एक ही नाम के तो अनेक व्यक्ति होते हैं। अत: परिग्रहरूप/अनाकिञ्चन का सर्व प्रकार से त्याग कर, जीव को उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

कषायरूप अनाकिञ्चन– क्रोधादि चार कषायें और हास्य आदि नौ नोकषायें संसार–परिभ्रमण की हेतु हैं। कषायरूप प्रवर्तन करने से जीव के परिणाम आर्त–रौद्ररूप सङ्क्लेशित होते हैं। इस लोक, पर–लोक सम्बन्धी भोगोपभोगों की रुचि, परिग्रह और

परिग्रहियों की महिमा, आत्म–प्रशंसा, पर की निन्दा, वैरभाव आदि अनेक दोष प्रकट हो जाते हैं। उससे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म का घात होता है।

कषायरूप अनाकिञ्चन की निवृत्ति और उत्तम आकिञ्चन्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

कषायें; आत्मा के शुद्ध स्वरूप की घातक हैं। लौकिक जनों का संसर्ग कषायों को जन्म देता ही है। आर्त–रौद्र ध्यान दुर्गति के दुःखों का जनक होने से, दोनों ध्यान छोड़ कर, धर्म्य–ध्यानमय आत्म–ध्यान करना परम कर्तव्य है। अतः जीव को निर्विकल्प आत्मध्यान से अकषायरूप निज उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

भोगोपभोगरूप अनाकिञ्चन– भोगोपभोग के भाव अनाकिञ्चन हैं। अतीत के भोगोपभोगों का स्मरण, वर्तमान में रुचि/आसक्ति, भविष्य में प्राप्ति की अभिलाषा करना, भोगोपभोगरूप अनाकिञ्चन है। जीव; भोगोपभोग के कारणभूत सामग्रियों का सम्वर्धन और संरक्षण करता है। जीव; भोगोपभोग सामग्रियों की अधिकता होने पर अपने को सुखी और अल्पता/न्यूनता होने पर अत्यन्त दुःखी मानता है। उससे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म का घात होता है।

भोगोपभोगरूप अनाकिञ्चन की निवृत्ति और उत्तम आकिञ्चन्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

भोगोपभोग की सामग्रियाँ अपने कारण से स्वयमेव परिणमित होती हैं। उनका क्षेत्र से क्षेत्रान्तर स्वकीय काल में होता है। उन सामग्रियों के परिणमन से कोई जीव स्वयं अपने भावों से सातारूप तो कोई असातारूप वेदन करता है। जीव, भोगोपभोग की सामग्रियों की प्राप्ति और उनका संरक्षण नहीं कर सकता है। अतः प्राप्त सामग्रियों से सुख–प्राप्ति की वासना त्याग कर, जीव को स्वात्म भोगोपभोगरूप निज उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

ज्ञानी जीव को भोगोपभोगों के प्रति विरक्ति का भाव होने से प्राप्त सामग्रियों का परिग्रह नहीं होता है। ज्ञानी; निजात्मा को ही स्व मानता है, अन्य को नही। १०८ आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसार में लिखते हैं– अपनी आत्मा को ही निश्चितरूप से अपना परिग्रह जानता हुआ कौन ज्ञानी पुरुष कहेगा कि पर द्रव्य मेरा है[१] ज्ञानी; पर–द्रव्यों के भोगोपभोग का ज्ञातामात्र है। वह इनका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान करता है, इसलिए वह आकिञ्चन–स्वरूप होता है।

१. को णाम भणिज्ज बुहो परदंव्वं मम इदं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो।।२०७।।स.सा.

अत: जीव को भोगोपभोग का सर्वथा त्याग कर, निरूपभोग–स्वरूप निज उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

परसमयरूप अनाकिञ्चन– परसमय (पर+ समय) पर= स्वातिरिक्त, एकान्त–शत्रु, अन्य, भिन्न। समय = आत्मा। परसमय का अर्थ है– स्वातिरिक्त एकान्त कर्म–शत्रुओं में लीनतारूपी आत्मा। अर्थात् जीव; पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित है, एकान्त–रूप से प्राप्त पर्याय में लीन है। अत: वह परसमय है। परसमय–रत जीव एकान्त से कर्म–शत्रुओं को ही अपना मानता है। वह प्रशस्त क्रियाओं के करने से मोक्ष मानता है। उसकी यह मान्यता परसमयरूप अनाकिञ्चन है। उससे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म का घात होता है।

परसमयरूप अनाकिञ्चन की निवृत्ति और उत्तम आकिञ्चन्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जो जीव शुद्ध दर्शन–ज्ञान–चारित्र में स्थित है, उसे ही स्व समय जानो और जो पौद्गलिक कर्म–प्रदेशों में स्थित है उसे परसमय जानो।[१] स्वसमय (रत्नत्रय) योग और कषायरूप न होने से कर्मबन्ध नहीं होता, मोक्ष होता है। रत्नत्रय–सम्पन्न जो मुनिराज सर्वार्थसिद्धि गये हैं, वे रत्नत्रय से नहीं, शुभोपयोग के अपराध से गये हैं।[२] स्वसमय में स्थित आत्मा उत्तम आकिञ्चन्यधर्ममयी होता है। अत: जीव को स्वसमय–स्वरूप निज उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

याचनारूप अनाकिञ्चन– आवश्यक या अनावश्यक किसी भी प्रकार के पदार्थ, वित्त (धन) आदि की प्राप्ति हेतु विनम्रतापूर्वक प्रार्थना, विनती, निवेदन करना, माँगना; याचनारूप अनाकिञ्चन है। याचना स्व या पर के लिए की जाती है। मेहमान की व्यवस्था हेतु दातार की स्तुति कर, उसे सम्मान का लोभ दिखाकर, उससे आहार–जल, भवन, वाहन आदि का ग्रहण करना; याचनारूप अनाकिञ्चन है, जो कि लोकनिन्द्य है। उससे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म का घात होता है।

याचनारूप अनाकिञ्चन की निवृत्ति और उत्तम आकिञ्चनधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

---

१. जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो तं हि ससमयं जाण।
पोग्गलं कम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं।।२।।स.सा.
२. दर्शनबोध–चरित्रं न योगरूप न कषायरूपं च।२१५।।पु.सि.उ.
रत्नत्रयमिह हेतु र्निवाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराध:।।२२०।।पु.सि.उ.

उत्तम आकिञ्चन्यधर्म अलौकिक है। उत्तम आकिञ्चन्यधर्म के धारक मुनिराजों की वृत्ति–प्रवृत्ति अलौकिक होती है। 'पुरुषार्थ सिद्धि उपाय' शास्त्र में १०८ आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी लिखते हैं– **मुनिनामलौकिकी वृत्ति।** मुनिराज की अलौकिक वृत्ति होती है, वे तो स्वयं के आहारार्थ भी दातार की प्रशंसा नहीं करते हैं। यहाँ तक कि वे आहार–ग्रहण की भी याचना नहीं करते हैं; विधिपूर्वक, विधि में, विधि से आहार ग्रहण करते हैं। यदि कोई दातार उत्साह और प्रेम/रति/प्रीति से भी देना चाहे तो उनसे भी आहार नहीं लेते हैं। कुरल काव्य में लिखा है कि तुम चाहे गाय के लिए पानी ही क्यों न माँगो, फिर भी जिह्वा के लिए याचना–सूचक शब्दों का उच्चारण तो करना ही पड़ता है। लौकिक में एक कहानी प्रचलित है– वैभव–सम्पन्न, धनाढ्य एक व्यक्ति हाथी पर बैठकर दूसरे नगर जा रहा था। उसे चिलम पीने की आदत थी। वह चकमक घर पर ही भूल आया था। उसे चिलम पीने की इच्छा हुई, चकमक पास न होने से उसने रास्ते में एक व्यक्ति से चकमक माँगा। उसने बोला– अन्नदाता! देता हूँ अर्थात् उसने दीनतापूर्वक चकमक प्राप्ति के लिए याचना की। अतः स्पष्ट है– याचना करना नीचता है, याचक को वस्तु देय योग्य होने पर भी न देना, याचक से भी अधिक नीचता है। जो बोले कि मुझसे कुछ ले लीजिए वह उच्च पुरुष है और जो लेता नहीं वह उससे भी अधिक उच्च पुरुष है। किसी कवि ने लिखा है–

देयो कहें नीचा पुरुष, नाहिं देय मुँह नीच।
लेयो कहें ऊँचा पुरुष, नाहि लेय मुँह ऊँच।।

अतः जीव को अयाचीक–स्वरूप निज उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

देहरूप अनाकिञ्चन– देह–मन–वाणी में अपनत्व जानना–मानना; देहरूप अनाकिञ्चन है। शरीर, जाति, कुल, लिङ्ग ये मैं हूँ, ये मेरे हैं। इनकी प्रसिद्धि ही मेरी प्रसिद्धि है। घर–परिवार, सम्पत्ति की वृद्धि; मेरी वृद्धि है। पाँचों इन्द्रियों से भोगा जानेवाला सुख ही आत्मीक सुख है। शरीर को पुष्ट रखना/करना, विषय–भोगों की सामग्रियों का सङ्ग्रह और सम्वर्धन करना तथा विषय सेवन की तीव्र लालसा रखने से उत्तम आकिञ्चन्यधर्म का घात होता है।

देहरूप अनाकिञ्चन की निवृत्ति और उत्तम आकिञ्चन्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

मैं देह, मन–वाणी, जाति आदि से सर्वथा भिन्न अदेह–स्वरूपी भगवान् आत्मा हूँ। मैं पञ्चेन्द्रिय जन्य विषयभोगों का ज्ञाता हूँ, भोगता नहीं हूँ, ज्ञातामात्र हूँ। मेरा स्वभाव सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रमयी है। इससे भिन्न अन्य किञ्चित् भी मेरा नहीं। मैं तो इन्द्रियजन्य विषय–भोगों का नहीं, अतीन्द्रिय निजात्मसुख का भोक्ता हूँ। देह, पौदगलिक है,दर्शन–ज्ञान–चारित्रशून्य दु:खों का घर है। अत: मैं देह सम्बन्धी बुद्धि से भिन्न चैतन्य–स्वरूपी निर्विकल्प ज्ञानमय आत्मा हूँ। अत: जीव को ज्ञानस्वरूप, देहरहित निज उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

पर के प्रति श्रमरूप अनाकिञ्चन– परद्रव्य और परभावों में ज्ञानोपयोग का भटकना; श्रमरूप अनाकिञ्चन है। पर के प्रति श्रम से उपयोग श्रमित हो जाता है, थक जाता है। थका हुआ उपयोग; प्रमत्तरूप प्रवर्तित रहता है, आकिञ्चन्यधर्म की साधना नहीं कर पाता है। प्रमादवश जीव सर्व कर्ममल–कलङ्कों से मलिन/कलङ्कित हो जाता है। जीव पर (विभाव) में अथक श्रम करने से सर्व सिद्धियाँ और मोक्ष की प्राप्ति मानता है। उससे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म का घात होता है।

श्रमरूप अनाकिञ्चन की निवृत्ति और उत्तम आकिञ्चन्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

उपयोग को निज शुद्धात्म–स्वररूप में निमग्न रखने से वह थकित नहीं होता है और निज शुद्धात्म–स्वरूप में निर्विकल्प विश्राम करता है। निज शुद्धात्म–स्वरूप में विश्रान्ति से कर्ममल–कलङ्क धुल जाता है और निर्मल–निष्कलङ्क आत्म–स्वभाव प्रकट पूर्णरूप से प्रकट हो जाता है। अत: जीव को निज उपयोग को पर में थकित न कर, स्वरूप–विश्रान्त निज उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

भावरूप अनाकिञ्चन– मनोज्ञ–अमनोज्ञ विषयों में, जीव के मोह–राग–द्वेषरूप भाव; भावरूप अनाकिञ्चन है। जीव को, स्पर्श–रस–गन्ध–वर्ण–शब्द आदि में मग्नता के भाव, वस्तु के आलम्बन से होते हैं। अध:कर्म और औद्देशिक दोषरूप भाव, निजात्म–स्वरूप की असावधानी से होते हैं। इस प्रकार पर–निमित्तक सदोष–भावों में रुचि; भावरूप अनाकिञ्चन है। उससे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म का घात होता है।

भावरूप अनाकिञ्चन की निवृत्ति और उत्तम आकिञ्चन्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

पर पदार्थों में मनोज्ञ–अमनोज्ञ, मोह–राग–द्वेष करना अज्ञान है। उनमें सुख–बुद्धि का होना, आत्म–अहितकर है। अत: जीव को उनका प्रत्याख्यान कर, शुद्ध भाव–स्वरूप निज उत्तम आकिञ्चन्य धर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

अयोग्य कार्यरूप अनाकिञ्चन– संसारासक्त जनों से प्रीति करना। शरीर को हृष्ट–पुष्ट रखने को सरस आहार करना और उसे सुन्दर दिखाने के लिए उबटन, तेल आदि का मर्दन, योग–साधना करना। आहार–ग्रहण के समय दातारों के साथ हास्य एवं पारिवारिक राग–पोषक चर्चा–वार्ता करना। धर्म–विरुद्ध आचार–विचार वालों की सङ्गति में रहना। लौकिक क्रियाओं में संलग्न रहना। कलह–विसंवाद करना। शृंगार–पोषक शारीरिक हाव–भाव करना। गीत–गाना, वाद्य बजाना, संगीत में रुचि रखना। ईर्यापथ–शुद्धि के बिना दौड़ते हुए, उछल–कूद कर चलना। गृहस्थों, महिला वर्ग और शिष्यों पर स्नेह रखना। इस प्रकार आगम–विरुद्ध अन्य कार्यों में संलग्न रहना; अयोग्य कार्यरूप अनाकिञ्चन है। उससे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म का घात होता है।

अयोग्य कार्यरूप अनाकिञ्चन की निवृत्ति और उत्तम आकिञ्चन्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

शरीर और शारीरिक क्रिया–कलापों पर हित की/सुख की दृष्टि रखने से शरीर और आत्मा में एकत्व बुद्धि हो जाती है। उससे मोक्षमार्ग में पतन होता है और जिनधर्म का उपहास होता है। अनाचारियों की सङ्गति से स्वयं के आचार–विचारों में शिथिलता, विपरीतता आ जाती है। यहाँ तक कि आचार–विचार नष्ट हो जाते हैं। अत: अयोग्य कार्यों का सर्वथा त्याग कर, जीव को निष्क्रिय निज उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में निमग्न रहना ही श्रेयस्कर है।

लौकिक पुरुषार्थरूप अनाकिञ्चन– पुरुषार्थ का अर्थ है– मनुष्य जीवन का अति आवश्यक प्रधान उद्देश्य। अर्थात् प्रयोजनभूत पदार्थ की सिद्धि के लिए किया गया उद्यम; पुरुषार्थ है। लौकिक में पुरुषार्थ के चार अङ्ग कहे हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।[१]

धर्म– कुलाचार। पुण्यरूप क्रियायें। **अर्थ–** स्वर्ण, रजत, वित्त, पैसा आदि। **काम–** स्त्री के विषयभोग। **मोक्ष–** स्वर्गलोक। इन चारों प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति का उद्यम/उपाय करना पुरुषार्थरूप अनाकिञ्चन है। ये चारों प्रकार के पुरुषार्थ अन्यथा श्रद्धान एवं मद की उत्पत्ति के हेतुभूत है और इन्द्रियज विषयभोगों की वाञ्छा कारक, निदान–बन्ध के कारण हैं।

१. धरम अरथ अरु काम सिव पुरषारथ चतुरंग।।१३।।स.सा.ना. बन्ध।

मिथ्यादृष्टि व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति के लिए इन चारों प्रकार के पुरुषार्थ स्वयं करता है और अन्य जनों को इनके करने का उपदेश देता है। उससे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म की घात होता है।

पुरुषार्थरूप अनाकिञ्चन की निवृत्ति और उत्तम आकिञ्चन्य धर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए–

परमात्मप्रकाश में १०८ आचार्य योगींद्र (योगींदु) देव द्वितीय महाधिकार में लिखते हैं–

धम्महँ अत्थहँ कामहँ वि एयहँ सयलहँ मोक्खु।
उत्तमु पभणहिं पाणि जिय अण्णे जेण ण सोक्खु।।२/३।।

हे जीव धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों में उत्तम पुरुषार्थ मोक्ष है। क्योंकि अन्य पुरुषार्थों में परम सुख नहीं है।

इस दोहे की टीका में १०८ ब्रह्मदेवस्वामी लिखते हैं– धर्म शब्द से यहाँ पुण्य समझना, अर्थ शब्द से पुण्य का फल– राज्य, सम्पदा जानना और काम शब्द से राज्य का मुख्य फल स्त्री, वस्त्र आदि जानना।

राज्यादि से विभूति विशेष, काम शब्द से राज्य का मुख्य फल–भूत स्त्री, वस्त्र, सुगन्धित माला आदि सम्भोग जानना तथा वीतराग परमानन्द सुखरूप अमृतरस का आस्वाद मोक्ष है।

धर्म–पुरुषार्थ– पुरुष को वस्तु–स्वभाव की यथार्थ प्रतीति करता है। **अर्थ पुरुषार्थ–** शुद्धात्म द्रव्य की उपलब्धि है। **काम पुरुषार्थ–** आत्मा के स्वभाव की निस्पृहता है। **मोक्ष पुरुषार्थ–** कर्म–बन्ध के अभाव का नाम मोक्ष है।[१] इस प्रकार आत्म–स्वभाव में चारों पुरुषार्थों को समझकर, पुरुषार्थ करना चाहिए। ये चारों प्रकार के पुरुषार्थ सुख–स्वरूप हैं। इनके सिवाय अन्य लौकिक पुरुषार्थ नहीं करना चाहिए। आत्मा–पुरुषार्थी पुरुष को लौकिक सिद्धियाँ तो धान्य–प्राप्ति के साथ तुष–प्राप्ति की भाँति सहज सिद्ध हो जाती हैं। भेदाभेद रत्नत्रयधारी के प्रशस्त भाव परम्परा से मोक्ष के हेतुभूत हैं।

---

१. कुल को आचार ताहि मूरख धरम कहे,
पंडित धरम कहें वस्तु के स्वभाव को।
खेह को खजानौ ताहि अग्यानी अरथ कहे,
ग्यानी कहे अरथ –दरसाउकौ।।
दंपति के भोग ताहि दुरबुद्धि काम कहें,
सुधी काम कहे अभिलाष चित्त चाउकौं।
इन्द्रलोक थानकौं अजान लोग कहें मोख,
सुधी मोख कहें एक बन्ध के अभावकौं।।१४।।सा.सा.ना. बन्ध

जीव को प्रशस्त पुरुषार्थ करने का फल सुगति की प्राप्ति, उत्तम भोगों की उपलब्धि है, जो कि संसार–स्वरूप है। समस्त सुकृत भोगियों को भोगमूलक हैं। अत: भव से विमुक्त होने के लिए समस्त सुकृत छोड़कर, सार तत्त्व–स्वरूप समयसार को भजना चाहिए।[१] लौकिक चारों पुरुषार्थ छोड़कर, स्वात्म पुरुषार्थ कर, जीव को निज शुद्धात्म–स्वरूप उत्तम आकिञ्चन्य धर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

अज्ञानरूप आकिञ्चन– मनुष्य को जिनागम का सम्यक् ज्ञान न होने से वह स्वच्छन्द या पराधीन हो प्रवर्तन करता है। वह भोगीजनों को अपना मानकर उनका समागम और भोग–सामग्रियों को सुखदायक मानकर उनका सङ्ग्रह करता है। व्यक्ति के पास भोग्य बाह्य पदार्थों का सङ्ग्रह न होने पर भी उनकी प्राप्ति का उद्यम करता है। अन्तरङ्ग में भौतिक/बाह्य शारीरिक, सांसारिक सुखप्राप्ति के लिए उसका मिथ्यामत का श्रद्धान और प्रयोजनभूत तत्त्वार्थों का अन्यथा श्रद्धान करना, सागार को निरागार मानना, पाँच प्रकार के वस्त्रों में रुचि, सदोष आहार ग्रहण करना, मूलगुणों की उपेक्षा करना, साता–सम्मान पाने के लिए उपाय करना, आर्त–रौद्रध्यान करना; अज्ञानरूप अनाकिञ्चन है। उससे उत्तम आकिञ्चनधर्म का घात होता है।

अज्ञानरूप अनाकिञ्चन की निवृत्ति और उत्तम आकिञ्चन्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

व्यक्ति को वीतराग सर्वज्ञदेव–प्रणीत जिनश्रुत का अभ्यास और मूलसङ्घ के अन्वय–आम्नायी निर्ग्रन्थ गुरुओं का समागम करना चाहिए। अपनी समस्त प्रवृत्तियाँ वीतराग–पोषक एवं कर्मों की संवर–निर्जरा के लिए करना चाहिए। शारीरिक शृंगार के हेतुभूत सुगन्धित द्रव्यों एवं समस्त प्रकार के वस्त्रों का नौ कोटि से त्याग करना चाहिए। छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थों का यथार्थ श्रद्धानपूर्वक, धर्म्य–ध्यान और शुक्ल–ध्यान के बल से जीव को निज उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

लुब्धतारूप अनाकिञ्चन– पर–पदार्थों को सुखकर जानना–मानना और इन्द्रियजन्य विषय भोगों की आसक्ति; लुब्धतारूप अनाकिञ्चन है। उससे मनुष्य के चित्त में अशुद्धता और वीतराग निर्ग्रन्थरूप मोक्षमार्ग के प्रति उपेक्षा वर्तने लगती है। वह दरिद्री मनुष्य की भाँति

१. सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं,
त्यजतु परमतत्त्वाभ्यास निष्णात् चित्त:।
उभय समयसारं सार तत्व–स्वरूपं
भजतु भवविक्तै कोऽत्र दोषे मुनीश:।।१४१।।नि.सा.

जहाँ–तहाँ बाह्य पदार्थों की याचना करने लगता है। विषयों की लुब्धता के कारण मोहाविष्ट हो जाता है। उससे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म का घात होता है।

लुब्धतारूप अनाकिञ्चन की निवृत्ति और उत्तम आकिञ्चन्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

आत्मा; कर्मोदय–जनित सुख–दु:ख का भोक्ता नहीं है, ज्ञातामात्र है। आत्मा; जीवादि नौ तत्त्वों से भिन्न चैतन्य–स्वरूप है। अत: आत्मा को अपनी सर्वशक्तियों को एकत्र कर, स्व शुद्धात्म–स्वरूप में स्थित रह, अलुब्ध–स्वरूप निज उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

उत्तम आकिञ्चन्यधर्म का फल– उत्तम आकिञ्चन्यधर्म; आत्मा को रागादि से भिन्न वीतराग–विज्ञानमयी, समयसार–स्वरूप निजात्मानुभूति कराता है। यह मोक्ष प्राप्ति का समागम–कारक, मोक्षस्वरूप है। पर–द्रव्यों के प्रति एकत्व–ममत्व न होने से सांसारिक–शारीरिक विषय–भोगों का विरक्तिकारक है। यह समस्त सङ्कल्प–विकल्पों का विनाशक है। संसार–सागर से पार होने को दृढ़ जहाज है। निज शुद्धात्म–स्वरूप में लीनतावर्धक है। अनादि से आद्य–अवधि जितने भी सिद्ध हुए हैं और भविष्य में होंगे वे सभी भेदविज्ञान से प्रकट हुए उत्तम आकिञ्चन्यधर्म से हुए हैं।

उत्तम आकिञ्चन्यधर्म का यथार्थ स्वरूप समझकर सभी आत्माएँ उत्तम आकिञ्चन्यधर्म स्वरूपी निजात्मा में निमग्न रहे, ऐसी मेरी मङ्गल भावना है।

दशधर्म–स्कन्ध

अकिञ्चनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्यादि पतिर्भवे।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं, रहस्यं परमात्मन:।।

अर्थ : मैं अकिञ्चन हूँ, कुछ भी मेरा नहीं, ऐसी भावना करने से तू शीघ्र ही तीन लोक का स्वामी होगा। योगीश्वरों के गम्य परमात्मा बनने का रहस्य मैंने तुझको कहा है।

उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म

मङ्गलाचरण

निज स्वरूप में लीन रह, उत्तम ब्रह्मचर्य होय।
उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म से, सहज ब्रह्मानन्द होय।।

आत्मा का, उत्तम क्षमा–मार्दव–आर्जव–शौच–सत्य–संयम–तप–त्याग–आकिञ्चन्य धर्म के समान, एक लक्षण उत्तम ब्रह्मचर्य है।

'उत्तम ब्रह्मचर्य' में उत्तम विशेषण है। जो कि समग्यदर्शन का सूचक है। ब्रह्म का अर्थ है– परमात्मा, शुद्धात्मा, चर्य का अर्थ है– मग्नता, लीनता, नियमित अनुष्ठान आदि। धर्म का अर्थ है– स्वभाव, आनन्द। अतः उत्तम ब्रह्मचर्य का अर्थ है– सम्यग्दर्शन–ज्ञान सहित निज परमात्म–स्वरूप में आनन्द–स्वरूप सुखरसमयी लीनता।

दूसरे शब्दों, में जिसके पालन करने पर अहिंसा आदि गुण बढ़ते हैं वह ब्रह्म है।[१] ब्रह्म में मग्नरूप आनन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्य है। अर्थात् ब्रह्म–स्वभावी निज शुद्धात्मा में रमणता; उत्तम ब्रह्मचर्य है। अथवा 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है– निर्मल ज्ञान–स्वरूप निज शुद्धात्मा। उसी शुद्ध आत्मा में लीनता, निमग्नता; उत्तम ब्रह्मचर्य है।[२]

मिथुनस्य भावः मैथुनं– मिथुन का भाव मैथुन है। मैथुन के भावों से सर्वतः निवृत्ति तथा ज्ञान और शुद्धात्मा विषयक स्वतन्त्रतया आत्मप्रवृत्ति को उत्तम ब्रह्मचर्य कहते हैं।

निश्चयशील (ब्रह्मचर्य) बहिरङ्ग कारणरूप जो काम–क्रोध आदि के त्यागरूप व्रत की रक्षा, वह व्यवहारशील (उत्तम ब्रह्मचर्य) है और निश्चय से अन्तरङ्ग में स्व शुद्धात्म–द्रव्य का निर्मल अनुभव है वह शील (उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म) है। अतः शुद्ध आत्मा ही शील (उत्तम ब्रह्मचर्य) है।[३]

शुद्ध ज्ञानोपयोग का स्व शुद्धात्म–स्वरूप में रमण करना और उसी में रमे रहने से प्रकट स्वात्मसुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

---

१. अहिंसादयो गुणा यश्मिन् परिपाल्यमाने बृहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद ब्रह्म।७/१६ स.सि.

२. आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्य पर स्वाङ्गासंग–
विवर्जितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुनैः... १२/२ प.प.वि.

३. प.प्र.टी. ९३

उत्तम ब्रह्मचर्य कारण है और उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म कार्य है। कारण में कार्य का उपचार कर, उत्तम ब्रह्मचर्य को उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म निरूपण किया है। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है सम्यग्ज्ञान कारण है और सम्यग्चारित्र कार्य है, उसी प्रकार उत्तम ब्रह्मचर्य कारण है और उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म कार्य है।

१. ब्रह्म–स्वरूप निजात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करने का अनुष्ठान; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट स्वाभाविक ज्ञानानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।
२. आत्मवीर्य के बल से मिथुन भावों की सर्वथा निवृत्ति; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट एक शुद्ध भावमयी निजात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।
३. परमात्म–स्वरूपी अनन्त गुणमयी निजात्मा में लीनता का अनुष्ठान करना; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट अनन्त गुणमयी सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।
४. आत्मवीर्य की सामर्थ्य से निज शुद्धात्मा में रमण करने का उपाय; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट शाश्वत सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।
५. निज शुद्धात्म–स्वभाव के आश्रय से किया गया अनुष्ठान; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट शुद्ध आत्म–स्वातन्त्ररूप आनन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।
६. परभावों की मलिनता की निवृत्तिपूर्वक, निर्मल निजात्म स्वभाव में प्रवृत्ति; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट अमल परमानन्द स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।
७. निज शुद्ध आत्म–स्वभाव में निमग्नता; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट शुद्ध आत्मा का परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।
८. ध्यान–ध्याता–ध्येय के विकल्पों से मुक्त चैतन्य–भाव में नियमित अनुष्ठान; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट निर्विकल्प परम चिदानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।
९. ज्ञानोपयोग का बाह्य पदार्थों में रमण न कर, स्व शुद्ध आत्मा में रमण करना; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट निजात्मा स्वभाव में उपयोग की रमणतारूप परम आनन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।
१०. पर द्रव्यों के सम्बन्ध से मुक्त होकर निज शुद्ध स्वभाव के सम्पादन में संलग्न चित्तवृत्ति; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट स्व शुद्धात्म में रमणता–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।
११. उपयोग का सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रमयी स्वात्मा में रमना; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे

प्रकट अभेद निश्चय रत्नत्रयमयी निजात्मा का परम आनन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

१२. निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा में चरण करना; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट परम ज्ञानानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

१३. आत्मा में रागादि की अनुत्पत्ति का अनुष्ठान; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट वीतराग, अहिंसामयी परम सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

१४. भेद रत्नत्रयपूर्वक, अभेद रत्नत्रय में चित्त की स्थिरता; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट अविचल अभेद शुद्ध गुणात्मक परम आत्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

१५. इन्द्रिय–ज्ञान को जलाञ्जलि देकर अतीन्द्रिय–ज्ञान में चित्त की लीनता; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट अतीन्द्रिय परम सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

१६. पञ्चेन्द्रिय विषयों से पूर्ण मुक्त होकर, अतीन्द्रिय–विषयक निजात्मा में मग्नता; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट इन्द्रियातीत अतीन्द्रिय परम सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

१७. पाँचों इन्द्रियों के अब्रह्म का त्याग कर, ब्रह्म–स्वरूप निजात्मा में रमण करना; उत्तम–ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट ब्रह्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

१८. पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तियों के परिपालनरूप परिणाम; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट शुद्ध चारित्रमयी सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

१९. परम ब्रह्म–स्वरूप निजात्मा की आराधना; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट निज परम ब्रह्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

२०. निज आत्मवीर्य के बल से निजात्मानुभूति की वृद्धि का अनुष्ठान; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट निज शुद्ध परिणति का परम निजानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

२१. समस्त चेतन–अचेतन स्त्री–विषयक राग की निवृत्ति; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट निज शुद्ध परिणति का परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

२२. आत्मा के मिथुन भावों की निवृत्ति; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट एक शुद्ध चैतन्य भाव का परम सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

२३. सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता का उपाय; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट मुक्ति स्वरूप उपेय परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

२४. द्रव्यश्रुत–भावश्रुत से हेय–ज्ञेय–उपादेय तत्त्वार्थों का ज्ञानकर, उपादेय तत्त्व में चित्त की

स्थिरता; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट उपादेय–स्वरूप परम आत्म–सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

२५. मोह–राग–द्वेष आदि विकारी भावों में रमण न करना; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट स्व शुद्धात्मा में निर्मल रमणता का परम सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

२६. पर से विभक्त, स्व से अविभक्त, निज ब्रह्मस्वरूप में उपयोग की स्थिरता; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट स्व से अविभक्त परम ब्रह्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

२७. काम–भोग की वासना से विमुखता; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट निष्काम–स्वरूप स्व–शुद्धात्मा का परम आनन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

२८. पर स्त्री एवं पर परिणति के विषयों से विरक्ति; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट स्वात्मा की शुद्ध परिणति का परम सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

२९. कुशील भावों से विरक्ति; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट सुशील भावों में लीनतारूप परम सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

३०. ज्ञान–दर्शनमयी स्वात्मपरिणति में स्थिरता; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट परम स्वात्म सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

३१. रागदि भावों की उत्पत्तिरूप हिंसा की अनुत्पत्ति; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट अहिंसा–स्वरूप धर्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

३२. ज्ञान की निष्काम–स्वरूप निजात्मा में स्थिरता; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट अकम्प–स्वरूप स्व शुद्धात्मा का सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

३३. अभेद रत्नत्रयमयी स्वात्मा में मग्नता; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट मोक्षस्वरूप परमानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है।

३४. स्व–परिणति का अब्रह्म सम्बन्धी विषयों में न जाकर स्व–शुद्ध–स्वरूप में स्थित रहना, उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट स्व–शुद्धात्मानन्द–स्वरूप सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

३५. अनादि पारिणामिक स्वभाव से शाश्वत चैतन्य में चित्त का रम जाना; उत्तम ब्रह्मचर्य है। उससे प्रकट शाश्वत चैतन्य सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

निश्चय–व्यवहार ब्रह्मचर्य– निश्चय ब्रह्मचर्य का दिग्दर्शक, व्यवहार ब्रह्मचर्य है। अत: उसका प्रतिपादन आगम में किया गया है।

जो पुरुष, स्त्री–विषयक भावों का नौ कोटि से त्यागकर, निज आत्म–स्वरूप के अभिमुख

रहता है, उसे व्यवहाररूप उत्तम ब्रह्मचर्य–व्रत होता है।

ब्रह्मचर्य–व्रत का पालन श्रावकधर्म में अणुव्रतरूप और मुनिधर्म में महाव्रतरूप किया जाता है।

ब्रह्मचर्य व्रत का धारक पुरुष; स्त्रियों के शरीर को रूधिर–राध–मल की थैली सदृश अशुचि समझकर, उनसे विरक्त रहता है। स्त्रियाँ दो प्रकार की होती हैं– १. चेतन स्त्री, २. अचेतन स्त्री। चेतन स्त्री तीन प्रकार की होती हैं– १. देवी, २. मनुष्यणी, ३. तिर्यञ्चनी। अचेतन स्त्री चार प्रकार की होती हैं– १. चित्र, २. काष्ठ, ३. पाषाण और ४. धातु आदि की। उनका नौ कोटि से त्यागकर, निज शुद्ध आत्मस्वरूप–पर्याय में मग्नता; उत्तम बह्मचर्य है।

भगवती आराधना के अनुसार ब्रह्मचर्य–व्रत का निरतिचार पालन और ब्रह्मचर्यधर्म की वृद्धि हेतु निम्नोक्त दस प्रकार के विकारों का त्याग करना अत्यावश्यक है–

विषयाभिलाषा– स्त्री–सम्बन्धी विषयों की अभिलाषा का त्याग करना।

उपस्थ इन्द्रियविमुक्त– उपस्थ इन्द्रिय–विकार का त्याग करना।

वृष्येष्टरस– बल, वीर्यवर्धक, इष्ट रस सेवन करने का त्याग करना।

संसक्त–द्रव्यसेवा– स्त्री का स्पर्श, उससे स्पर्शित शय्या–आसन का त्याग करना।

तन–मनोहराङ्ग निरीक्षण– स्त्री के मनोहर अङ्गों को न देखना, न तत् सम्बन्धी मनोहरता, सुखदता का विचार करना।

स्त्री–सत्कार– स्त्रियों के सत्कार करना–कराने का त्याग करना।

स्त्री–सम्मान– स्त्रियों को वस्त्र आदि भेंट कर, सम्मान करने का त्याग करना।

अतीत–स्मरण– स्त्री–विषयक, अतीत में भोगे हुए भोगों के स्मरण का त्याग करना।

अनागत स्त्री–विषयक भोगाभिलाषा– भविष्य में स्त्री के साथ क्रीड़ा करने की अभिलाषा का त्याग करना।

इष्ट–विषयसेवा– मनोवाञ्छित भोगोपभोग सेवन करने का त्याग करना।[१]

इस प्रकार अब्रह्म के दस दोषों से रहित ब्रह्मचर्य–व्रत का पालन करने से उत्तम ब्रह्मचर्य व्रत होता है। उससे प्रकट पूर्वोक्त सर्व विकार–शून्य ब्रह्ममयी शुद्धात्म–स्वरूप का सुखरस; उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है।

मोक्षमार्ग में ब्रह्मचर्य का पालन उपस्थ–इन्द्रियमात्र के विषयसेवन का ही त्याग नहीं; अपितु पाँचों इन्द्रियों के विषय–सेवन का त्याग किया जाता है। पाँचों इन्द्रियों के विषय

१. भगवती आराधना ८७९–८८१ तक।

अब्रह्म–स्वरूप होने से उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म के घातक हैं। हिंसा आदि पाँचों पाप अब्रह्म–स्वरूप हैं। अत: इनके त्याग करने से उत्तम ब्रह्मचर्य–व्रत का पालन और उससे उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म की सुखानुभूति होती है।

ब्रह्मचर्य का अपर नाम 'शील' है। शील से तप–दर्शन–ज्ञान शुद्ध होता है। शील इन्द्रिय–विषयों का शस्त्र और मोक्ष का सोपान है।[१]

ब्रह्मचर्य की महिमा– कर्म–शत्रुओं के संहार को ब्रह्मचर्य असि–धार है। जैसे, योद्धा असिधार (तलवार की धार) से अनेक शत्रुओं का संहार करता है; किन्तु असिधार पर कोई अन्तर नहीं पड़ता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य, अनेक कर्म–शत्रुओं का क्षय करता है। किन्तु ब्रह्मचर्यधर्म में अन्तर नहीं पड़ता है; अपितु आत्मानुभूतिमय परम आनन्द स्वरूप सुखरस प्रगाढ़ हो जाता है। ब्रह्मचर्य से आत्मा, निरञ्जन, निर्विकार, विज्ञानघन, चित्–चमत्कार, वीतराग, निर्विकल्प हो जाता है। ब्रह्मचर्यधर्म; आरोग्य, उदारता, धीरता, गम्भीरता आदि अनेक आत्म–गुणवर्धक है। ब्रह्मचर्यधर्मी को मुक्ति–सुन्दरी स्वयमेव वरण करती है।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म का अपर नाम 'शील' है। शील से सुख प्राप्त होता है। इसलिए शीलव्रत श्रेष्ठ है।

शील से स्त्रियाँ सुशोभित होती हैं, सुगुणों की प्राप्ति, समस्त सम्पत्तियों की प्राप्ति होती है; अत: शील से श्रेष्ठ दूसरा व्रत नहीं है।[२]

शीलरूपी आभूषण से युक्त पुरुष को जिनेन्द्र भगवान की लक्ष्मी सहित तीनों लोकों की लक्ष्मी आकर स्वयं वरण कर लेती है तथा मुक्ति–लक्ष्मी बार–बार अवलोकन करती है।[३]

हे भव्य शील के प्रभाव से स्वर्गों में इन्द्रों के आसन कम्पायमान हो जाते हैं एवं देवता आकर किङ्करों की तरह शीलवानों के चरणों में सेवा करते हैं।[४]

विद्या, तप, धन, शूरवीरता, कुलीनता, निरोगता, राज्य स्वर्ग–मोक्ष सब कुछ शील धर्म से प्राप्त होता है। इसलिए धर्माचरण करना चाहिए।[५]

---

१. सीलं तवो विसुद्धि दंसण सुद्धीय णाण सुद्धीय।
सीलं विसयाण अरि शीलं मोक्खस्स सोपाणं।।२०।।शी.पा.

२. द.ध.स्क. पृ. १८५

३. शीलाभरण–युक्तांश्च त्रिजगच्छ्री: स्वयं मुदा।
व्रणोत्येत्य जिनश्रीश्च मुक्तिरालोकते मुहु:।।द.ध.स्क. पृ. १८५

४. प्रकम्पते सुरेशगणां शीलेनात्रासनानि भो:।
किङ्करा इव सेवन्ते पादान् शील जुषां सुरा:।।द.ध.स्क. पृ. १८५

५. विद्या–तपो–धनं–शौर्यं, कुलीनत्वमरोगता।
राज्यं, स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वं धर्मादवाप्यते।।द.ध.स्क. पृ. १८५

अब यहाँ ब्रह्मचर्यधर्म घातक अब्रह्म का स्वरूप, भेदों और शमन के उपायों पर विचार किया जाता है।

अब्रह्म

जीव का ब्रह्मस्वरूप स्व शुद्धात्मा से विमुख रह, पर–द्रव्य एवं पर–भावों की सुखद प्रतीति और आत्म–हित की बुद्धि; अब्रह्म है।

अब्रह्म का अर्थ है– अशुद्ध आत्मा। अब्रह्म की उत्पत्ति; पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रह, अव्रतियों की सङ्गति में रहना और उनकी प्रशंसा करना आदि अनेक कारणों से होती है।

अब्रह्म; मुख्यरूप से मानसिक विकार है, उससे शारीरिक विकाररूप अब्रह्म होता है। अब्रह्म–भाव की उत्पत्ति लौकिक, अलौकिक/पारलौकिक ब्रह्मचर्य का घातक है। अब्रह्म से चित्त भ्रमित और क्षुब्ध होकर पाँचों पापों और सातों व्यसनों में लिप्त हो जाता है।

अब्रह्म–भाव के अनेक कारण हैं। यथा; पर–स्त्री एवं दुराचारिणी स्त्रियों के साथ बैठना, उनके रूप की प्रशंसा करना, उनके साथ हास्य मनोविनोद करना, उनका सत्कार करना, अपनी ओर आकृष्ट करना, उनका वित्त (धन) आदि से सहयोग करना, उन्हें प्रेम–जाल में फाँसना, उनके साथ अनङ्ग क्रीड़ा करना, उनके शरीर की लावण्यता निहारना, मधुर वार्तालाप करना, उनके चित्र आदि देखकर मोहित/प्रसन्न होना, उनकी ओर आकृष्ट होना तथा काम–भोग के विचार आना– ये सभी कारण अब्रह्म उत्पन्न करने के हैं।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म–घातक अभ्यन्तर कारण पर गुण–पर्यायों में लीनता है और बाह्य साधनभूत कारण अनेक हैं। यथा– लौकिकजन–संसर्ग, स्त्री–संसर्ग, इन्द्रिय–विषय, मन, मैथुन, अव्रत, विभावभाव आदि रूप प्रवर्तन करने से अब्रह्म की उत्पत्ति होती है। उससे उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म का घात होता है।

लौकिकजन संसर्गरूप अब्रह्म– लौकिक जनों के संसर्ग से मन का प्रभावित होना स्वाभाविक है। जैसे लहसुन के संसर्ग से केसर भी सुगन्ध को छोड़कर दुर्गन्धित हो जाती है, वैसे ही लौकिक जनों के संसर्ग से संयत भी असंयत हो जाता है। उसकी मन–वचन–काय की प्रवृत्ति सांसारिक और अब्रह्म–पोषक हो जाती है; चित्त, चञ्चल हो जाता है। मन की व्यग्रता बढ़ जाती है। उससे पर द्रव्य और पर भावों में रमणरूप अब्रह्म होता है। अब्रह्मचारी

चार प्रकार की विकथाओं में मग्न रह, अब्रह्म सेवन करता है। उससे उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म का घात होता है।

लौकिक संसर्गरूप अब्रह्म की निवृत्ति और उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

लौकिकजनों का संसर्ग करने से सद्गुणों का लोप और दुर्गुणों का आविर्भाव/प्रकटता होती है। हे श्रमण! यदि तुम दुःखों से परिमुक्त होना चाहते हो तो लौकिक जनों का संसर्ग छोड़कर, अपने से अधिक गुणवन्त श्रमण के सङ्घ का या समान गुणधर्मी श्रमण की सङ्गति करो।[१]

सम्पूर्ण ब्रह्मचर्यधर्म की प्राप्ति के लिए वीतरागी निर्ग्रन्थ मुनि भगवन्तों का समागम करना चाहिए। लौकिक जनों का संसर्ग तो हलाहल विष–तुल्य जान कर, जीव को ज्ञानवृद्ध, वयवृद्ध वीतरागी गुरुओं की आज्ञानुसार प्रवर्तन कर, अलौकिक संसर्गरूप निज उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

लौकिकजनों का संसर्ग अग्नि के समान दाहक और शव के समान अपवित्र है। जैसे अग्नि के संसर्ग से शीतल जल भी उष्ण हो जाता है, शव के संसर्ग से बहुमूल्य, पवित्र माला भी निर्मूल्य, अपवित्र हो जाती है; वैसे ही लौकिक जनों के संसर्ग से ब्रह्मचर्य धारक का शान्त चित्त भी अशान्त, कषायरूप उष्ण हो जाता है। ब्रह्मचर्यधर्म–धारक पवित्र शुद्धात्मा भी अब्रह्म–सेवी, अपवित्र हो जाता है।

तरुण जनों का संसर्ग अब्रह्मरूप कीचड़ पैदा करता है। तरुणों का संसर्ग, मद्यपान करने वाले व्यक्ति की सङ्गति की भाँति है। जैसे मद्य पीने वालों की सङ्गति से मद्य न पीने वाले को भी मद्य पीने का भाव जागृत हो जाता है और पीने भी लग जाता है। वैसे ही तरुण जनों/अब्रह्म–सेवियों की सङ्गति से ब्रह्मचारी को भी अब्रह्म सेवन करने का भाव एवं अब्रह्मरूप प्रवर्तन होने लग जाता है।

व्यक्ति; गुणीजनों का संसर्ग करने से समस्त दुर्गुणों से मुक्त हो जाता है। जैसे कतक फल या स्फटिका के संसर्ग से मलिन जल भी मलों से मुक्त होकर, निर्मल हो जाता है। वैसे ही वीतरागी मुनि भगवन्तों के संसर्ग से आत्मा; मोह–राग–द्वेषरूप मलों से मुक्त हो निर्मोही, वीतराग, विज्ञानमयी परम पवित्र हो जाता है।

१. तम्हा समं गुणादो समणो समण गुणेहिं वा अहियं।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्ख– परिमोक्खं।।प्र.सा. २७०।।

स्त्री–संसर्गरूप अब्रह्म– स्त्रियों का संसर्ग, उनकी रागोत्पादक वार्ता करना, कामोत्पादक अङ्गों को निहारना, भोगे हुये भोगों का स्मरण, वृष्य–इष्ट रसों का सेवन, आहार के उपरान्त बैठकर सांसारिक वार्तालाप, मनोविनोद, भोजन एवं भोजन बनाने वालों की प्रशंसा करना, स्त्रियों के साथ एक ही आसन–पाटे पर बैठना आदि प्रवृत्ति से पुरुष का मन अग्नि के समीप रखे घृत की भाँति पिघल जाता है। स्त्रियों के साथ सहवास से मन मोहित हो जाता है। शील भङ्ग हो जाता है। माता, पुत्री, भगिनि का भी एकान्त आश्रय पाकर मनुष्य का मन कामातुर हो जाता है। अन्य का तो कहना ही क्या है।[१] तिर्यञ्च, नपुंसक और कामिनी की सङ्गति से उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म का घात होता है।

जिनागम में तो मुनियों को आर्यिकाओं की सङ्गति का भी निषेध किया गया है। मुनि; जगत्–पूज्य, वृद्ध, तपस्वी होने पर भी आर्यिकाओं के संसर्ग से लोक–निन्द्य होता है तथा कफ में फँसी मक्खी की भाँति उससे निकल नहीं पाता है। स्त्री का रूप देखने को साधु भी कामातुर हो जाता है, पुत्रों का जनक बना है। कन्या, तरुणी, विधवा, रानी, विलासिनी, स्वेच्छाचारिणी तथा शिक्षा–दीक्षा को स्वीकार करने की उद्यमी स्त्रियों के साथ भी लौकिक वार्तालाप करने[२] से उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म का घात होता है।

स्त्री–संसर्गरूप अब्रह्म की निवृत्ति और उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

आगम में तो आर्यिकाओं को आचार्य से पाँच हाथ, उपाध्याय से छह हाथ और साधु से सात हाथ दूर रहकर, नमस्कार करने का विधान है। तब फिर अन्य स्त्रियों की समीपता का तो सहज ही निषेध हो गया। स्त्री–पर्याय में माया कषाय की बहुलता पायी जाती है।

अत: स्त्रियों की सङ्गति का त्यागकर, स्व शुद्धात्म–परिणति के साथ रह उत्तम ब्रह्मचर्य–धर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

मनुष्य को स्त्री के प्रति राग की प्रबलता होने से वह पागल/मदोन्मत्त हाथी की भाँति प्रवर्तन करता है। पर–स्त्री के प्रति राग से राजदण्ड, वध–बन्धन, गुप्त अङ्गों का छेदन–भेदन, धन–सम्पत्ति का छीना जाना आदि अनेक प्रकार के दु:ख तो इसी भव में भुगतना पड़ते हैं और मरणकर दुर्गति में जन्म होता है।

१. भ.आ. १०९२ से ११०२ श्लोक तक।

२. मूलाचार १७७ से १८५ श्लोक तक।

स्त्री, स्वयं को और पुरुषों को कामादि दोषों से दूषित करती है। वह अपने रूप–लावण्य और मधुर सम्भाषण से अपनी ओर आकृष्ट करती है। 'भगवती आराधना' में आचार्यदेव ने स्त्री को अनेक नामों से अभिहित किया है। यथा– पुरुष का वध करने से वधू, मनुष्य की अद्वितीय शत्रु होने से नारी, प्रमत्त करने से प्रमदा, मनुष्य के हृदय में विलय हो जाने से विलया, मनुष्य के हृदय को युवा करने से युवती, दुःखों से युक्त करने से योषा, बलहीन करने से अबला, कामसेवन करने को अधीर करने से अधीरा, कुमरण का उपाय उत्पन्न करने से कुमारी, दोषारोपण करने से विदूषी, राग/प्रेम–जाल में फँसाने से प्रेमिका एवं मस्तानी होने से महिला आदि नामों से सम्बोधन किया गया है। अतः सर्व प्रकार की स्त्रियों का परित्याग कर, स्व चित्परिणति स्वरूप निज उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म में निमग्न रहना/रखना श्रेयस्कर है।

इन्द्रियरूप अब्रह्म– जीव; वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से और आङ्गोपाङ्ग नामकर्म के आलम्बन से पदार्थ के मुख्यतः जिस गुण–धर्म का ज्ञान करता है, उसे उस प्रकार की इन्द्रिय कहते हैं। यथा; जीव जिसके द्वारा स्पर्श का ज्ञान करता है; वह स्पर्शन इन्द्रिय, स्वाद का ज्ञान करता है वह रसनाइन्द्रिय, गन्ध का ज्ञान करता है; वह घ्राण–इन्द्रिय, पदार्थ के वर्ण का ज्ञान करता है वह चक्षु–इन्द्रिय, शब्द का ज्ञान करता है वह श्रोत इन्द्रिय है। चक्षु–इन्द्रिय अप्राप्यकारी है, शेष इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं–

इन्द्रियाँ द्रव्य और भाव की अपेक्षा दो प्रकार की हैं– द्रव्येन्द्रिय; और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय–निर्वृत्ति और उपकरण के भेद से दो प्रकार की है। आङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से होने वाली रचनाविशेष को निर्वृत्ति और निर्वृत्ति की सहायक को उपकरण कहते हैं। निर्वृत्ति दो प्रकार की है– पुद्गल परमाणुओं का इन्द्रियाकार होना; बाह्य निर्वृत्ति है और आत्म–प्रदेशों का इन्द्रियाकार होना; अभ्यन्तर निर्वृत्ति है।

लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं। ज्ञानावरण–कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में जानने की शक्ति प्रकट होती है, वह लब्धि है और लब्धि के होने पर आत्मा ज्ञेय पदार्थ के प्रति अभिमुख होता है, वह उपयोग है। उपयोग; आत्मा का लक्षण है।

इन्द्रियों का व्यापार स्व–शुद्धात्मा को न जाने–देखे और अनात्मा को रुचि से जाने–देखे, उसी में सुखानुभूति माने वह इन्द्रियरूप अब्रह्म है। उससे उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म का घात होता है।

इन्द्रियरूप अब्रह्म की निवृत्ति और उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

इन्द्रियाँ जीव की अवस्था का पहचान कराती हैं। इन्द्रियाँ जीव का स्वभाव नहीं है। अत: जीव को इन्द्रियों और इन्द्रिय–ज्ञान से पृथक् अतीन्द्रिय ज्ञान से स्व–शुद्धात्म–स्वभाव की आराधनापूर्वक परमानन्द–स्वरूप निज उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

स्पर्शन–इन्द्रियरूप अब्रह्म– बाह्य–अभ्यन्तर के निमित्त से जिस इन्द्रिय के द्वारा स्पर्श के आठ भेदों में से किसी एक या अनेक भेदों/विषयों में सुखानुभूति का ज्ञान होता है, वह स्पर्शन इन्द्रिय है। स्पर्शन इन्द्रिय का विषय– स्पर्श की कल्पना करना; स्पर्शन–इन्द्रिय सम्बन्धी अब्रह्म है। अथवा स्त्री को स्पर्श कर, रतिभाव होना स्पर्शन–इन्द्रिय सम्बन्धी अब्रह्म है। देवों में सौधर्म और ईशान स्वर्ग के देव; देवाङ्गनाओं के स्पर्श से कामरूप रतिभाव का वेदन करते हैं। मनुष्य; स्त्रियों के स्पर्श से काम–सेवन कर, सुख मानते हैं। जो कि स्पर्शन–इन्द्रिय सम्बन्धी अब्रह्म है। उससे उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म का घात होता है।

स्पर्शन–इन्द्रियरूप अब्रह्म की निवृत्ति और उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

स्पर्शन–इन्द्रिय का विषय– पुद्गल के स्पर्श–गुण का ज्ञान करना है, उसकी सुखानुभूति का संवेदन करना नहीं।

स्पर्श के आठों भेद पौद्गलिक हैं, चेतन आत्मा के नहीं, चेतन–आत्मा; ज्ञानस्वभावी है। वह पुद्गल के धर्मों को जानता है। भोक्ता नहीं है। पौद्गलिक पदार्थों के ज्ञातृत्व और अभोक्तृत्व भाव के बल से जीव को अस्पर्श–स्वरूप निज उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

रसना–इन्द्रियरूप अब्रह्म– बाह्य–अभ्यन्तर के निमित्त से जिस इन्द्रिय के द्वारा रस का ज्ञान होता है, वह रसना–इन्द्रिय है। रसना–इन्द्रिय के द्वारा दूध, दही, घृत, तेल, गुड़, नमक और कटु, तिक्त, कषैला, मधुर, अम्ल, क्षार– इन रसों का स्वाद के हेतु लेना या मात्र–प्रमाण से हीना–अधिक स्वयं लेना, दूसरों को देना, दिलाना; रसना–इन्द्रिय सम्बन्धी अब्रह्म है।

शरीर–पोषणार्थ, बल–वीर्य–वर्धक वृष्येष्ट भोजन/आहार करना, वृष्येष्ट भोजन के लाभ दिखाकर दूसरों को सेवन करने की प्रेरणा देना, सेवन करने के उपाय सिखाना, इससे उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म का घात होता है।

सरस आहार/भोजन के स्वाद की रुचि से विषयों में आसक्ति बढ़ जाती है। शरीर में प्रमाद, आलस्य, निद्रा, शरीर की प्रीति, मैथुन की इच्छा प्रबल हो जाती है। लौकिक में

प्रचलित है– वृष्येष्ट रस के सेवन का प्रभाव किसी कवि ने लिखा है–

कंकर–पत्थर जो भखें, तिन्हें सतावे काम।
हलुआ–पूड़ी जो भखें, उनकी जाने राम।।

वृष्येष्ट रसों के सेवन से विषयों के सेवन की रुचि; कफ, श्वांस–कास, पित्त–कफ का उद्रेक, कृमिरोग आदि शरीर में प्रकट हो जाते हैं। सेवन करने वाले को भक्ष्य–अभक्ष्य का, आत्महित का विवेक नहीं रहता है। प्रमाण से अधिक भोजन करने से शरीर में मदहोशी आती है, ज्ञान–ज्योति अस्त हो जाती है। उससे उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म का घात होता है।

रसना इन्द्रियरूप अब्रह्म की निवृत्ति और उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

छह रसों के आस्वादन का त्यागकर, शरीर को स्वस्थ रखने हेतु आहार; क्षुधा के शमनार्थ, औषध–प्रमाण लेना चाहिए, हीनाधिक नहीं। ब्रह्मचर्यधर्म के साधनार्थ यथायोग्य एक, दो, तीन, चार, पाँच या छहों रसों के स्वाद की रुचि को विष–तुल्य समझकर उनकी रुचि का त्याग करना और नीरस आहार का सेवन करना उत्तम है। रस–परित्याग करने से इन्द्रियों के दर्प का निग्रह, निद्रा–विजय, सहज आत्मलीनता, जितेन्द्रियत्व होता है। अत: जीव को इन्द्रिय–रसास्वादन का परित्याग कर, अरस–स्वरूप निज उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

घ्राण–इन्द्रियरूप अब्रह्म– बाह्य–अभ्यन्तर के निमित्त से जिसके द्वारा गन्ध का ज्ञान होता है, वह घ्राण–इन्द्रिय है। घ्राण–इन्द्रिय की गन्ध–विषयक रुचि घ्राण इन्द्रिय सम्बन्धी अब्रह्म है। तिर्यञ्च–मादा द्वारा छोड़ा गया स्राव–विशेष, उसकी गन्ध से तिर्यञ्च–नर उसे खोज कर काम–क्रीड़ा करता है। मनुष्य; सुगन्धित द्रव्य; तेल, इत्र आदि का शरीर पर लेपन कर, क्रीड़ा–स्थल पर, सुगन्धित पुष्प–बिखेरकर, उसकी सुगन्ध से आसक्त हो काम–क्रीड़ा करता है। सुगन्धित द्रव्यों का शरीर पर लेपन करना; अब्रह्म का जनक एवं परिचायक है। मनुष्य; सुगन्धित द्रव्यों का लेपन/उपयोग काम की रुचि को प्रबल बनाये रखने और दूसरों को कामार्थ अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए करता है। शरीर के शृंगारार्थ सुगन्धित द्रव्यों के उपयोग करने की रुचि से उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म का घात होता है।

घ्राण–इन्द्रियरूप अब्रह्म की निवृत्ति और उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीव; बाह्य पदार्थों की सुगन्ध से उन्मत्त हो कामकीड़ा की ओर प्रवर्तन करता है।

घ्राण–इन्द्रिय सम्बन्धी विषय/अब्रह्म में आसक्त भ्रमर; शक्तिवान् होने पर भी कमल के अन्दर बैठा रहकर अपने प्राण गँवा देता है। घ्राण–इन्द्रिय जागृत अवस्था में काम करती है, सुप्त अवस्था में नहीं। आत्मा; ज्ञान–स्वभावी है। इसलिए वह गन्ध का ज्ञाता है, भोक्ता नहीं है। अत: जीव को सुगन्धित पदार्थों के संयोग होने पर उनमें राग न कर स्व–शील–स्वभाव के बल से अगन्ध–स्वरूप निज उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

चक्षु–इन्द्रियरूप अब्रह्म– बाह्य–अभ्यन्तर के निमित्त से जिसके द्वारा वर्ण का ज्ञान हो वह चक्षु इन्द्रिय है। चक्षु द्वारा काला–पीला–नीला–लाल और श्वेत वर्णों का पृथक्–पृथक् या ऐच्छिक अनेक वर्णों का व्यवस्थित देखने–दिखाने और देखते हुए की अनुमोदना करना/चक्षु–इन्द्रिय सम्बन्धी अब्रह्म है। जीव का रूप, रङ्ग, चित्र आदि पर आकृष्ट हो एकाग्रता से देखते रहना, पुन: मिलने/पाने की इच्छा का होना, शरीर के कामोत्पादक सङ्केतों के माध्यम से रतिभाव का जागृत होना, चक्षु–इन्द्रिय सम्बन्धी अब्रह्म है। देवों में ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ट स्वर्ग के देव अपनी देवांगनाओं के रूप, लालित्य हाव–भाव देखकर, प्रवीचार (कामसेवन) करते हैं। अत: शारीरिक रूप–लावण्य पर आकृष्ट होने से उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म का घात होता है।

चक्षु–इन्द्रियरूप अब्रह्म की निवृत्ति और उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

पौद्गलिक पञ्च वर्णों के देखने में सुख नहीं है। जीव; पुद्गल के धर्मों का ज्ञाता तो है, भोक्ता नहीं। चक्षु–इन्द्रिय अप्राप्यकारी है। वह वर्णों की पर्याय को स्पर्श किये बिना ही दूर से देखती है। अत: जीव को पदार्थों को देखने की रुचि का त्याग कर, अवर्ण–स्वरूप निज उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

श्रोत्र–इन्द्रियरूप अब्रह्म– बाह्य–अभ्यन्तर के निमित्त से जिसके द्वारा श्रवण किया जाता है, वह श्रोत्र–इन्द्रिय है। श्रोत्र–इन्द्रिय के द्वारा शब्द, ध्वनि का ज्ञान होता है। ध्वनि भाषात्मक और अभाषात्मक होती है। श्रोत्र–इन्द्रिय के द्वारा राग–वर्धक शब्दों को, सात सुरों के आरोह–अवरोह के श्रवण में मग्नता का होना, व्यक्ति–विशेष को या अन्य जनसमूह को अपना मधुर कण्ठ उपभोग को देना अर्थात् सुनाना या दूसरों के मधुर कण्ठ का उपभोग करना अर्थात् सुनना, राग के वशीभूत अपने स्नेहीजनों से काम–उत्पादक वार्ता करना, श्रोत्र–इन्द्रिय सम्बन्धी अब्रह्म है। उससे उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म का घात होता है।

श्रोत्र–इन्द्रियरूप अब्रह्म की निवृत्ति और उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए–

शब्द; पुद्गल की पर्याय है। उसके ज्ञानमात्र से नहीं; अपितु उसमें कामरूप राग करने या सुख मानने से अब्रह्म होता है। शब्दों के ग्रहण करने का प्रयोजन तो नौ तत्त्वों में विलीन निज शुद्धात्म–तत्त्व को समझना है। स्व शुद्धात्म–तत्त्व ही उपादेय है।

मनुष्य; स्त्री के मधुर सम्भाषण से कामासक्त होते–ही–होते हैं। शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार स्वर्ग के देव अपनी देवाङ्गनाओं के मधुर, शब्दों के श्रवणमात्र से काम–सेवन कर तृप्त होते हैं। अत: जीव को श्रोत्र–इन्द्रिय जय कर, अशब्द–स्वरूप निज उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

मनरूप अब्रह्म– मनन का नाम मन है। मन दो प्रकार का है– द्रव्यमन और भावमन। पुद्गल विपाकी नामकर्म के उदय से हृदय–स्थल में अष्ट पङ्खुड़ी की कमलाकार संरचना; द्रव्यमन है। वीर्यान्तराय और नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाली आत्म–विशुद्धि, भावमन है।

मनुष्य; सङ्कल्प–विकल्प, विचार, चिन्तवन, मनन, आत्महित–अहित का ज्ञान करता है। वह सब मन की क्रियाएँ हैं। मन के द्वारा पूर्वकालीन सुने, देखे और अनुभूत कामभोगों का स्मरण, चिन्तवन करना और भविष्य काल में काम–भोग की इच्छा रखना; मन सम्बन्धी अब्रह्म है। देवों में आनत, प्राणत, आरण, अच्युत स्वर्ग के देव; अपनी देवाङ्गनाओं का मन से कामसेवन करते हैं। मनुष्य; स्त्री के मनोहर रूप का सङ्कल्प–विकल्प कर, मनन चिन्तवन कर, कामासक्त हो अब्रह्मरूप प्रवर्तन करते हैं। मनुष्य; स्वप्नावस्था में मुख्यरूप से मन से ही कामसेवन करता है और उसे शारीरिक कामसेवन जैसी ही कामानुभूति होती है। उसके वीर्य का क्षरण भी हो जाता है। व्यक्ति; अपने घरों में सुन्दर स्त्रियों के चित्रपट रखकर/दीवार पर लगाकर उन्हें देखता है और कामानुभूति करता है। व्यक्ति; किसी स्त्री–विशेष पर कामासक्त हो जाये और वह उसके साथ कामसेवन न कर सके तो वह, काम–ज्वर से पीड़ित हो जाता है। उसका चित्त विक्षिप्त हो जाता है। उससे उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म का घात होता है।

मनरूप अब्रह्म की निवृत्ति और उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

मन का कार्य; गुण–दोषों का और हित–अहित का विचार और मनन करना है। काम–भोग के सङ्कल्प–विकल्प आत्मब्रह्म–स्वभाव के घातक हैं, दु:खरूप हैं, दु:ख के कारण हैं। इनका त्याग करना ही श्रेष्ठ कार्य है। जीव तो इन्द्रिय और अनिन्द्रय रहित है। जीव को स्व शुद्धात्म–स्वरूप का मनन–चिन्तवन करना ही हित–स्वरूप है। इसी में सुख है। अत: जीव को स्व शुद्धात्म परिणति में मग्नता/रमणतारूप निज उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

मैथुनरूप अब्रह्म– स्त्री–पुरुष का परस्पर में रतिभाव से, काम के अङ्गों से या अनङ्गों से क्रीड़ा करना मैथुनरूप अब्रह्म है। जीव का यह काषायिक भाव है। इससे जीव; भ्रमित होकर, पाँचों पापों और सप्त व्यसनों में प्रवर्तन करता है तथा दुराचारी, कामी, भोगी जनों की सङ्गति, धनाढ्य पुरुषों की सेवा और बिना प्रयोजन भ्रमण करने लगता है।

मैथुन करने में असंख्यात सूक्ष्म जीवों का घात होता है। एक बार के मैथुन से गर्भाशय में लगभग नौ लाख सम्मूर्च्छन मनुष्य जाति के जीवों की उत्पत्ति होती है। उनमें से एक या दो जीव ही जीवित रहते हैं, शेष सभी का मरण हो जाता है। योनिद्वार में असंख्यात जीवों का मरण उपस्थ–इन्द्रिय के घर्षण से हो जाता है। अनङ्ग क्रीड़ा, हस्त–मैथुन के विचारों से स्त्री–पुरुष दोनों को ही काम–क्रीड़ा जैसी ही अनुभूति प्रतिभासित होती है। उससे उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म का घात होता है।

मैथुनरूप अब्रह्म की निवृत्ति और उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

यह शरीर अशुचि पदार्थों का पिण्ड है। मल–मूत्र से भरा हुआ चर्म का थैला है। व्यक्ति को असंयमी, कामीजनों और स्त्रियों की सङ्गति त्याग कर ब्रह्मचारी, ज्ञानवृद्ध, वयवृद्ध जनों का या मुनि भगवन्तों का समागम करना ही हितकर है। जीव का स्वभाव ब्रह्मरूप, चार संज्ञाओं से रहित, पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषयों से परे है। जीव; स्व–स्वभाव में रमने वाला, भगवान् आत्मा है। वह पर–द्रव्य–परभावों से सर्वथा भिन्न, परिपूर्ण आदि–अन्त रहित काम आदि के सङ्कल्प–विकल्पों से मुक्त शुद्धात्मा है।[१] अत: जीव को स्व शुद्धात्म–स्वभाव के आश्रय से व्रतों की रक्षा कर, ब्रह्मस्वरूप निज उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

१. स.सा. १० आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्ण–माद्यन्त विमुक्तमेकम्

अव्रतरूप अब्रह्म– वीतराग–निर्ग्रन्थ गुरु की साक्षी में प्रतिज्ञापूर्वक पाँचों पापों से विरक्त होने की प्रतिज्ञा न लेना; अव्रतरूप अब्रह्म है। उससे हिताहित, करणीय–अकरणीय का विवेक न रखना, व्रतों का पालन न करना, व्रत–समिति–गुप्ति, पञ्चाचार के पालन में शिथिलता होना; अभक्ष्य, अनुपसेव्य, कामोत्पादक पदार्थों का स्वयं तो त्याग किया; किन्तु अन्य जनों को उनके सेवन का उपदेश एवं अनुमोदना करना; अव्रतरूप अब्रह्म है। उससे उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म का घात होता है।

अव्रतरूप अब्रह्म की निवृत्ति और उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

व्यक्ति को वीतरागी निर्ग्रन्थ गुरु की साक्षी में व्रतों को अङ्गीकार करना, उन्हें नौ कोटि से निर्दोष पालना, निशल्य रह व्रत–समिति–गुप्तियों का पालन कर, व्रतातीत निज उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

विभावभावरूप अब्रह्म– आत्मा के सहज शुद्ध स्वभाव से भिन्न अन्य सभी भावों का होना, विभावभावरूप अब्रह्म है। आत्मा का विभावरूप परिणमन पर के आश्रय से होता है। पर का आश्रय कर्मों का उदय और वस्त्राभूषण आदि बाह्य पदार्थों के आलम्बन लेने से होता है। कर्मोदय–जन्य आश्रय तो मोह–राग–द्वेष आदि भाव और क्रोधादि चार कषायें, हास्यादि नौ नोकषायें हैं। कर्म–सापेक्ष सभी भावों को विभावभाव कहते हैं। विभावभावों में तन्मय होना; विभावभाव अब्रह्म है। उससे उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म का घात होता है।

विभावभावरूप अब्रह्म की निवृत्ति और उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म की प्रवृत्ति के लिए सदैव विचार करना चाहिए कि–

जीव; सब प्रकार के विभावभावों से सर्वथा भिन्न, सहज स्वभाव–भावमयी भगवान् आत्मा है। जीव का स्वभाव स्व–शुद्धात्म–स्वरूप को ग्रहण करने वाला, उसी का कर्त्ता–भोक्ता है और विभाव आदि परभावों का ज्ञाता–दृष्टा है तथा अपने गुणों से सदैव अच्युत रहने वाला है। उसके ध्यान का ध्येय भी स्व–शुद्धात्मा होता है। अत: जीव को उसी की अनुभूति में रमते हुए उत्तम स्व–स्वभावरूप निज ब्रह्मचर्यधर्म में निमग्न रहना श्रेयस्कर है।

उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म का स्वरूप समझकर, सभी आत्माएँ उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म में निमग्न रहें ऐसी मेरी मङ्गल भावना है।

क्षमावाणी–पर्व

क्षमावाणी (क्षमा–वाणी), क्षमा का शाब्दिक है– अप्रतिकार–स्वरूप सहज साम्यभाव। वाणी का शाब्दिक अर्थ है– सरस्वती–स्वरूप (जिनवचन–स्वरूप) प्रशंसात्मक वाचशक्ति। अर्थात् अपराधों का प्रतिकार करने में समर्थ होने पर भी, प्रतिकार करने का भाव उत्पन्न न होना, अपितु जिनवचन स्वरूप मधुर प्रशंसात्मक वचन बोलना क्षमावाणी है।

उत्तम क्षमामय धर्मभावों के साथ आत्मा का वचनालाप करना दो प्रकार का है– एक वृत्तिरूप, एक प्रवृत्तिरूप। अथवा निश्चयात्मक और व्यवहारात्मक है।

निश्चयात्मक वृत्ति–आत्मा की शुद्ध परिणति है और प्रवृत्ति– शुद्ध परिणति का प्रयोगात्मक परिणमन है।

क्षमावाणी पर्व– दशलक्षण धर्म, रत्नत्रय व्रत और सोलह कारण व्रत समापन के दिन मनाया जाता है। दशलक्षण धर्म भाद्रपद शुक्ल पञ्चमी से भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी तक, रत्नत्रय व्रत, भाद्रपद शुक्ल त्रयोदशी से भाद्रपद पूर्णिमा तक और सोलह कारण व्रत श्रावण शुक्ल पूर्णिमा से अश्विन कृष्ण प्रतिपदा तक कुल ३२ दिन तक मनाया जाता है। सोलह कारण व्रत के समापन के दिन अर्थात् अश्विन कृष्ण प्रतिपदा को ही क्षमावाणी पर्व मनाया जाता है। यह पर्व वर्ष में तीन बार आता है; किन्तु भाद्रपद के अन्त में अश्विन कृष्ण प्रतिपदा को मनाने का प्रचलन बहुत है, क्योंकि प्रलयकाल के पश्चात् धर्म आराधन का प्रारम्भ भाद्रपद से होता है।

धर्म और व्रतों की आराधना से आराधक के परिणामों में शुद्धता का विकास होना प्रारम्भ हो जाता है। आराधक स्वयं धर्म और व्रतों का पालन करते हुए धर्ममयी हो जाता है। वह स्वयं की भाँति अन्य सर्व जनों में धर्म–वृद्धि की भावना रखता है।

धर्माराधक स्वयं के निर्विकार, विशुद्ध भावों से सभी जीवों के प्रति उत्तम क्षमाभाव रखता

हुआ सर्व जीवों में क्षमाभाव बने रहने की मङ्गल भावना भाता है। वह सभी मिलने–जुलने वाले, शत्रु–मित्र और व्यावहारिक सम्बन्धियों के प्रति अपने निर्विकार शुद्ध क्षमा भावों को वचनों द्वारा व्यक्त करता है तथा सभी को निर्विकार शुद्ध क्षमाभाव रखने की प्रेरणा देता है। इसलिए जो भी मिलता है उससे बोलता है– उत्तम क्षमाभाव रखना। मिलने वाला भी अपने निर्विकार शुद्ध क्षमाभाव को व्यक्त करता हुआ उत्तम क्षमाभाव रखना बोलता है। यहाँ तक कि दूरवर्ती पारिवारिक सम्बन्धियों एवं स्नेहीजनों को पत्राचार द्वारा उत्तम क्षमाभाव रखने का विनम्र निवेदन करता है।

क्षमावाणी पर्व पर बाल–वृद्ध सभी परस्पर मिलकर एक–दूसरे के प्रति बोलते हैं ''उत्तम क्षमाभाव रखना।'' उत्तम क्षमाभाव का अर्थ है– दशलक्षणमयी धर्म। उत्तम क्षमाभाव में उत्तम मार्दव आदि शेष नौ भावों का समावेश हो जाता है। उत्तम क्षमाभाव से अन्य आत्माओं के प्रति हीनता का भाव नहीं होता है, सभी आत्माएँ सिद्ध सदृश प्रतीत होती हैं, मार्दव भाव प्रकटता है। मार्दवता से भावों में ऋजुता/सरलता प्रकट होती है। सरलता से आत्मा में राग–द्वेष के अभावरूप शुचिता प्रकट होती है। शुचिता/शौच प्रकट होने से निरुपाधिस्वरूप/सत् स्वरूप स्वात्म सत्य प्रकट होता है। सत्य–स्वरूप स्वात्म प्रकटता से आत्म नियन्त्रण रूप आत्म–संयम प्रकट होता है। आत्म–संयम से सांसारिक एवं शारीरिक विषय–भोगों की इच्छा निरोधरूप तप होता है। तप से भोग और भोग–सामग्रियों का परित्याग होता है। त्याग से बाह्याभ्यन्तर भोग और भोग–सामग्रियाँ मेरी नहीं और मैं इनका नहीं हूँ– ऐसे भाव से आकिञ्चन्य स्वरूप प्रकट होता है। आकिञ्चन्य स्वरूप प्रकटता से स्व–शुद्धात्मा में निमग्नता रूप ब्रह्मचर्य प्रकट होता है।

अत: सुस्पष्ट है कि क्षमावाणी पर्व पर 'उत्तम क्षमाभाव रखना' ऐसा बोलने का अर्थ/भाव है कि मैं भी दशलक्षण धर्ममयी हूँ और आप भी दशलक्षण धर्ममयी रहें।

दूसरे शब्दों में,

क्षमावाणी पर्व पर आबाल–गोपाल सभी परस्पर मिलकर, एक–दूसरे के प्रति बोलते हैं ''उत्तम क्षमाभाव रखना''। उत्तम क्षमाभाव में शेष उत्तम मार्दव आदि नौ भावों का समावेश (अन्तर्निहित) है। उत्तम क्षमाभाव की प्रकटता तब होती है जब परिणामों में मृदुता/मार्दवता हो। मार्दवता की प्रकटता तब होती है जब परिणामों में सरलता हो। परिणामों में सरलता तब होती है जब परिणामों में पवित्रता हो। परिणामों में पवित्रता तब होती है जब सत्यस्वरूप स्व शुद्धात्मा का आश्रय हो। स्व शुद्धात्मा का आश्रय तब होता है जब पाँचों इन्द्रियों के विषय–ग्रहण

में संयम/नियन्त्रण हो। संयम तब होता है जब सांसारिक एवं शारीरिक विषय–भोगों की इच्छाओं का निरोधरूप तप हो। तप तब होता है जब बाह्य विषय–भोगों और भोग–सामग्रियों का परित्याग किया हो। त्याग तब होता है जब ऐसा निर्णय हो कि ये भोग एवं भोग सामग्रियाँ मेरी नहीं और मैं भी इनका नहीं हूँ। मैं तो सबसे भिन्न आकिञ्चन स्वरूप हूँ। आकिञ्चन स्वरूप तब होता है जब आत्मा स्वात्म स्वरूप में रमता है।

अत: सुस्पष्ट है कि 'उत्तम क्षमा भाव में शेष नौ भावों का समावेश है।'

धर्म–आराधक के परिणाम सर्व जीवों के प्रति साम्य–स्वरूप होने से राग–द्वेष आदि विकारी भावों का अभाव और वीतराग भावों की सम्वृद्धि होती जाती है। वह सर्व जीवों को उत्तम क्षमा आदि भाव–स्वरूपी, शुद्ध–बुद्ध, सुख–सम्पन्न, ज्ञायक भगवान् आत्मा जानता–मानता है।

व्यवहार दृष्टि से मेरे द्वारा ज्ञात–अज्ञात कोई भी प्रवृत्ति हुई हो तो उसे आप अपने हृदय से निकाल देना, मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ। मैं भी आपके ज्ञात–अज्ञात दोषों को हृदय से निकालकर आपके प्रति उत्तम क्षमाभाव रखता हूँ। इस प्रकार की उत्तम क्षमाभाव–रूप मङ्गल भावना से सहज ही परस्पर के प्रति होने वाले काषायिक भाव, मनोमालिन्य भावों का अभाव हो जाता है।

क्षमावाणी का सम्यक् स्वरूप समझकर, सभी जीव विकारी–विकल्पों से मुक्त हो, निर्विकल्प, साम्यभावों में अविरल बढ़ते हुए पूर्णता को प्राप्त हों, ऐसी मेरी मङ्गल भावना है।

संदर्भ ग्रंथ एवं संकेत

१.	अनगार धर्मामृत	अ.ध.
२.	अमितगति श्रावकाचार	अ.श्रा.
३.	अष्ट पाहुड़	अ.पा.
४.	इष्टोपदेश	इ.उ.
५.	कषाय पाहुड़	क.पा.
६.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	का.अनु.
७.	कुरल काव्य	कु.का.
८.	गोम्मटसार जीवकाण्ड	गो.जी.
९.	ज्ञानार्णव	ज्ञाना.
१०.	चारित्रसार	चा.सा.
११.	छहढाला	छह.
१२.	तत्त्वार्थ राजवार्तिक	त.रा.वा.
१३.	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश	जै.सि.को.
१४.	तत्त्वार्थ सूत्र	त.सू.
१५.	तत्त्वार्थ सार	त.सार.
१६.	दर्शनपाहुड़	द.पा.
१७.	दशलक्षण धर्म	द.ध.
१८.	दशधर्म प्रवचन	द.ध.प्र.
१९.	दशधर्म स्कन्ध	द.ध.स्क.
२०.	देवशास्त्रगुरु पूजा	
२१.	धर्म के दशलक्षण	ध.द.ल.
२२.	धर्म प्रवचन	ध.प्र.
२३.	धवलाजी	ध.
२४.	नियमसार	नि.सा.
२५.	नियमसार तात्पर्यवृत्ति	नि.सा.ता.वृ.
२६.	नीति वाक्यामृत	नी.वाक्य.
२७.	न्याय सूत्र	न्या.सू.
२८.	पञ्च सङ्ग्रह प्राकृत	प.स.प्रा.
२९.	पद्मनन्दी पञ्च विंशतिका	प.प.वि.
३०.	पञ्चाध्यायी उत्तरार्ध	प.ध.उ.
३१.	परमात्म प्रकाश मूल	प.प्र.
३२.	परमात्म प्रकाश टीका	प्र.प्र.टी.
३३.	बारह भावना	बा.भा.
३४.	पुरुषार्थ सिद्धि उपाय	पु.सि.उ.
३५.	प्रवचनसार मूल	प्र.सा.मू.
३६.	प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति	प्र.सा.ता.वृ.
३७.	बारह अनुप्रेक्षा	बा.अनु.
३८.	भक्तामर स्तोत्र	भ.स्तो.
३९.	भगवती आराधना मूल	भ.आ.मू.
४०.	भगवती आराधना विशेष	भ.आ.वि.
४१.	भावत्रयफल दर्शी	भा.फ.द.
४२.	भाव पाहुड़	भा.पा.
४३.	महापुराण	म.पु.
४४.	मूलाचार मूल	मू.मू.
४५.	मूलाचार टीका	मू.टी.
४६.	मोक्षमार्ग प्रकाशक	मो.मा.प्र.
४७.	योगसार	यो.सा.
४८.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	र.का.श्रा.
४९.	रयणसार	र.सा.
५०.	लिङ्ग पाहुड	लि.पा.
५१.	वृहद द्रव्य सङ्ग्रह	वृ.द्र.सं.
५२.	वैराग्य भावना	वै.भा.
५३.	शील पाहुड	शी.पा.
५४.	श्रावकाचार एक अनुचिन्तन	श्रा.अनु.
५५.	समयसार मूल	स.सा.मू.
५६.	समयसार आत्मख्याति	स.सा.आ.
५७.	समयसार कलश	स.सा.क.
५८.	समयसार तात्पर्यवृति	स.सा.ता.वृ.
५९.	समयसार नाटक	स.सा.ना.
६०.	समाधिशतक	स.श.
६१.	सर्वार्थ सिद्धि	स.सि.
६२.	सामायिक पाठ	सा.पा.
६३.	सिद्ध पूजा	सि.पू.
६४.	स्याद्वाद मञ्जरी	स्या.म.
६५.	पूजन, भजन आदि	